मोक्षमार्गप्रकाशक प्रवचन

द्वितीय-भाग

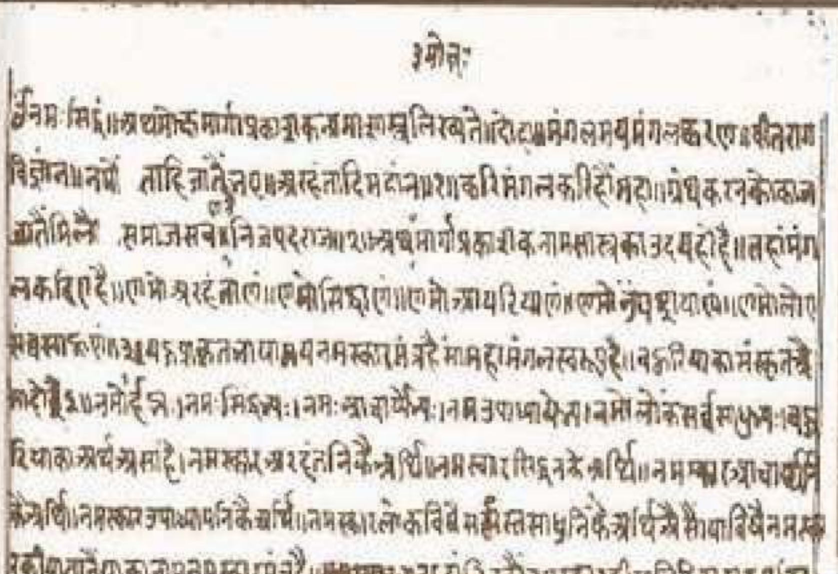

आचार्यकल्प पंडितप्रवर श्री टोडरमलजी

- प्रकाशक -

आचार्य कुन्दकुन्द शिक्षण संस्थान ट्रस्ट

A - 304 पूनम अपार्टमेन्ट्स, वरली, मुम्बई

मोक्षमार्गप्रकाशक
प्रवचन

ॐ

परमात्मने नमः

मोक्षमार्गप्रकाशक प्रवचन

भाग–2

आचार्यकल्प पण्डितप्रवर टोडरमलजी द्वारा रचित मोक्षमार्गप्रकाशक पर हुए पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के गुजराती प्रवचनों का हिन्दी अनुवाद

(**अधिकार** 5 व 6)

प्रस्तावना :

डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल
शास्त्री, न्यायतीर्थ, साहित्यरत्न एम.ए., पीएच.डी., जयपुर (राज.)

सम्पादन :
पण्डित अभयकुमार जैन
जैनदर्शनाचार्य
छिन्दवाड़ा (म.प्र.)

हिन्दी अनुवाद :
पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन
बिजौलियाँ
जिला – भीलवाड़ा (राज.)

प्रकाशक :
आचार्य कुन्दकुन्द शिक्षण संस्थान ट्रस्ट
ए-३०४, पूनम अपार्टमेन्ट,
वरली, मुम्बई - ४०० ०१८

प्रथम संस्करण : २१०० प्रतियाँ
(२१ जुलाई २००१)

द्वितीय संस्करण : ११०० प्रतियाँ

पूज्य गुरुदेव श्री कानजीस्वामी की ११६ वीं जन्म जयन्ती के अवसर पर
दि. १ मई, २००५

न्यौछावर राशि : २५ रुपये मात्र

प्राप्ति स्थान

- आचार्य कुन्दकुन्द शिक्षण संस्थान ट्रस्ट
ए- ३०४, पूनम अपार्टमेन्ट,
वरली, मुम्बई- ४०००१८
फोन : २४९२१९६९

- श्री वीतराग- विज्ञान स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट
वीतराग - विज्ञान भवन, पुरानी मण्डी, अजमेर
फोन : २४२९३९७

- श्री टोडरमल स्मारक भवन
ए- ४, बापूनगर, जयपुर- ३०२०१५
फोन : २७०७४५८, २७०५५८१

- पण्डित सदासुख ग्रंथमाला
४६३५/३८डिप्टीगंज, सदर बाजार
दिल्ली- ११०००६
फोन : २३६२७८२५

मुद्रक : इण्डिया बाईण्डिंग हाउस
बी १०/५, मानसरोवर पार्क,
शाहदरा, दिल्ली- ११००३२

प्रकाशकीय

प्राणीमात्र के लिए कल्याणकारी पवित्र दिगम्बर जैनधर्म की मंगलमय प्रभावना एवं उसके प्रचार-प्रसार की आवश्यकता को गहराई से अनुभव करते हुए अजमेर निवासी मुम्बई प्रवासी अध्यात्म रसिक श्री पूनमचन्दजी लुहाड़िया परिवार द्वारा २८ मई १९९५ को श्री वीतराग-विज्ञान शिक्षण प्रशिक्षण शिविर, देवलाली (महाराष्ट्र) के पावन प्रसंग पर अध्यात्म जगत के मूर्धन्य मनीषी बाबू जुगलकिशोरजी 'युगल' कोटा के संरक्षकत्व एवं अन्तर्राष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त विद्वान डॉ. हुकमचन्दजी भारिल्ल के कुशल निर्देशन में, ''आचार्य कुन्दकुन्द शिक्षण संस्थान ट्रस्ट'' की स्थापना की घोषणा की गई। उपस्थित विशाल जनसमूह ने अति उत्साह से इस पवित्र कार्य का हार्दिक अनुमोदन किया। ट्रस्ट का मुख्य कार्यालय मुम्बई में स्थित है एवं इसका रजिस्ट्रेशन करवा लिया गया है।

ट्रस्ट का मुख्य उद्देश्य दिगम्बर जैनधर्म का प्रचार-प्रसार करना है। इस उद्देश्य के प्रति समर्पित कार्यशील उदीयमान विद्वानों को, उनकी आर्थिक कठिनाइयों से मुक्त रखते हुए उन्हें हर संभव दृढ़ता प्रदान करना है, जिससे उनकी सेवा एवं तत्त्व समर्पण की भावना का अधिक से अधिक लाभ समाज को मिल सके।

इसके अतिरिक्त शिक्षण एवं शोधकार्य में निरन्तर रत प्रतिभाशाली विद्वानों का समुचित सम्मान करना भी ट्रस्ट का उद्देश्य है। इस श्रृंखला में अबतक 'जैनश्रमण-स्वरूप और समीक्षा' पर डॉ. योगेश जैन शास्त्री, अलीगंज-एटा को, 'जैन कर्म सिद्धान्ते बन्धमुक्ति प्रक्रिया' पर डॉ. श्रीयांसकुमार सिंघई, जयपुर को, 'महाकवि भूधरदास : एक समालोचनात्मक अध्ययन पर' डॉ. नरेन्द्रकुमार शास्त्री, जयपुर को, 'आ. योगीन्दुदेव का व्यक्तित्व और कर्तृत्व' पर डॉ. सुदीपकुमार शास्त्री, दिल्ली को, 'जैनदर्शन में सम्यग्दर्शन : समालोचनात्मक अध्ययन' पर डॉ. विनोद 'चिन्मय' शास्त्री विदिशा को, 'श्री कानजी स्वामी व्यक्तित्व और कर्तृत्व' पर डॉ. मुकेश 'तन्मय' शास्त्री, विदिशा को, 'संस्कृत साहित्य में दिक्पाल की अवधारणा' पर डॉ. राजेशकुमार जैन शास्त्री, ग्यारसपुर-विदिशा को, 'हिन्दी गद्य के विकास में जैन मनीषी पं. सदासुखदासजी का योगदान' पर डॉ. श्रीमती मुन्नीदेवी जैन ध.प. डॉ. फूलचन्दजी जैन, वाराणसी को पीएच.डी. करने के उपलक्ष्य में सम्मानित किया गया है।

इसके अतिरिक्त विश्वविद्यालयों आदि की जैन धार्मिक परीक्षाओं में प्रथम, द्वितीय, तृतीय स्थान प्राप्त करनेवाले छात्रों को सम्मानित करने का भी प्रावधान है।

अपने द्वारा नियुक्त विद्वानों के सौजन्य से ट्रस्ट समाज से शिक्षण-शिविर, व्याख्यान मालाएँ, पूजन-विधान, वेदी-प्रतिष्ठा एवं पंचकल्याणकादि में आमन्त्रण-पत्र प्राप्त होने पर सहयोग प्रदान करने हेतु सदैव तत्पर है।

अपनी गतिविधियों को आगे बढ़ाते हुए अब ट्रस्ट ने अप्रकाशित सत्साहित्य एवं पूज्य गुरुदेवश्री कानजी स्वामी के अप्रकाशित प्रवचन साहित्य के प्रकाशन की दिशा में कदम बढ़ाये हैं। इस कड़ी के रूप में सर्वप्रथम आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी की अमरकृति मोक्षमार्ग प्रकाशक पर हुए प्रवचन 'मोक्षमार्ग प्रकाशक प्रवचन भाग-१ से ४' प्रकाशित किये जा चुके हैं। सम्पूर्ण देश-विदेश के साधर्मीजनों के द्वारा इस कार्य का जिस उत्साहपूर्वक समादर हुआ है, उससे प्रेरित होकर अब परमपूज्य भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेव प्रणीत श्री नियमसार परमागम पर हुए प्रवचन 'प्रवचन-रत्न-चिन्तामणि' की श्रृंखलारूप से प्रकाशित किये जा रहे हैं।

आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी की अमरकृति मोक्षमार्ग प्रकाशक पर हुए प्रवचन 'मोक्षमार्ग प्रकाशक प्रवचन भाग-१ से ४' जो पहले प्रकाशित किए जा चुके हैं, उसमें से भाग-२ का द्वितीय संस्करण का प्रकाशन किया जा रहा है। इस ग्रंथ के लोकप्रियता को देखते हुए लगता है कि शीघ्र ही अन्य भागों के भी द्वितीय संस्करण प्रकाशित करने होंगे।

प्रस्तुत ग्रन्थ में पाँचवें अधिकार के सन् १९५२ के प्रवचन एवं छठवें अधिकार के १९५४ में हुए प्रवचन संकलित किए गए हैं। कारण यह है कि छठवें अधिकार पर १९५२ में पूज्य गुरुदेव के प्रवचन अनुपलब्ध हैं। इन प्रवचनों में पूज्य गुरुदेवश्री ने पण्डितजी के भाव को अत्यन्त गंभीरता से खोला है और प्रत्येक विषय का भाववाही स्पष्टीकरण किया है। अनेक विशेषताओं से भरपूर ये प्रवचन मूलतः पठनीय हैं।

इन प्रवचनों का सम्पादन कार्य पण्डित अभयकुमारजी शास्त्री, छिन्दवाड़ा ने तथा हिन्दी अनुवाद कार्य युवा विद्वान पण्डित देवेन्द्रकुमारजी जैन, बिजौलियाँ राज. ने किया है। ट्रस्ट उनका आभारी है।

हमारे अनुरोध पर इस प्रवचन ग्रंथ की प्रस्तावना अन्तर्राष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त विद्वान डॉ. हुकमचन्दजी भारिल्ल ने लिखने की कृपा की है, तदर्थ हम उनके भी आभारी हैं।

ग्रन्थ की लागत कम करने के उद्देश्य से साधर्मीजनों के प्रदत्त सहयोग के प्रति ट्रस्ट आभारी है। उनकी सूची अन्यत्र प्रकाशित है।

सभी साधर्मीजन इस अनुपम आध्यात्मिक कृति का अवगाहन कर निजहित साधें – यही भावना है।

बसंतभाई एम. दोशी
मैनेजिंग ट्रस्टी
आचार्य कुन्दकुन्द शिक्षण संस्थान ट्रस्ट, मुम्बई

अहो भाग्य

आध्यात्मिकसत्पुरुष पूज्य गुरुदेव श्री कानजीस्वामी के सातिशय प्रभावना योग में सहज सम्पन्न आध्यात्मिक क्रान्ति इस सदी का आश्चर्यजनक वरदान है। लगभग ४५ वर्षों तक जिनागम के अपूर्व रहस्यों का उद्घाटन करके उन्होंने लाखों भव्यजीवों को मुक्ति का भाजन बनाया है। उनकी वाणी में जिनागम में प्रतिपादित अनेक गूढ़ सिद्धान्तों का स्पष्टीकरण हुआ है, जिससे आत्मार्थी बन्धुओं को जिनगम का मर्म समझने का स्वर्ण अवसर प्राप्त हुआ है।

आध्यात्मिक ग्रंथराज समयसार, प्रवचनसार, नियमसार आदि ग्रन्थों पर हुए पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचनों का गुजराती-हिन्दी प्रकाशन मुमुक्षु समाज की अनेक संस्थाओं द्वारा किया जा रहा है।

पूज्य गुरुदेवश्री द्वारा जगाई गई आध्यात्मिक चेतना में उक्त परमागम ग्रन्थों के साथ-साथ आचार्यकल्प पण्डित प्रवर टोडरमलजी विरचित मोक्षमार्ग प्रकाशक ग्रन्थ का भी उल्लेखनीय योगदान है। इस ग्रन्थ पर दो बार प्रवचन करके उन्होंने इसमें छिपे हुए रहस्यों को खोला है। इस ग्रन्थ के सातवें अध्याय से वे बहुत प्रभावित थे। यही कारण है कि सोनगढ़ में आयोजित शिक्षण-शिविरों में प्राय: सातवाँ अध्याय ही पढ़ाया जाता था। इस ग्रन्थ पर प्रवचन करते समय दिगम्बर गृहस्थ विद्वानों के प्रति बहुमान व्यक्त करते हुए वे प्राय: कहा करते थे कि – दिगम्बरों ना पण्डितोए पण गजब काम कर्यु छे....।

यद्यपि इस ग्रन्थ पर हुए उनके प्रवचन ''मोक्षमार्गप्रकाशक की किरणें'' इस नाम से प्रकाशित हो चुके हैं, तथापि अनेक मुमुक्षु भाइयों की भावना थी कि सन् १९५२ में हुए प्रवचनों – जो सद्गुरु प्रवचन प्रसाद में संकलित हैं – को हिन्दी में प्रकाशित किया जाए।

कुन्दकुन्द-शिक्षण-संस्थान के संस्थापक श्री पूनमचन्दजी लुहाड़िया की तीव्र भावना को देखते हुए पण्डित श्री देवेन्द्रकुमारजी बिजोलियां ने इसका हिन्दी अनुवाद किया। पूज्य गुरुदेव के भावों को अक्षुण्ण रखते हुए इसका सम्पादन करने का दायित्व मुझे सौंपा गया।

छिंदवाड़ा प्रवास करते हुए साहित्य रचना, अनुवाद तथा सम्पादन में पूर्ण समर्पण ही मेरा ध्येय है, अत: श्री लुहाड़ियाजी का अनुरोध मेरे लिए वरदान बनकर आया।

श्री देवेन्द्रकुमारजी के साथ अनुवाद कार्य जाँचते हुए पूज्य गुरुदेव के भावों को गहराई और स्पष्टता से समझने का अवसर पाकर मुझे जो ज्ञान और आनन्द का लाभ मिला, उसका वर्णन शब्दों द्वारा नहीं किया जा सकता। पूज्य गुरुदेव के प्रति महिमा भी बहुत वृद्धिंगत हुई। लगभग ५० वर्ष पूर्व उनके द्वारा किया गया पैना और स्पष्ट विवेचन पढ़कर हृदय बारम्बार उनके प्रति श्रद्धा से नतमस्तक हो जाता है। इस उपकार के लिए मैं श्री पूनमचन्दजी लुहाड़िया के प्रति अत्यन्त कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ।

अन्त में आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी एवं पूज्य गुरुदेव श्री को विनम्र प्रणाम करता हुआ यही भावना भाता हूँ कि सभी आत्मार्थी बन्धु इन प्रवचनों के माध्यम से जिनागम का मर्म समझकर आत्मकल्याण की दिशा में अग्रसर होंगे।

– अभयकुमार जैन शास्त्री
श्री दिगम्बर जैन कुन्दकुन्द कहान विद्यापीठ, छिंदवाड़ा (म.प्र.)

अनुवादक के दो शब्द

आचार्यकल्प पण्डितप्रवर टोडरमलजी एवं उनकी अनुपम कृति मोक्षमार्गप्रकाशक से समस्त तत्त्वप्रेमी स्वाध्यायी समाज सुपरिचित है।

नौ अधिकारों में उपलब्ध इस ग्रन्थ में पूज्य पण्डितजी साहब ने वह सब प्रतिपादित कर दिया है, जो एक आत्मसाधक को आत्मकल्याण के लिए जानना आवश्यक होता है।

यही कारण है कि जब संवत् १९८२ में आध्यात्मिक सत्पुरुष पूज्य गुरुदेवश्री कानजी स्वामी को यह ग्रन्थ प्राप्त हुआ तो उन्होंने एक कुशल जौहरी की भाँति इस ग्रन्थ की महानता को परख लिया। इस ग्रन्थ के सातवें अधिकार पर तो वे ऐसे रीझे कि पूरे अधिकार को अपने हाथ से ही लिख लिया।

तत्पश्चात् उन्होंने इस ग्रन्थ पर कई बार प्रवचन किए एवं अपने अन्य प्रवचनों में भी अपनी बात को पुष्ट करने के लिए इस ग्रन्थ एवं पण्डित टोडरमलजी का वे अत्यन्त आदर के साथ स्मरण करते रहे।

उनके द्वारा दिये गये प्रवचन सोनगढ़ से निकलनेवाले दैनिक 'सद्गुरु प्रवचन प्रसाद' में नियमित प्रकाशित होते थे, जिन्हें श्री अमृतभाई नरशीलाल भाई एवं पण्डित खीमचन्द भाई जे. सेठ लिखकर सम्पादित करते थे। उक्त दोनों महानुभावों के असीम प्रयास से गुरुदेवश्री द्वारा प्रदत्त यह धरोहर हमें सहज उपलब्ध हो गई है। अत: पूज्य गुरुदेवश्री का तो हम पर अनन्त-अनन्त उपकार है ही, उनकी इस धरोहर को लिपिबद्ध करके सुरक्षित रखने हेतु इन दोनों विद्वानों का भी समाज पर बहुत उपकार है।

उक्त सम्पूर्ण प्रवचनों को चार भागों में प्रकाशित किया गया है, जिसका विभाजन इसप्रकार रखा गया है –

भाग-१	:	अधिकार १ से ४	भाग-२	:	अधिकार ५ व ६
भाग-३	:	अधिकार ७	भाग-४	:	अधिकार ८ व ९

इस ग्रंथ में पाँचवें अधिकार के सन् १९५२ के पूरे प्रवचन व १९५४ के प्रवचनांश तथा छठवें अधिकार के १९५४ के प्रवचनों को अनुवादित किया है। कारण कि छठवें अधिकार पर १९५२ में गुरुदेव के प्रवचन अनुपलब्ध हैं और उन्होंने पाँचवें के बाद सीधे सातवें अधिकार पर प्रवचन किए हैं।

प्रस्तुत प्रवचन ग्रन्थ में हैडिंग मोक्षमार्गप्रकाशक के अनुसार ही रखे गये हैं एवं ग्रन्थ का मूल अंश बोल्ड टाइप में रखा गया है, जिससे पाठकों को गुरुदेवश्री के द्वारा किए गए अर्थ स्पष्टता से ज्ञात हो सकें।

पाँचवें अधिकार में समागत 'अन्यमत के ग्रन्थोद्धरणों से जैनधर्म की प्राचीनता' इस अंश पर सन् ५२ के प्रवचन अनुपलब्ध हैं और सन् ५४ के प्रवचनों में यह अंश मात्र पढ़ा गया है। अतः हमने इसे ज्यों का त्यों ही दे दिया है।

इन प्रवचनों में पूज्य गुरुदेवश्री ने जीव के सबसे बड़े शत्रु गृहीत मिथ्यात्व के स्वरूप का विशद विवेचन करके उसके परित्याग की पावन प्रेरणा दी है। इस उपकार के लिए सम्पूर्ण तत्त्वप्रेमी समाज आपका चिरऋणी है।

प्रवचनों के अनुवाद के मूल प्रेरक मेरे श्रद्धेय गुरुवर्य पण्डित कैलाशचन्दजी बुलन्दशहर वाले हैं, जिनके पावन सान्निध्य में मुझे मोक्षमार्गप्रकाशक का ही नहीं, अपितु समस्त जिनशासन का रहस्य समझने का अवसर मिला है। अतः इस उपकार के लिए आपश्री का चिरऋणी हूँ।

आदरणीय बाबूजी श्री पूनमचन्दजी लुहाड़िया ने इनके प्रकाशन की जिम्मेदारी लेकर बारम्बार इस बात के लिए चेताया कि 'जरा भी अशुद्धि नहीं रहे' इस बात का विशेष ध्यान रखना। अतः उनका भी मैं आभारी हूँ।

आदरणीय बाबू जुगलकिशोरजी 'युगल' कोटा ने मुझे इस विषय में समय-समय पर मार्गदर्शन मिला, साथ ही आदरणीय डॉ. हुकमचन्दजी भारिल्ल ने कई उपयोगी सुझावों के साथ-साथ प्रस्तावना लिखने की कृपा की, तदर्थ विद्वतद्वय का विशेष आभारी हूँ।

अनुवादोपरांत अतिशय श्रमपूर्वक सम्पादन कार्य को पूर्ण करने के लिए एवं उपयोगी सुझावों के लिए आदरणीय पण्डित अभयकुमारजी 'जैनदर्शनाचार्य' छिन्दवाड़ा का आभारी हूँ और भविष्य में भी उनका ऐसा ही मार्गदर्शन प्राप्त होगा - ऐसी आशा करता हूँ।

सभी साधर्मीजन इस ग्रंथ का स्वाध्याय कर आत्मकल्याण करें - इस भावना के साथ यह अनुरोध भी करना चाहूँगा कि यदि आपको कोई भाव संबंधी भूल ज्ञात होवे तो अवश्य सूचित करें, जिससे आगामी संस्करण में सुधार के साथ-साथ अन्य प्रकाशनों में उसकी पुनरावृत्ति से बचा जा सके।

देवेन्द्रकुमार जैन
बिजौलियाँ,
जिला-भीलवाड़ा (राज.)

प्रस्तावना

–डॉ.हुकमचन्द भारिल्ल, जयपुर

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजीस्वामी के जीवन परिवर्तन में आचार्य कुन्दकुन्द केग्रन्थाधिराज समयसार के साथ-साथ आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी के मोक्षमार्गप्रकाशक का भी महत्वपूर्ण योगदान है। समयसार विक्रम संवत् १९७८ में उनके हाथ लगा था और मोक्षमार्गप्रकाशक १९८२ में। इन दोनों ग्रन्थराजों ने उनके हृदय को आन्दोलित कर दिया।

जब समयसार उनके हाथ लगा और उन्होंने उस पर सरसरी नजर डाली तो उनके मुँह से सहज ही प्रस्फुटित हुआ कि यह तो अशरीरी होने का शास्त्र है और मोक्षमार्गप्रकाशक का सातवाँ अधिकार उन्हें इतना प्रिय लगा कि उसे उन्होंने स्वयं अपने हाथ से पूरा का पूरा लिख लिया और सदा अपने पास रखा। उनकी वह हस्तलिखित प्रति आज भी सोनगढ़ में सुरक्षित है।

वे जीवन भर समयसार और मोक्षमार्गप्रकाशक के गीत गाते रहे। समयसार पर तो उन्होंने १९ बार सभा में प्रवचन किये। और मोक्षमार्गप्रकाशक पर भी उन्होंने प्रवचन किए। यह प्रकाशन उनके मोक्षमार्गप्रकाशक पर हुए प्रवचनों का ही संकलन है।

महापण्डित टोडरमल गंभीर प्रकृति के आध्यात्मिक महापुरुष थे। वे स्वभाव से सरल, संसार से उदास, धुन के धनी, निरभिमानी, विवेकी, अध्ययनशील, प्रतिभावान, बाह्याडम्बर विरोधी, दृढ़श्रद्धानी, क्रान्तिकारी, सिद्धान्तों की कीमत पर कभी न झुकनेवाले, आत्मानुभवी और लोकप्रिय प्रवचनकार थे। तत्कालीन समाज में तत्त्वज्ञान सम्बन्धी प्रकरणों में उनके कथन प्रमाण के तौर पर प्रस्तुत किये जाते थे और धार्मिक उत्सवों में जनता की अधिक से अधिक उपस्थिति के लिए उनके नाम का उल्लेख आकर्षण के रूप में किया जाता था। गृहस्थ होने पर भी उनकी वृत्ति और प्रवृत्ति साधुता का प्रतीक थी।

यद्यपि उनका अधिकांश जीवन जयपुर में ही बीता, तथापि कुछ समय उन्हें आजीविका के लिए सिंगाणा में रहना पड़ा था।

उनकी आत्मसाधना और तत्त्वप्रचार का कार्य सुनियोजित और सुव्यवस्थित था। मुद्रण की सुविधा न होने से तत्सम्बन्धी अभाव की पूर्ति के लिए दश-बारह कुशल लिपिकार शास्त्रों की प्रतिलिपियाँ निरन्तर करते रहते थे। उनकी शास्त्रसभा में उनका व्याख्यान सुनने के लिए हजार-बारह सौ स्त्री-पुरुष प्रतिदिन आते थे। बालक-बालिकाओं, प्रौढ़ पुरुषों एवं महिलाओं के धार्मिक अध्ययन-अध्यापन की पूरी-पूरी व्यवस्था थी।

उनका कार्यक्षेत्र सम्पूर्ण भारतवर्ष था और उनका प्रचार कार्य ठोस था। यद्यपि उससमय यातायात की कोई सुविधायें नहीं थीं; तथापि उन्होंने दक्षिण भारत में समुद्र किनारे तक धवलादि सिद्धान्त शास्त्रों की प्राप्ति के लिए प्रयत्न किया था।

उनके जीवन के सन्दर्भ में यदि विशेष जिज्ञासा हो तो तदर्थ ''पण्डित टोडरमल : व्यक्तित्व और कर्तृत्व'' का अध्ययन करना चाहिए।

वैसे तो उन्होंने अनेक ग्रन्थों की रचना की है, जिनमें सिद्धान्त और अध्यात्म ग्रन्थों की टीकायें ही मुख्य हैं; तथापि मोक्षमार्गप्रकाशक उनकी मौलिक रचना है। इस ग्रन्थ का आधार कोई एक ग्रन्थ न होकर सम्पूर्ण जिनागम है। यद्यपि यह समग्र जैनागम को अपने में समेट लेने का सार्थक प्रयास था; तथापि खेद के साथ लिखना पड़ता है कि यह पूर्ण न हो सका।

अपूर्ण होने पर भी यह अपनी अपूर्वता के लिए प्रसिद्ध है। यह एक अत्यन्त लोकप्रिय ग्रंथ है, जो अनेक भाषाओं में लाखों की संख्या में प्रकाशित होकर घर-घर में पहुँच चुका है और इसकी माँग सदा बनी ही रहती है। आज भी पण्डित टोडरमल दिगम्बर जैन समाज में सर्वाधिक पढ़े जाने वाले विद्वान हैं।

प्राप्त मोक्षमार्गप्रकाशक में नौ अधिकार हैं। आरम्भ के आठ अधिकार तो पूर्ण हो गये, पर नौवाँ अधिकार अपूर्ण है। इस अधिकार में जिसप्रकार विषय उठाया गया है, उसके अनुरूप उसमें कुछ भी नहीं कहा जा सका है।

अपूर्ण नौवें अधिकार को पूर्ण करने के उपरान्त उसके आगे और भी अनेक अधिकार लिखने की उनकी योजना थी। पण्डित टोडरमलजी के मस्तिष्क में न जाने कितने अधिकार प्रच्छन्न थे। प्राप्त नौ अधिकारों में लेखक ने बारह स्थानों पर ऐसे संकेत दिये हैं कि इस विषय पर आगे यथास्थान विस्तार से प्रकाश डाला जावेगा।

उक्त संकेतों और प्रतिपादित विषय के आधार पर कहा जा सकता है कि यदि यह महाग्रंथ निर्विघ्न समाप्त हो गया होता तो पाँच हजार पृष्ठों से कम का नहीं होता और उसमें मोक्षमार्ग के मूलाधार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का विस्तृत विवेचन होता।

यह ग्रंथ विवेचनात्मक गद्य शैली में लिखा गया है और प्रश्नोत्तरों द्वारा विषय को बहुत गहराई से स्पष्ट किया गया है। जिस भी विषय को छुआ गया, उसके सम्बन्ध में उठने वाली प्रत्येक शंका का समाधान प्रस्तुत करने का सफल प्रयास किया गया है। प्रतिपादन शैली में मनोवैज्ञानिकता और मौलिकता पाई जाती है। प्रथम शंका के समाधान में द्वितीय शंका की उत्थानिका निहित रहती है। ग्रंथ को पढ़ते समय पाठक के हृदय में जो प्रश्न उपस्थित होता है, उसे हम अगली पंक्ति में लिखा पाते हैं। ग्रंथ पढ़ते समय पाठकों को आगे पढ़ने की उत्सुकता बनी रहती है।

वाक्यरचना संक्षिप्त और विषय प्रतिपादन शैली तार्किक एवं गंभीर है। व्यर्थ का विस्तार उसमें नहीं है, पर विस्तार के संकोच में कोई विषय अस्पष्ट नहीं रहा है। लेखक विषय का यथोचित विवेचन करता हुआ आगे बढ़ने के लिए सर्वत्र ही आतुर रहा है। जहाँ कहीं विषय का विस्तार भी हुआ है; वहाँ उत्तरोत्तर नवीनता आती गई है। यह विषयविस्तार सांगोपांग विषयविवेचन की प्रेरणा से ही हुआ है। जिस विषय को उन्होंने छुआ; उसमें

क्यों का प्रश्नवाचक समाप्त हो गया है। शैली ऐसी अद्भुत है कि एक अपरिचित विषय भी सहज हृदयंगम हो जाता है।

विषय को स्पष्ट करने के लिए समुचित उदाहरणों का समावेश है। कई उदाहरण तो सांगरूपक के समान कई अधिकारों तक चलते हैं। जिसप्रकार कि रोगी और वैद्य का उदाहरण द्वितीय अधिकार से पंचम अधिकार तक प्रत्येक अधिकार के आरम्भ में चलता है।

अपनी बात पाठक के हृदय में उतारने के लिए पर्याप्त आगम प्रमाण, सैकड़ों तर्क तथा जैनाजैन ग्रंथों के अनेक उद्धरण प्रस्तुत किये गये हैं। ऐसा लगता है कि वे जिस विषय का विवेचन करते हैं; उसके सम्बन्ध में असंख्य ऊहापोह उनके मानस में हिलोरें लेने लगते हैं तथा वस्तु की गहराई में उतरते ही उनकी अनुभूति लेखनी में उतरने लगती है। वे प्रत्येक विषय को पूरा स्पष्ट करते हैं। जहाँ विषय को प्रसंगानुसार अधूरा छोड़ना पड़ा है, वहाँ वे उल्लेख करते हैं कि इस विषय को यथास्थान आगे विस्तार से स्पष्ट करेंगे।

यद्यपि मोक्षमार्गप्रकाशक का प्रत्येक वाक्य आर्षसंमत है; तथापि उसमें बहुत-सा नया प्रमेय भी उपस्थित किया गया है; जो जिनागम में उस रूप में अन्यत्र कहीं भी उपलब्ध नहीं है। इसप्रकार के विषय ग्रंथ में सर्वत्र आये हैं; तथापि इस दृष्टि से सातवाँ व आठवाँ अधिकार विशेष उल्लेखनीय है।

निश्चयाभासी, व्यवहाराभासी, उभयाभासी आदि प्रकरण तथा चार अनुयोगों की व्याख्यान पद्धति आदि विषय और उनका स्पष्टीकरण इसप्रकार का है कि जैसा जिनागम में अन्यत्र कहीं भी उपलब्ध नहीं है।

जिन-अध्यात्म और सिद्धान्तों के तो वे विशिष्ट अध्येता थे ही; तत्कालीन समाज एवं उसके धार्मिक क्रियाकलाप भी उनकी दृष्टि से ओझल नहीं रह सके थे। शास्त्राध्ययन एवं आत्मानुभवन के अतिरिक्त उनका लोकनिरीक्षण भी अत्यंत सूक्ष्म रहा है।

पण्डित टोडरमलजी मुख्यत: आध्यात्मिक चिन्तक हैं; परन्तु उनके चिन्तन में तर्क और अनुभूति का सुन्दर समन्वय है। उनकी यह विशेषता मोक्षमार्गप्रकाशक में सर्वाधिक मुखर हुई है।

वे हिन्दी साहित्य के तत्कालीन गद्य लेखकों में सर्वाधिक सशक्त गद्यकार हैं। उन्होंने अपनी गद्यशैली का निर्माण स्वयं किया है। उनकी गद्यशैली दृष्टान्तयुक्त प्रश्नोत्तरमयी तथा सुगम है। वे ऐसी शैली अपनाते हैं जो न तो एकदम शास्त्रीय है और न आध्यात्मिक सिद्धियों और चमत्कारों से बोझिल। उनके गद्य में उनका व्यक्तित्व प्रतिबिम्बित हो उठा है।

उनकी शैली की एक विशेषता यह है कि प्रश्न भी उनके होते हैं और उत्तर भी उनके ही। पूर्व प्रश्न के समाधान में अगला प्रश्न उभरकर आ जाता है। इसप्रकार विषय का विवेचन अन्तिम बिन्दु तक पहुँचने पर ही वह प्रश्न समाप्त होता है।

उनकी गद्यशैली में उनका अगाध पाण्डित्य एवं आस्था सर्वत्र प्रतिबिम्बित है। दृष्टान्त उनकी शैली में

मणिकांचन योग से चमकते हैं। दृष्टान्तों के प्रयोग में पण्डितजी का सूक्ष्म वस्तुनिरीक्षण प्रतिबिम्बित है, जीवन के और शास्त्र के प्रत्येक क्षेत्र से उन्होंने उदाहरण चुने हैं। उनके गद्य में लोकोक्तियों के प्रयोग भी खूब मिलते हैं।

उनकी शैली की प्रमुख विशेषता यह है कि उन्होंने अधिकांश आगम- प्रमाण शंकाकार के मुख में रखे हैं। उनका शंकाकार प्राय: प्रत्येक शंका आर्षवाक्य प्रस्तुत करके सामने रखता है और समाधानकर्त्ता आर्षवाक्यों का अपेक्षाकृत कम प्रयोग करता है और अनुभूतिजन्य युक्तियों और उदाहरणों द्वारा उसकी जिज्ञासा शांत करता है।

वे विशुद्ध आत्मवादी विचारक थे। उन्होंने उन सभी विचारधाराओं पर तीखा प्रहार किया जो आध्यात्मिकता के विपरीत थीं। आचार्य कुन्दकुन्द के साथ जो विशुद्ध अध्यात्मवादी आन्दोलन की लहर उठी थी; वे उसके अपने युग के सर्वोत्तम व्याख्याकार थे। वे अपने युग के जैन आध्यात्मिक विचारधाराओं के ज्योतिकेन्द्र थे। आध्यात्मिकता उनके लिए अनुभूतिमूलक चिंतन है। चारों अनुयोगों के अध्ययन के सम्बन्ध में विचार करते हुए उन्होंने आध्यात्मिक अध्ययन पर सबसे अधिक बल दिया है।

प्रतिभाओं का लीक पर चलना कठिन होता है; पर ऐसी प्रतिभायें बहुत कम होती हैं , जो लीक छोड़ कर चलें और भटक न जायें। पण्डित टोडरमलजी भी उन्हीं में से एक हैं, जो लीक छोड़कर चले पर भटके नहीं।

महापण्डित टोडरमल के मोक्षमार्गप्रकाशक को इस युग में जन-जन तक पहुँचाने का श्रेय आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजीस्वामी और उनके द्वारा सम्पन्न आध्यात्मिक क्रान्ति को है। आचार्य कुन्दकुन्द और पण्डित टोडरमलजी की आध्यात्मिक क्रान्ति को इस युग में पुनरुज्जीवित करने का महान कार्य भी स्वामीजी ने ही किया है।

मोक्षमार्गप्रकाशक पर जो प्रवचन उन्होंने किये, वे सरल-सुबोध होने के साथ-साथ उन मार्मिक बिन्दुओं को स्पर्श करते हैं, जो हमारी पुरानी मान्यताओं को झकझोर कर रख देते हैं। विशेषकर सातवें और आठवें अधिकारों पर हुए उनके पवचन बेजोड़ हैं।

समयसार पर हुए उनके प्रवचनों का प्रकाशन तो 'समयसार प्रवचन' और 'प्रवचन रत्नाकर' के रूप में प्रकाशित हो चुके हैं; पर मोक्षमार्गप्रकाशक पर उनके प्रवचनों का प्रकाशन हिन्दी भाषा में अभी तक नहीं हुआ था। इस कमी की पूर्ति का काम आचार्य कुन्दकुन्द शिक्षण संस्थान ट्रस्ट ने उठा लिया है, तदर्थ वे साधुवाद के पात्र हैं। इसका अनुवाद देवेन्द्रकुमारजी बिजौलियां और सम्पादन का कार्य पण्डित अभयकुमारजी जैनदर्शनाचार्य ने किया है ; अत: इसकी प्रामाणिकता के संदर्भ में कुछ सोचने की आवश्यकता ही नहीं है।

मेरा पक्का विश्वास है कि मुमुक्षु समाज तो इसका पूरा-पूरा लाभ लेगा ही; परन्तु मेरी भावना तो यह है कि इस सार्थक प्रयास का पूरा-पूरा लाभ सम्पूर्ण जैन समाज ले – इसी पवित्र भावना के साथ विराम लेता हूँ।

– ए-४, बापूनगर, जयपुर ३०२ ०१५

विषय-सूची

पाँचवाँ अधिकार (विविधमत-समीक्षा)

सर्वव्यापी अद्वैत ब्रह्म	**6-73**
सृष्टिकर्त्तावाद का निराकरण	15
लोकके अनादिनिधनपने की पुष्टि	39
ब्रह्म से कुलप्रवृत्ति आदि का प्रतिषेध	42
अवतार मीमांसा	43
योगमीमांसाः भक्तियोग मीमांसा	49
ज्ञानयोग मीमांसा	56
अन्यमत कल्पित मोक्षमार्ग की मीमांसा	68
मुस्लिममत सम्बन्धि विचार	71
अन्यमत निरूपित तत्त्व-विचार	**74-107**
सांख्यमत	74
शिवमतः नैयायिकमत	80
वैशेषिकमत	84
मीमांसकमत	89
जैमिनीयमत	91
बौद्धमत	92
चार्वाकमत	96
अन्यमत निराकरण उपसंहार	100
अन्यमतों से जैनमत की तुलना	**107-127**
अन्यमत के ग्रन्थोद्धरणों से जैनधर्म की समीचीनता और प्राचीनता	127

श्वेताम्बरमत विचार	133-195
अन्यलिंग से मुक्ति का निषेध	136
गृहस्थमुक्ति का निषेध	138
स्त्रीमुक्ति का निषेध	139
शूद्रमुक्ति का निषेध	140
अछेरों का निराकरण	142
श्वेताम्बरमत कथित देव-गुरू-धर्म का अन्यथा स्वरूप :	145
देव का अन्यथा स्वरूप	145
गुरू का अन्यथा स्वरूप	153
धर्म का अन्यथा स्वरूप	165
ढूंढकमत विचारः	171
प्रतिमाधारी श्रावक न होने की मान्यता का निषेध	176
मुखपट्टी आदि का निषेध	178
मूर्त्तिपूजा निषेधका निराकरण	179

छठवाँ अधिकार (कुदेव, कुगुरू और कुधर्म का प्रतिषेध)

कुदेव का निरूपण और उसके श्रद्धानादि का निषेध	196
व्यन्तरादिका स्वरूप और उनके पूजने का निषेध	198
क्षेत्रपाल, पद्मावती आदि पूजन का निषेध	204
कुगुरू का निरूपण और उसके श्रद्धानादिक का निषेध	209
कुलादि अपेक्षा गुरूपने निषेध	209
शिथिलाचार की पोषक युक्तियाँ और उनका निराकरण	238
कुधर्म का निरूपण और उसके श्रद्धानादिक का निषेध	252

ॐ नमः सिद्धेभ्यः

मोक्षमार्गप्रकाशक प्रवचन

भाग - 2

पाँचवाँ अधिकार

विविधमत-समीक्षा

इस मोक्षमार्गप्रकाशक नामक ग्रन्थ में चार अधिकार तक अगृहीत मिथ्यादर्शन का स्वरुप कहा गया है।

विपरीत मान्यता, ज्ञान की परसन्मुखता की रुचि और पर पदार्थों को इष्ट-अनिष्ट मानकर राग-द्वेष करना-यह अनादि का अगृहीत मिथ्यात्व है, नया ग्रहण नहीं किया है।

कोई कहे कि हमको नवतत्त्वों की श्रद्धा तो है, परन्तु हमारा गृहीत मिथ्यात्व नहीं गया है, तो यह बात मिथ्या है। क्योंकि जहाँ गृहीत मिथ्यात्व है वहाँ अगृहीत मिथ्यात्व तो होता ही है। अर्थात उसे नवतत्त्वों की सच्ची श्रद्धा नहीं है।

मंगलाचरण

दोहा- बहुविधि मिथ्या गहन करि, मलिन भयो निज भाव।
ताको होत अभाव है, सहजरुप दरसाव।।

पुण्य से धर्म मानना,निमित्त से कार्य मानना वह मिथ्याश्रद्धा है। उस मिथ्याभाव का अभाव होने पर सहज ज्ञानानन्द रूप दिखता है। पुण्य-पाप रहित स्वरूप का भान होता है।

.....अब, यह जीव पूर्वोक्त प्रकार से अनादिही से मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप परिणमित हो रहा है। उससे संसार में दुःख सहता हुआ कदाचित् मनुष्यादि

पर्यायों में विशेष श्रद्धानादि करने की शक्ति को पाता है। वहाँ यदि विशेष मिथ्याश्रद्धानादिक के कारणों से उन मिथ्याश्रद्धानादिक का पोषक करे तो उस जीवका दुःख से मुक्त होना अति दुर्लभ होता है।

जैसे कोई पुरूष रोगी है, वह कुछ सावधानी को पाकर कुपथ्य सेवन करे तो उस रोगी का सुलझना कठिन ही होगा। उसी प्रकार यह जीव मिथ्यात्वादि सहित है, वह कुछ ज्ञानादिशक्ति को पाकर विशेष विपरीत श्रद्धानादिक के कारणों का सेवन करे तो इस जीव का मुक्त होना कठिन ही होगा।

इसलिये जिस प्रकार वैद्य कुपथ्यों के विशेष बतलाकर उनके सेवन का निषेध करता है उसी प्रकार यहाँ विशेष मिथ्याश्रद्धानादिक के कारणों का विशेष बतलाकर उनका निषेध करते हैं।

यहाँ अनादिसे जो मिथ्यात्वादिभाव पाये जो हैं उन्हें तो अगृहीत मिथ्यात्वादि जानना, क्योंकि वे नवीन ग्रहण नहीं किये हैं। तथा उनके पुष्ट करने के कारणों से विशेष मिथ्यात्वादिभाव होते हैं उन्हे गृहीत मिथ्यात्वादि जानना। वहाँ अगृहीत मिथ्यात्वादिका वर्णन तो पहले किया है वह जानना और अब गृहीत मिथ्यात्वादिका निरूपण करते हैं सो जानना।

कुदेव-कुगुरू-कुधर्म और कल्पित तत्वों का श्रद्धान तो मिथ्यादर्शन है। तथा जिनमें विपरीत निरूपण द्वारा रागादिका पोषण किया हो ऐसे कुशास्त्रों में श्रद्धानपूर्वक अभ्यास सो मिथ्याज्ञान है। तथा जिस आचरण में कषायों का सेवन हो और उसे धर्मरूप अंगीकार करें सो मिथ्याचारित्र है।

अब इन्हीं को विशेष बतलाते हैं :-

इन्द्र, लोकपाल इत्यादि; तथा अद्वैत ब्रह्म, राम, कृष्ण महादेव, बुद्ध, खुदा, पीर, पैगम्बर इत्यादि; तथा हनुमान, भैरों, क्षेत्रपाल, देवी, दहाड़ी, सती इत्यादि; तथा शीतला, चौथ, सांझी, गनगौर, होली इत्यादि; तथा सूर्य, चन्द्रमा, गृह औत, पितृ, व्यन्तर इत्यादि; तथा गाय, सर्प इत्यादि; तथा अग्नि, जल, वृक्ष इत्यादि; तथा शस्त्र दवात, बर्तन इत्यादि अनेक हैं; उनका अन्यथा श्रद्धान करके उनको पूजते हैं और उनसे अपना कार्य सिद्ध

करना चाहते हैं, परन्तु वे कार्यसिद्धि के कारण नहीं हैं। इसलिये ऐसे श्रद्धान को गृहीत मिथ्यात्व कहते हैं।.........

पूर्व में कहे अनुसार यह जीव अनादिकाल से मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप परिणमित हो रहा है। उससे संसार में दुःख सहन कर रहा है। संसार में दुःख सहन करते करते किसी समय मनुष्य, तिर्यन्च, देव आदि गति मे जाकर ज्ञान का विशेष उघाड़ (क्षयोपशम) प्राप्त करता है वहाँ अज्ञानी को कुदेवादिक की बात बैठ जाती है। और वह विपरीत श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र से अनादि के मिथ्यात्व का पोषण करता है। सर्वज्ञ भगवान के द्वारा कथित और संतो द्वारा अनुभूत मार्ग के सिवाय अन्य जितने मत है वे अन्यमत है। दिगम्बर मुनि होने पर भी सच्चे देव-गुरू-शास्त्र के स्वरूप का पता न हो तो वह भी गृहीत मिथ्यादृष्टि है। जैनदर्शन से विरूद्ध मत है वे सब गृहीत मिथ्यात्व के पोषक हैं। वहाँ जीव का दुःख से मुक्त होना अति दुर्लभ हो जाता है।

जैसे किसी रोगी को कुछ सावधानी रखने से रोग मिटता है, परन्तु यदि वह कुपथ्य सेवन करे तो उसका रोग मुक्त होना अत्यन्त दूर्लभ हो जाता है; वैसे ही जीव अनादिकाल से विपरीत श्रद्धा-ज्ञान-आचरण कर रहा है। वहाँ जीव के (ज्ञान का) कुछ उघाड़ हुआ और वह देव, तिर्यन्च अथवा मनुष्य हुआ; परन्तु सर्वज्ञ कथित पंथ सिवाय, सनातन दिगम्बर मार्ग सिवाय अन्य कुदेव -कुशास्त्र -कुगुरू का सेवन करता है तो मिथ्यात्व की विशेष पुष्टि होती है और इस कारण संसार रोग का मिटना बहुत मुश्किल हो जाता है। पहले भी कठिन तो था ही, परन्तु गृहीत मिथ्यात्व से विशेष कठिन हो गया।

जैसे वैद्य कुपथ्य के विशेष बतलाकर उनके सेवन का निषेध करता है, वैसे ही यहाँ भी विशेष मिथ्याश्रद्धानादि के कारणों के विशेष बतलाकर उनका निषेध करते हैं।

सच्चे देव-शास्त्र-गुरूओं द्वारा बताया हुआ मार्ग एक ही सच्चा मार्ग हैं। अन्य सभी मार्ग कुदेव-कुशास्त्र-कुगुरू के पोषक हैं। अतः मध्यस्थ होकर शान्ति पूर्वक समझना चाहिये।

दिगम्बर कुल मे जन्मने पर भी तत्त्व में भूल करे तो वह भी मिथ्यादृष्टि है। जैसे लड़का बाहर गाँव जाता हो तो सब शिक्षा देते हैं कि दरवाजे के पास मत बैठना, मुँह बाहर मत निकालना इत्यादि, वैसे ही यहाँ शिक्षा देते हैं कि गृहीत मिथ्यात्च के कारणों को पहले छोड़ना पड़ेगा। कुदेव-कुशास्त्र-कुगुरू को मानने, मनवाने तथा अनुमोदना करने वाले

वे सभी परम्परा निगोदगामी हैं।

यहाँ मिथ्यादर्शनादि के विशेष बतलाकर उनका निषेध करते हैं। जीव अनादि से ज्ञानस्वरूप है, उसे नहीं मानकर जीव से अजीव की क्रिया होना मानना अर्थात् जीव है तो वाणी बोली जाती है- ऐसा मानना यह सब अगृहीत मिथ्यात्व है। शरीर अच्छा हो तो धर्म होवे ऐसा मानना, दया-दानादि से धर्म मानना अर्थात् विभाव से स्वभाव मानना यह सब अगृहीत मिथ्यात्व है।

इस प्रकार अनादिकालीन अगृहीत मिथ्यात्व का संक्षेप में वर्णन किया।

गृहीत मिथ्यात्व उस अगृहीत मिथ्यात्व को पुष्ट करता है इसकारण उसे विशेष (गृहीत) मिथ्यात्वभाव कहते हैं। अगृहीत मिथ्यात्वादिका वर्णन जैसा पूर्व में किया जा चुका हैं। उसी प्रकार समझना।

अब गृहीत मिथ्यात्वादि का निरूपण करते हैं।

जो सर्वज्ञदेव नहीं है उन्हें सर्वज्ञ मानना, निर्ग्रन्थ गुरू अर्थात जिंनको भावलिंग सहित नग्न दिगम्बर द्रव्यलिंग होता है उन्हें न मानकर अन्य को गुरू मानना, पुण्य से अथवा निमित्त से धर्म मानना वह कुधर्म है। त्रिलोकनाथ की वाणी में जो तत्त्व आये उनसे विरूद्ध तत्त्व वे सब कल्पित तत्त्व हैं। कल्पित तत्त्वों की श्रद्धा करना गृहीत मिथ्यात्व है। जीव उस विपरीत श्रद्धा द्वारा राग को पोषता है। सर्वज्ञ का मार्ग तो वीतरागता का पोषण करता है। शुभराग भी संसार का कारण है ऐसा कहता है। इससे विपरीत कहने वाले ऐसा कहते हैं कि ''भगवान की भक्ति से संसार मिटता है, दया दान से संसार मिटता है'' तो वैसा कहने वाले मिथ्यादृष्टि हैं। दया-दानादि के भाव विकार हैं। जो शास्त्र उनसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र होना कहते हैं, उनका अभ्यास करना मिथ्याज्ञान है। दया से संसार पार हुआ जाता है, मुनिराज को आहार दान देने से संसार पार हुआ जाता है जो ऐसा कहते हैं वे कुशास्त्र हैं। उन कुशास्त्रों में सच्चा मार्ग है ऐसा प्रतिंपादित करना अथवा वे शास्त्र भी सच्चे हैं और उनमें भी सब बातें यथार्थ ही कही गयी है।ऐसा मानना गृहीत मिथ्यात्व है।

जीव जिस सम्प्रदाय अथवा जिस कुल में जन्म लेता है, उसी सम्प्रदाय को सच्चा मान लेता है,परन्तु तत्त्व का विचार नहीं करता।

मिथ्या शास्त्रों को पढ़ना-पढ़ाना और उन्हें सत्शास्त्रों के रूप में स्थापित करना-वह

मिथ्याज्ञान है। जैसे एक मन (40 किलो) दूध मे चार आने भर जहर डाला जावे तो वह सब जहर का काम करेगा, उसमे से दूध अलग नहीं हो सकता वैसे ही कुशास्त्रों मे कही गई सब बाते मिथ्या है। जिसमे प्रयोजनभूत बात यथार्थ नहीं हो उसकी एक बात भी नहीं मानना चाहिये।

जिसको सत्य बात नहीं जंची है उसे यह पक्षपात जैसा लगता है, परन्तु मध्यस्थता से विचार करना चाहिये। *''जैनदर्शन-निर्ग्रन्थ पंथ, दिगम्बर पंथ एक ही अविरोधी पंथ है।''* ***आज मानो, दो भव बाद मानो, चाहे जिस दिन मानो, परन्तु यह मानने से ही छुटकारा है।*** *''युक्ति से जैसा है वैसा कहा जाता है।''*

पंचमहाव्रत के परिणाम, अट्ठाईस मूलगुणों का विकल्प वह आस्रव है। उसे चारित्र मानना मिथ्या है। दया दान को धर्म मानना या उसे धर्म का कारण मानना वह मिथ्याचारित्र है।

अब उनका विशेष स्वरूप कहते हैं।-

धर्म के लिये इन्द्र मानना, इन्द्र धर्म मे मदद करता है ऐसा मानना, लोकपाल को मानना गृहीत मिथ्यात्व है। सब मिलकर एक आत्मा मानना, राम व कृष्ण को जगत का कर्ता मानना वह गृहीत मिथ्यात्व है। जगत का कर्ता ब्रह्मा है, विष्णु रक्षक है और महादेव उसका नाश करते हैं ये सब कल्पित बातें हैं। बुद्ध को अनित्यभावना में क्रत्रिम वैराग्य हुआ इत्यादि मार्ग कल्पित है।

पीर-पैगम्बर को खुदा का अंश मानना वह गृहीत मिथ्यात्व है। हनुमानजी बंदर थे यह मान्यता खोटी है। उन्हें शनिवार को तेल चटाने से कल्याण होता है ऐसा माने वह मिथ्यादृष्टि है। अज्ञानी भैरवनाथ को भला करने वाला मानता है यह भूल है। लौकिकरूप से भी कूदेव को मानने वाला जीव मिथ्यादृष्टि है। कोई भुरखिया हनुमान को मानता है, कोई क्षेत्रपाल को मानता है यह सब मिथ्यात्व है। *जैनों के क्षेत्रपाल आदि की मान्यता होती ही नहीं।* देवी-देवताओ को मानने वाला मिथ्यादृष्टि है। अंबाजी भला करती है ऐसा मानना, भूतों को मानना, कुलदेवता को मानना, देवी-दहाडी को मानना, सती को मानना, शीतला को मानना यह सब गृहीत मिथ्यात्व है। कई महिलायें अपने माने हुए (जैनमत में कहे गये) सामायिक प्रोषध आदि करती है; परन्तु एकान्त में शीतला को मानती है वह गृहीत मिथ्यात्व है।

एकम को अन्नकूट करना, दूज के दिन चन्द्रमा को मानना, तीज के दिन अक्षय तृतीया मानना, गणेश चौथ मानना, नागपंचमी मानना, रांदल छठ मानना, शीतला सप्तमी, गोकल अष्टमी, रामनवमी, दशहरा, भीमग्यारस मानना पोडा बारस, धनतेरस, काली चौदस दीवाली मानना ये सब भ्रमणा हैं। सांझी होली,गणगौर मानना, होली के पैर लगना, सूर्य नारायण को भगवान मानना,चन्द्र की दूज के पैर लगना, ग्रह मानना, पितृ अर्थात् बाप-दादा को-सुरधन को मानना इत्यादि सब भ्रम हैं। उसे जरा भी विवेक नहीं है। विवाह करने के बाद सुरधन के पास गठजोड़ा छोड़ने जाना इत्यादि सब भ्रम हैं। व्यन्तर मानकर उसको घर में बिठाना भ्रम है। इसमें आत्मा का कल्याण नहीं है। रूपयों की पूजा करना, गाय में देवों की कल्पना करके उसे पूजना, गौमूत्र को पवित्र मानना, नागपंचमी को नाग पूजना, अग्नि की पूजा करना, देवता को थोड़ी रसोई चढ़ानें के बाद खाना, ठण्डे पानी को पूजना, प्रातःकाल जल्दी नहाना अथवा गंगा जल को पवित्र मानना-यह सब भ्रम है। पीपल, बड़, आदि को मानना, दशहरे के दिन शस्त्रों को पूजना, अच्छे बासण तथा देहली पूजना, खड़िया को पूजना, नई रेलगाड़ी को माता मानकर पूजना- यह सब भ्रम है।

कुदेवादि को मानने से पुत्र-पुत्रियाँ मिलते हैं, आँख व सिरदर्द नहीं होता-यह सब भ्रम अधर्म के पोषक हैं। अज्ञानी इनसे अपना कार्य सफल होता है-ऐसी श्रद्धा करता है; ये कोई कार्य सिद्धि के कारण नहीं हैं। इस कारण ऐसी श्रद्धा को गृहीत मिथ्यात्व कहते हैं।

सर्वव्यापी अद्वैत ब्रह्म

.....अद्वैत ब्रह्म को सर्वव्यापी सर्वका कर्त्ता मानते हैं, सो कोई है नहीं। प्रथम उसे सर्वव्यापी मानते हैं सो सर्व पदार्थ तो न्यारे-न्यारे प्रत्यक्ष हैं तथा उनके स्वभाव न्यारे-न्यारे देखे जाते हैं, उन्हे एक कैसे माना जाये? इनका मानना तो इन प्रकारों से है:-

एक प्रकार तो यह है कि-सर्व न्यारे-न्यारे हैं, उनके समुदाय की कल्पना करके उसका कुछ नाम रख लें। जैसे घोड़ा, हाथी आदि भिन्न-भिन्न हैं; उनके समुदाय का नाम सेना है, उनसे भिन्न कोई सेना वस्तु नहीं है। सो इस प्रकार से सर्व पदार्थ जिनका नाम ब्रह्म है वह ब्रह्म कोई भिन्न वस्तु तो सिद्ध नहीं हुई, कल्पना मात्र ही ठहरी।

तथा एक प्रकार यह है कि- व्यक्ति अपेक्षा तो न्यारे-न्यारे हैं, उन्हें जाति अपेक्षा कल्पना से एक कहा जाता है। जैसे-सौ घोड़े हैं, सो व्यक्ति अपेक्षा तो भिन्न-भिन्न सौ ही हैं, उनके आकारादिकी समानता देखकर एक जाति कहते हैं, परन्तु वह जाति उनसे कोई भिन्न ही तो है नहीं। सो इस प्रकार से यदि सबही की किसी एक जाति अपेक्षा एक ब्रह्म माना जाय तो ब्रह्म कोई भिन्न तो सिद्ध हुआ नहीं।

तथा एक प्रकार यह है कि-पदार्थ न्यारे-न्यारे हैं, उनके मिलाप से एक स्कन्ध हो उसे एक कहते हैं। जैसे जल के परमाणु न्यारे-न्यारे हैं, उनका मिलाप होने पर समुद्रादि कहते हैं; तथा जैसे पृथ्वी के परमाणुओं का मिलाप होने पर घट आदि कहते हैं; परन्तु यहाँ समुद्रादि व घटादिक हैं, वे उन परमाणुओं से भिन्न कोई अलग वस्तु तो नहीं है। सो इस प्रकार से सर्व पदार्थ न्यारे-न्यारे हैं, परन्तु कदाचित् मिलकर एक हो जाते हैं वह ब्रह्म है-ऐसा माना जाये तो इनसे अलग तो कोई ब्रह्म सिद्ध नहीं हुआ।

तथा एक प्रकार यह है कि- अंग तो न्यारे-न्यारे हैं और जिसके अंग हैं वह अंगी एक है। जैसे नेत्र, हस्त, पादादिक भिन्न-भिन्न है, और जिसके यह हैं वह मनुष्य एक है। सो इस प्रकार से यह सर्व पदार्थ तो अंग हैं और जिसके यह हैं वह अंगी ब्रह्म है। यह सर्व लोक विराट स्वरूप ब्रह्मका अंग है-ऐसा मानते हैं तो मनुष्य के हस्तपादादिक अंगों में परस्पर अन्तराल होनेपर तो एकत्वपना नहीं रहता, जुड़े रहने पर ही एक शरीर नाम पाते हैं। सो लोक में तो पदार्थो के परस्पर अन्तराल भासित होता है; फिर उनका एकत्वपना कैसे माना जाय? अन्तराल होने पर भी एकत्व मानें तो भिन्नपना कहाँ माना जायेगा?

यहाँ कोई कहे कि-समस्त पदार्थों के मध्य में सूक्ष्मरूप ब्रह्म के अंग हैं उनके द्वारा सब जुड़ रहे हैं। उससे कहते हैं:-

जो अंग जिस अंग से जुड़ा है वह उसी से जुड़ा रहता है या टूट-टूटकर अन्य-अन्य अंगों से जुड़ता रहता हैं? यदि प्रथम पक्ष ग्रहण करेगा तो सूर्यादि गमन करते हैं, उनके साथ जिन सूक्ष्म अंगों से वह

जुड़ता है वह गमन करेंगे । तथा उनके गमन करने से वे सूक्ष्म अंग अन्य स्थूल अंगों से जुड़े रहते हैं वे भी गमन करेंगे-इस प्रकार सर्व लोक अस्थिर हो जायेगा । जिस प्रकार शरीर का एक अंग खींचने पर सर्व अंग खिंच जाते हैं; उसी प्रकार एक पदार्थ के गमनादि करने से सर्व पदार्थों के गमनादि होंगे सो भासित नहीं होता। तथा यदि द्वितीय पक्ष ग्रहण करेगा तो अंग टूटने से भिन्नपना हो ही जाता है, तब एकत्वपना कैसे रहा? इसलिये सर्व-लोकके एकत्वको ब्रह्म मानना कैसे सम्भव हो सकता है?

तथा एक प्रकार यह है कि- पहले एक था, फिर अनेक हुआ, फिर एक हो जाता है; इसलिये एक है। जैसे जल एक था सो बर्तनों में अलग-अलग हुआ, फिर मिलता है तब एक हो जाता है। तथा जैसे- सोने का एक डला था, सो कंकन-कुण्डलादिरूप हुआ, फिर मिलकर सोने का डला हो जाता है। उसी प्राकर ब्रह्म एक था, फिर अनेकरूप हुआ और फिर एक होगा इसलिये एक ही है।

इस प्रकार एकत्व मानता है तो जब अनेकरूप हुआ तब जुड़ा रहा या भिन्न हुआ? यदि जुड़ा रहा कहेगा तो पूर्वोक्त दोष आयेगा। भिन्न हुआ कहेगा तो उस काल तो एकत्व नहीं रहा। तथा जल सुवर्णादिक को भिन्न होनेपर भी एक कहते हैं वह तो एक जाति अपेक्षा से कहते हैं, परन्तु यहाँ सर्व पदार्थों की एक जाति भासित नहीं होती। कोई चेतन है, कोई अचेतन है, इत्यादि अनेक रूप हैं; उनकी एक जाति कैसे कहें? तथा पहले एक था, फिर भिन्न हुआ मानते हैं तो जैसे एक पाषाण फूटकर टुकड़े हो जाता है उसी प्रकार ब्रह्म के खण्ड हो गये, फिर उनका इकट्ठा होना मानता है तो वहाँ उनका स्वरूप भिन्न रहता है या एक हो जाता है? यदि भिन्न रहता है तो वहाँ अपने-अपने स्परूप से भिन्न ही हैं और एक हो जाते हैं तो जड़ भी चेतन हो जायेगा व चेतन जड़ हो जायगा। वहाँ अनेक वस्तुओं की एक वस्तु हुई तब किसी कालमें अनेक वस्तु, किसी कालमें एक वस्तु ऐसा कहना बनेगा, 'अनादि-अनन्त एक ब्रह्म है'-ऐसा कहना नहीं बनेगा ।

तथा यदि कहेगा कि लोक-रचना होने से व न होने से ब्रह्म जैसा का तैसा ही रहता है, इसलिये ब्रह्म अनादि-अनन्त है। तो हम पूछते हैं कि लोक में पृथ्वी, जलादिक देखे जाते हैं वे अलग नवीन उत्पन्न हुए हैं या ब्रह्म ही इन स्वरूप हुआ है ? यदि अलग नवीन उत्पन्न हुए हैं तो वे न्यारे हुए, ब्रह्म न्यारा रहा; सर्वव्यापी अद्वैत ब्रह्म नहीं ठहरा। तथा यदि ब्रह्म ही इन स्वरूप हुआ तो कदाचित् लोक हुआ, कदाचित् ब्रह्मा हुआ, फिर जैसेका तैसा कैसे रहा?

तथा वह कहता है कि- सभी ब्रह्म तो लोकस्वरूप नहीं होता, उसका कोई अंश होता है। उससे कहते हैं-जैसे समुद्र का एक बिन्दु विषरूप हुआ, वहाँ स्थूल दृष्टि से तो गम्य नहीं है, परन्तु सूक्ष्मदृष्टि देने पर तो एक बिन्दु अपेक्षा समुद्र के अन्यथापना हुआ। उसी प्रकार ब्रह्मका एक अंश भिन्न होकर लोकरूप हुआ, वहाँ स्थूल विचार से तो कुछ गम्य नहीं है, परन्तु सूक्ष्म विचार करने पर तो एक अंश अपेक्षा से ब्रह्म के अन्यथापना हुआ। यह अन्यथापना और तो किसी के हुआ नहीं है।

इस प्रकार सर्वरूप ब्रह्मको मानना भ्रम ही है।

तथा एक प्रकार यह है- जैसे आकाश सर्वव्यापी एक है, उसी प्रकार ब्रह्म सर्वव्यापी एक है। यदि इस प्रकार मानता है तो आकाशवत् बड़ा ब्रह्मको मान, और जहाँ घटपटादिक हैं वहाँ जिस प्रकार आकाश है उसी प्रकार ब्रह्म भी है- ऐसा भी मान। परन्तु जिस प्रकार घटपटादिक को और आकाश को एक ही कहे तो कैसे बनेगा? उसी प्रकार लोकको और ब्रह्म को एक मानना कैसे सम्भव है? तथा आकाश का लक्षण तो सर्वत्र भासित है, इसलिये उसका तो सर्वत्र सद्भाव मानते हैं; ब्रह्म का लक्षण तो सर्वत्र भासित नहीं होता, इसलिये उसका सर्वत्र सद्भाव कैसे मानें? इस प्रकार से भी सर्वरूप ब्रह्म नहीं है।

ऐसा विचार करने पर किसी भी प्रकार एक ब्रह्म सम्भावित नहीं है। सर्वपदार्थ भिन्न-भिन्न ही भासित होते हैं।

यहाँ प्रतिवादी कहता है कि-सर्व एक ही है, परन्तु तुम्हे भ्रम है

इसलिये तुम्हें एक भासित नहीं होता। तथा तुमने युक्ति कही सो ब्रह्मका स्परूप युक्तिगम्य नहीं है, वचन अगोचर है। एक भी है; अनेक भी है; भिन्न भी है, मिला भी है। उसकी महिमा ऐसी ही है।

उससे कहते हैं कि- प्रत्यक्ष तुझको व हमको व सबको भासित होता है उसे तो तू भ्रम कहता है। और युक्ति से अनुमान करें तो तू कहता है कि सच्चा स्परूप युक्तिगम्य है ही नहीं। तथा वह कहता है- सच्चा स्वरूप वचन अगोचर है तो वचन बिना कैसे निर्णय करें? तथा कहता है- एक भी है, अनेक भी है; भिन्न भी है, मिला भी है; परन्तु उनकी अपेक्षा नहीं बतलाता; बावले की भाँति ऐसे भी है, ऐसे भी है- ऐसा कहकर इसकी महिमा बतलाता है। परन्तु जहाँ न्याय नहीं होता वहाँ झूठे ऐसा ही वाचालपना करते हैं सो करो, न्याय तो जिस प्रकार सत्य है उसी प्रकार होगा.....।

इस जगत में एक ही आत्मा है ऐसा अज्ञानी मानता है, परन्तु वस्तु स्वरूप ऐसा नहीं है। जैसा है वैसा नहीं माने तो विपरीतता का पोषण होता है। अद्वैत ब्रह्म को सर्वव्यापी, सर्व का कर्त्ता मानते हैं। परन्तु एक ही आत्मा मानना वह वस्तुस्वरूप नहीं है, वह तो मात्र मिथ्याकल्पना करता है। यदि सर्वव्यापी मानने में आये तो सर्व पदार्थ भिन्न-भिन्न दिखते हैं और उनके स्वभाव भिन्न-भिन्न दिखते है, शरीर जड़ है और आत्मा चेतन है तो फिर सबको एक कैसे माना जायें? एक मानने से विपरीत मान्यता होती है। निम्न प्रकारों की स्थिति में एक माना जा सकता है।

☞ एक प्रकार तो यह है कि वस्तुयें भिन्न-भिन्न है; परन्तु समुदाय की कल्पना पूर्वक कोई एक नाम दिया जाये। जैसे हाथी-घोड़ा आदि भिन्न-भिन्न है, फिर भी उन सबके समुदाय को सैन्य कहने में आता है। सैन्य नाम की कोई अलग वस्तु नहीं है, वैसे ही समस्त पदार्थों का समुदायात्मक नाम ब्रह्म रखने में आया होवे तो भी ब्रह्म नामकी कोई विशेष अलग वस्तु नहीं है।

☞ दूसरा प्रकार यह है कि व्यक्ति अपेक्षा तो सभी पदार्थ भिन्न-भिन्न है, जैसे कि सौ घोड़े व्यक्ति की अपेक्षा तो भिन्न-भिन्न है; परन्तु घोड़ा जाति की अपेक्षा से एक है। आकारादि की समानता देखकर कल्पना पूर्वक एक जाति कहने में आती है। अब यह

जाति घोड़ा से अलग वस्तु नहीं हैं। जैसे लाख मण गेंहूँ को जाति अपेक्षा से एक कहते हैं, परन्तु उसके दानें भिन्न-भिन्न हैं, वैसे ही अनन्त आत्माओं को जाति अपेक्षा से एक ब्रह्म मानने में आवे तो इससे ब्रह्म की जाति अलग वस्तु नहीं हैं । अतः ब्रह्म कोई अलग है-यह मात्र कल्पना ही सिद्ध होती है।

☞ एक प्रकार यह है कि प्रत्येक पदार्थ भिन्न-भिन्न है, उनके मिलाप से जो एक स्कंध होता है उसे एक कहते हैं। जैसे जल के परमाणु भिन्न-भिन्न हैं, फिर भी पिण्डरूप दिखते हैं। उस पानी के समुदाय को नदी अथवा समुद्र आदि कहने में आता है। पृथ्वी के परमाणुओं का मिलाप होने पर घटादिक कहते हैं। इस स्कंध को भिन्न करो तो भिन्न पड जाता है। समुद्र व घटादिक परमाणुओं से भिन्न वस्तु नहीं है। बहुत पानी के परमाणुओं के पिण्ड को समुद्र अथवा नदी कहा, परन्तु वह कोई भिन्न वस्तु नहीं है, वैसे ही अनन्त आत्मा और जड़ के समुदाय को ब्रह्म कहते हैं; परन्तु इससे ब्रह्म नामक भिन्न वस्तु सिद्ध नहीं होती।

इस जगत में सत्य क्या है-यह जानना चहिये। पराधीनता का भाव जिसको दुःखदायक लगता है वह विचार करे कि करोड़ों रूपये एकत्रित हुए उसमें आत्मा को क्या लाभ? आत्मा की चतुराई के कारण रूपये नहीं मिलते, पूर्व के पुण्योदय से मिलते हैं। पुण्य समाप्त होने पर राज्यपद भी चला जाता है। जहाँ तक पूर्व का पुण्य था वहाँ तक संयोग दिखते हैं। आत्मा नित्यानन्द है, पुण्य-पाप क्षणिक है। धर्मात्मा संयोगों और राज-पाट सम्बन्धी राग को छोड़ता है। पर में सुख नहीं हैं-ऐसा समझकर वैराग्य लाकर मुनिपद लेता है। पूर्व में जैसे शुभाशुभभाव किये हों-उस प्रमाण में संयोग दिखते हैं। इस प्रकार कार्य में अन्तर दिखे तो उसके कारणरूप भाव में भी अन्तर होना चाहिये। अतः आत्मायें भिन्न-भिन्न है, उनके भाव भिन्न-भिन्न है, उनके प्रारब्ध भिन्न-भिन्न और मिलने वाले संयोग भिन्न-भिन्न हैं, सब होकर एक आत्मा नहीं हैं; इसलिये कोई ब्रह्म भिन्न नहीं ठहरता।

☞ एक प्रकार यह है कि अंग भिन्न-भिन्न है, हाथ-पैर भिन्न-भिन्न है, और जिसके वे अंग हैं ऐसा अंगी एक है, जैसे नेत्र, पैर, हाथ आदि भिन्न-भिन्न है, परन्तु जिसके वे भिन्न-भिन्न अंग है वह मनुष्य तो एक है; उसी प्रकार समस्त पदार्थ तो अंग है और जिसके ये भिन्न-भिन्न अंग है-ऐसा अंगी ब्रह्म एक है ऐसा माने तो हाथ या पैर

के टुकड़े करने पर देह तथा अंग का एकपना नहीं रहता, वे अंग जुड़े हुए रहे वही तक एक शरीर नाम पाते हैं। यदि एक ही हो तो भिन्न नहीं हो सकते। वैसे ही लोक में पदार्थों में भिन्नपना प्रगट दिखता है तो उन्हें एक किस प्रकार माना जाये? यह आत्मा भिन्न है और दूसरी आत्मा भिन्न है। एक मौसम्मी खाता हो और दूसरा दाल-भात खाता होता है। तब दोनों एक किसप्रकार हो सकते हैं? भिन्न होने पर भी एकपना मानने में आये तो भिन्नपना कहाँ मानोगे? अतः सभी जड़ और चेतन अंग है और अंगी एक है-यह बात मिथ्या है। यदि एक होवे तो भिन्न-भिन्न नहीं दिख सकते। भिन्न-भिन्न पदार्थ भिन्न-भिन्न काम करते हैं, यदि उन्हें एक ही पदार्थ मानने में आवे तो भिन्न-भिन्न कार्य नहीं दिखना चहिये। अतः सब होकर एक मानना मिथ्या हैं।

जड़ते जड़ त्रण काल मां चेतन चेतन तेम;
प्रगट अनुभवरूप है, संशय तेमा केम?

यहाँ कोई ऐसा कहे कि सभी पदार्थों के मध्य में सूक्ष्मरूप ब्रह्म का अंग है उसके द्वारा सभी पदार्थ जुड़े रहते हैं?

उनसे कहते हैं कि जो अंग जिस अंग से जुड़ा हुआ है उसी के साथ जुड़ा हुआ रहता है या उस अंग से छूटकर अन्य-अन्य अंग के साथ जुड़ा करता है ? यदि प्रथम पक्ष ग्रहण किया जाये अर्थात् सब अंगो का एक अंगी होवे तो कार्य भिन्न-भिन्न नहीं दिखे। सूर्य के गमन करने के साथ ही सभी अंग चलने चाहिये। सबके साथ ब्रह्म जुड़ा हुआ होवे तो एक के गमन के साथ ही सभी गमन करने लगें, इससे स्थूल व सूक्ष्म सभी अंग गमन करने लगें और यह सारी पृथ्वी अस्थिर हो जाये। अतः सबके मध्य में एक ब्रह्म रहता है-यह बात मिथ्या है।

जैसे शरीर का एक अंग खिचनें से सारा ही शरीर खिंचता है; वैसे ही सभी होकर एक होवे तो एक के गमन करने पर सबको गमन करना चाहिये, परन्तु ऐसा होता भासित नहीं होता । अतः सूक्ष्म ब्रह्म सबसे जुड़ा हुआ है-ऐसा कहते हो तो वह ठीक नहीं हैं।

तथा दूसरा पक्ष ग्रहण किया जावे तो उसमें भी दोष है। एक अंग टूट जाये तो भिन्न हो जाता है और दूसरे में जुड़े तो एकपना किस प्रकार सिद्ध होवे; अतः सिद्ध होता है कि 'सर्वलोक के एकपनें को ब्रह्म मानना' मात्र भ्रम है। सब होकर एक आत्मा नहीं है। यदि अद्वैत ही हो तो वर्तमान में भूल क्या? एक ही वस्तु हो तो शास्त्र किसलिये बनाये? और

समझना क्या? अतः सब होकर अद्वैत नहीं है। वस्तुस्थिति का परिज्ञान नहीं होवे से कल्पना से ऐसा मानते हैं।

तथा "एकोऽहं बहुस्यां"- ऐसा कहते हैं। पहले ब्रह्म एक था, उसमे से वहुत हुए कहते हैं। कोई शून्य में से हुए कहते हैं। जो वस्तु अभावरूप हो वह नई नहीं होती और जो हो उसका सर्वथा नाश नहीं होता, परन्तु रूपांतर होता है। जैसे खरगोश के सींग नहीं तो वे त्रिकाल में भी नहीं होते। जो हो वह अवस्थांतर को पाती है, परन्तु जो हो उसका सर्वथा नाश हो-ऐसा नहीं होता ।

वे दलील (तर्क) करते हैं कि पहले तो एक था फिर वह अनेक हुआ, फिर वह एक हो जाता है- इसलिये एक है। जैसे जल एक था, वह अलग-अलग बर्तनों में अलग-अलग हुआ; फिर भी जब वह मिलता है तब एक हो जाता है- इस कारण वह एक है। अथवा जैसे सोने का पिण्ड एक है वह कंकण-कुंडलादिरूप हुआ तथा फिर से वह एक सोने का पिण्ड बन जाता है; वैसे ही ब्रह्म एक था किन्तु बाद में अनेकरूप हुआ-तथा वह एक हो जाता है। इस कारण वह एक है। यदि इस प्रकार एकपना मानने में आवे तो जब अनेकरूप हुआ तब वह जुड़ा हुआ रहा या भिन्न-भिन्न रहा? सुवर्ण में से आभूषण हुए, यदि वे अलग-अलग न होवे तो एक आभूषण के चले जानें पर सभी आभूषण चलने लगेगे। अनेक बर्तनों में पानी है; यदि वह एक होवे तो एक बर्तन का पानी खत्म होने पर सभी बर्तनों का पानी खत्म हो जाना चाहिये और भिन्न कहोगे तो एकपना नहीं रहता।

तथा सोने के आभूषणों को जाति अपेक्षा से एक कहने में आता है; परन्तु यहाँ एक जाति भासित नहीं होती। लकड़ी,शरीर आदि को कभी ज्ञान नहीं होगा, आत्मा जानता है कि मैं ज्ञान हूँ। जड़ में कभी चेतनपना नहीं आता। चेतन और जड़ की जाति अलग-अलग है। इस प्रकार अनेकरूप है, उन्हें एक जाति कैसें कहें? अतः जाति अपेक्षा एकपना मानना-यह मात्र कल्पना है- ऐसा पूर्व में कहा जा चुका है।

तथा वह ब्रह्म पहले एक था और पीछे से भिन्नपना मानते हो तो जैसे एक पत्थर के टुकड़े हो गये और फिर इकट्ठे हुए वैसे ब्रह्म के खण्ड हो गये और फिर इकट्ठा हुआ माने तो वहाँ वे इकट्ठे रहते हैं या अलग रहते हैं? यदि अलग-अलग रहते हैं तो जड़ चेतन हो जायेगा और चेतन जड़ हो जायेगा; परन्तु ऐसा नहीं होता। शरीर अनुसार

आत्मा हो तो शरीर अनुसार बुद्धि होना चाहिये; परन्तु किसी स्थूल शरीर वाले के बुद्धि कम हैं और पतले शरीर वाले को बुद्धि अधिक है। अतः शरीर और आत्मा भिन्न है। शरीर रोगी हो अथवा काला हो तो उसके साथ क्या सम्बन्ध हैं? शरीर की जाति अनुसार चैतन्य की जाति हो तो मजबूत शरीर वाले के बहुत बुद्धि होनी चाहिये; परन्तु ऐसा नहीं है। अतः शरीर और आत्मा एक वस्तु नहीं हैं।

तथा यदि अनेक वस्तुयें एक हो जाये और एक की अनेक होवे तो दो प्रकार हो जाते है- तब सदा एक है अथवा अनादि-अनन्त परम ब्रह्म एक है-यह बात सिद्ध नहीं होती। शरीर से और विकार से धर्म मानना तो अनादि की भूल है ही, परन्तु अद्वैत ब्रह्म मानना-वह स्थूल नई भूल है- यह बताते हैं।

तुम कहोगे कि लोक रचना होने अथवा नहीं होने पर भी ब्रह्म अनादि-अनन्त रहता है। वहाँ हम पूछते हैं कि- जगत में यह पानी, लकड़ी आदि दिखते हैं वे अलग नये हुए हैं या ब्रह्म स्वयं इनरूप हुआ है? यदि नये हुए हैं तब तो ब्रह्म और ये वस्तुयें भिन्न-भिन्न सिद्ध होती है। तब तो ब्रह्म सर्वव्यापक नहीं हुआ। तथा यदि ब्रह्म किसी समय पृथ्वी, जलरूप हुआ है, तो वह किसी समय लोकरूप और किसी समय ब्रह्मरूप हुआ, परन्तु जैसा का तैसा किस प्रकार रहा? अतः ब्रह्म अनादि-अनन्त एकरूप नहीं रहा।

तब वे कहते हैं कि समस्त ब्रह्म तो लोकरूप नहीं होता, परन्तु उसका कोई अंश ही होता है। उससे हम कहते है कि जैसे समुद्र का एक बिन्दु विषरूप हुआ तो स्थूल दृष्टि से दिखता नहीं परन्तु सूक्ष्मदृष्टि से तो एक बिन्दु के जहर की अपेक्षा से समुद्र में अन्यथापना हुआ; ब्रह्म का एक अंश विकाररूप होकर लोकरूप हुआ हो तो स्थूल दृष्टि से नहीं दिखता, परन्तु सूक्ष्म दृष्टि की अपेक्षा से तो ब्रह्म में अन्यथापना हुआ, ब्रह्म अनेकपने को प्राप्त हुआ; अतः ब्रह्म में अन्यथापना हुआ। अग्नि, पानी आदि दिखते हैं वह ब्रह्म का अन्यथापना हुआ। इस प्रकार सर्वरूप ब्रह्म मानना भी भ्रम ही हैं।

☞ तथा एक प्रकार यह है कि जैसे आकाश सर्वव्यापी है; वैसे ही ब्रह्म भी सर्वव्यापी है। यदि इस प्रकार तुम मानते हो तो आकाश की तरह ब्रह्म को भी जड़ मानो; परन्तु ऐसा नहीं हो सकता। अथवा जहाँ घट-पटादिक हैं, वहाँ जैसे आकाश है वहाँ ब्रह्म मानो; परन्तु घट-पटादिक तथा आकाश को एक ही कहना- यह कैसे संभव है?

जैसे घट-पट भिन्न हो जाते हैं और आकाश भिन्न रहता है; वैसे ही ब्रह्म और लोक

का एकपना मानना कैसे संभव है? तथा आकाश का लक्षण तो सर्वत्र भासता है, परन्तु ब्रह्म का लक्षण तो सर्वत्र भासता नहीं; ज्ञानानन्द स्वरूप ब्रह्म सर्वत्र दिखता नहीं तो उसका सद्भाव सर्वत्र कैसे माना जाये?

इस प्रकार उपरोक्त प्रकार से सर्वरूप ब्रह्म कोई है ही नहीं। तथा ऐसे अनेक विचार करने पर किसी प्रकार भी एक ब्रह्म संभवता नहीं है, बल्कि सर्व पदार्थ भिन्न-भिन्न ही भासित होते हैं।

अब यहाँ प्रतिवादी कहता है कि सब एक ही है, परन्तु तुमको भ्रम होने से वह एक भासित नहीं होता। तथा तुमने युक्तियाँ कही, परन्तु ब्रह्म का स्वरूप युक्तिगम्य नहीं है, वह तो वचन अगोचर है। एक भी है, अनेक भी है, अलग भी है और मिला हुआ भी है-उसकी महिमा ही कोई ऐसी है?

उत्तरः- तुझे तथा सबको जो प्रत्यक्ष भासित होता है उसे तो तू भ्रम कहता है। और यदि वहाँ युक्तियाँ और अनुमान से कहते हैं तो वहाँ कहता है कि सच्चा स्वरूप युक्तिगत नहीं हैं,सच्चा स्वरूप तो वचन अगोचर है। अब वचन बिना निर्णय किस प्रकार हो? कभी एक कहता है, फिर अनेक कहता है तथा भिन्न कहता है, यद्वा तद्वा बोलता है। युक्ति-अनुमान बतलाते हैं तो तू कहता है कि वचन अगोचर है। अतः कुछ निर्णय करने का प्रसंग ही नहीं रहता। मात्र जैसे-तैसे बोलकर उसकी महिमा बताना है यह क्या न्याय है? मात्र मिथ्या बाचालपना करता है तो कर, परन्तु न्याय तो जैसे सत्य होगा वैसे होगा।

सृष्टिकर्त्तावाद का निराकरण

.... तथा अब, उस ब्रह्मको लोकका कर्त्ता मानता हैं उसे मिथ्या दिखलाते हैं।

प्रथम तो ऐसा मानता हैं कि ब्रह्मको ऐसी इच्छा हुई कि-"एकोऽहं बहुस्यां" अर्थात् मैं एक हूँ सो बहुत होऊँगा।

वहाँ पूछते हैं-पूर्व अवस्था में दुःखी हो तब अन्य अवस्था को चाहे। सो ब्रह्मने एक अवस्था से बहुतरूप होने की इच्छा की तो उस एकरूप अवस्था में क्या दुःख था? तब वह कहता है कि दुःख तो नहीं था, ऐसा ही कौतूहल उत्पन्न हुआ। उसे कहते हैं-यदि पहले थोड़ा सुखी हो और कौतूहल करने से बहुत सुखी हो तो कौतूहल करने का विचार करे। सो ब्रह्मको एक अवस्था से बहुत अवस्थारूप होने पर बहुत सुख होना कैसे

सम्भव है? और यदि पूर्व ही सम्पूर्ण सुखी हो तो अवस्था किसलिये पलटे? प्रयोजन बिना तो कोई कुछ कर्त्तव्य करता नहीं है।

तथा पहले भी सुखी होगा, इच्छानुसार कार्य होनेपर भी सुखी होगा; परन्तु इच्छा हुई उसकाल तो दु:खी होगा? तब वह कहता है-ब्रह्मके जिस काल इच्छा होती है उसी काल ही कार्य होता है इसलिये दु:खी नहीं होता। वहाँ कहते है-स्थूल कालकी अपेक्षा तो ऐसा मानो; परन्तु सूक्ष्मकाल की अपेक्षा तो इच्छाका और कार्यका होना युगपत् सम्भव नहीं है। इच्छा तो तभी होती है जब कार्य न हो। कार्य हो तब इच्छा नहीं रहती। इसलिये सूक्ष्मकालमात्र इच्छा रही तब तो दु:खी हुआ होगा; क्योंकि इच्छा है सो ही दु:ख है, और कोई दु:खका स्वरूप है नहीं। इसलिए ब्रह्मके इच्छा कैसे बने?

फिर वे कहते हैं कि इच्छा होनेपर ब्रह्मकी माया प्रगट हुई, वह ब्रह्मको माया हुई तब ब्रह्म भी मायावी हुआ, शुद्धस्वरूप कैसे रहा? तथा ब्रह्मको और मायाको दंडी-दंडवत् संयोगसम्बन्ध है कि अग्नि-उष्णवत् समवायसम्बन्ध है। जो संयोगसम्बन्ध है तो ब्रह्म भिन्न है, माया भिन्न है; अद्वैत ब्रह्म कैसे रहा? तथा जैसे दंडी दंड को उपकारी जानकर ग्रहण करता है तैसे ब्रह्म मायाको उपकारी जानता है तो ग्रहण करता है, नहीं तो क्यों ग्रहण करे? तथा जिस मायाको ब्रह्म ग्रहण करे उसका निषेध करना कैसे सम्भव है? वह तो उपादेय हुई। तथा यदि समवायसम्बन्ध है तो जैसे अग्निका उष्णत्व स्वभाव है वैसे ब्रह्मका माया स्वभाव ही हुआ। जो ब्रह्मका स्वभाव है उसका निषेध करना कैसे सम्भव है? यह तो उत्तम हुई।

फिर वे कहते हैं कि ब्रह्म तो चैतन्य है, माया जड़ है; सो समवायसम्बन्धमें ऐसे दो स्वभाव सम्भवित नहीं होते। जैसे प्रकाश और अन्धकार एकत्र कैसे सम्भव हैं?

तथा वह कहता है- माया से ब्रह्म आप तो भ्रमरूप होता नहीं है, उसकी माया से जीव भ्रमरूप होता है। उससे कहते हैं-जिस प्रकार कपटी अपने कपट को आप जानता है तो आप भ्रमरूप नहीं होता, उसके कपट

से अन्य भ्रमरूप हो जाता है। वहाँ कपटी तो उसी को कहते हैं जिसने कपट किया, उसके कपट से अन्य भ्रमरूप हुए उन्हें तो कपटी नहीं कहते। उसी प्रकार ब्रह्म अपनी मायाको आप जानता है सो आप तो भ्रमरूप नहीं होता, परन्तु उसकी मायासे अन्य जीव भ्रमरूप होते हैं । वहाँ मायावी तो ब्रह्मही को कहा जायगा, उसकी माया से अन्य जीव भ्रमरूप हुए उन्हे मायावी किसलिये कहते हैं?

फिर पूछते हैं कि- वे जीव ब्रह्म से एक हैं या न्यारे हैं? यदि एक हैं तो जैसे कोई आप ही अपने अंगों को पीड़ा उत्पन्न करे तो उसे बावला कहते हैं; उसी प्रकार ब्रह्म आप ही जो अपने से भिन्न नहीं हैं ऐसे अन्य जीव उनको माया से दुःखी करता है सो कैसे बनेगा? तथा जो न्यारे हैं तो जैसे कोई भूत बिना ही प्रयोजन अन्य जीवों को भ्रम उत्पन्न करके पीड़ा उत्पन्न करता है उसी प्रकार ब्रह्म बिना ही प्रयोजन अन्य जीवों को माया उत्पन्न करके पीड़ा उत्पन्न करे सो भी बनता नहीं है।

इस प्रकार माया ब्रह्मकी कहते हैं सो कैसे सम्भव है?

फिर वे कहते हैं- माया होनेपर लोक उत्पन्न हुआ वहाँ जीवों के जो चेतना है वह तो ब्रह्म स्वरूप है, शरीरादिक माया है। वहाँ जिस प्रकार भिन्न-भिन्न बहुत से पात्रों में जल भरा है, उन सबमें चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब अलग-अलग पड़ता है, चन्द्रमा एक है; उसी प्रकार अलग-अलग बहुत से शरीरों में ब्रह्मका चैतन्यप्रकाश अलग-अलग पाया जाता है। ब्रह्म एक है, इसलिये जीवों के चेतना है सो ब्रह्मकी है।

ऐसा कहना भी भ्रम ही है; क्योंकि शरीर जड़ है इसमें ब्रह्मके प्रतिबिम्बसे चेतना हुई, तो घट-पटादि जड़ हैं उनमें ब्रह्मका प्रतिबिम्ब क्यों नहीं पड़ा और चेतना क्यों नहीं हुई?

तथा वह कहता है-शरीर को तो चेतन नहीं करता, जीवको करता है।

तब उससे पूछते हैं कि जीवका स्वरूप चेतन है या अचेतन? यदि चेतन है तो चेतनका चेतन क्या करेगा? अचेतन है तो शरीर व घटादिककी व जीव की एक जाति हुई। तथा उससे पूछते हैं- ब्रह्मकी और

जीवों की चेतना एक है या भिन्न है? यदि एक है तो ज्ञानका अधिक-हीनपना कैसे देखा जाता है? तथा यह जीव परस्पर- वह उसकी जानीको नहीं जानता और वह उसकी जानीको नहीं जानता, सो क्या कारण है? यदि तू कहेगा, यह घटउपाधि भेद है; तो घटउपाधि होने से तो चेतना भिन्न-भिन्न ठहरी। घटउपाधि मिटने पर इसकी चेतना ब्रह्म में मिलेगी या नाश हो जायगी? यदि नाश हो जायेगी तो यह जीव तो अचेतन रह जायेगा। और तू कहेगा कि जीव ही ब्रह्ममें मिल जाता है तो वहाँ ब्रह्ममें मिलने पर इसका अस्तित्व रहता है या नहीं रहता? यदि अस्तित्व रहता है तो यह रहा, इसकी चेतना इसके रही; ब्रह्ममें क्या मिला? और यदि अस्तित्व नहीं रहता है तो उसका नाश ही हुआ; ब्रह्ममें कौन मिला? यदि तू कहेगा कि ब्रह्मकी और जीवोंकी चेतना भिन्न है, तो ब्रह्म और सर्व जीव आपही भिन्न-भिन्न ठहरे। इस प्रकार जीवों की चेतना है सो ब्रह्मकी है-ऐसा भी नहीं बनता।

शरीरादि मायाके कहते हो सो माया ही हाड़-मांसादिरूप होती है या माया के निमित्तसे और कोई उनरूप होता है। यदि माया ही होती है तो मायाके वर्ण-गंधादिक पहले ही थे या नवीन हुए हैं? यदि पहले ही थे तो पहले तो माया ब्रह्मकी थी, ब्रह्म अमूर्तिक है वहाँ वर्णादि कैसे सम्भव हैं? और यदि नवीन हुए तो अमूर्तिकका मूर्तिक हुआ, तब अमूर्तिक स्वभाव शाश्वत नहीं ठहरा। और यदि कहेगा कि-मायाके निमित्तसे और कोई होता है, तब और पदार्थ तो तू ठहराता ही नहीं, फिर हुआ कौन?

यदि तू कहेगा-नवीन पदार्थ उत्पन्न होता है; तो वह माया से भिन्न उत्पन्न होता है या अभिन्न उत्पन्न होता है? मायासे भिन्न उत्पन्न हो तो मायामयी शरीरादिक किसलिये कहता है, वे तो उन पदार्थमय हुए। और अभिन्न हुए तो माया ही तद्रूप हुई, नवीन पदार्थ उत्पन्न किसलिये कहता है?

इस प्रकार शरीरादिक माया स्वरूप हैं ऐसा कहना भ्रम है।

तथा वे कहते हैं-मायासे तीन गुण उत्पन्न हुए-राजस, तामस, सात्त्विक। सो यह भी कहना कैसे बनेगा? क्योंकि मानादि कषायरूप भाव

को राजस कहते हैं, क्रोधादिकषायरूप भावको तामस कहते हैं, मन्दकषायरूप भावको सात्विक कहते हैं। सो यह भाव तो चेतनामय प्रत्यक्ष देखे जाते हैं और मायाका स्वरूप जड़ कहते हो सो जड़ से यह भाव कैसे उत्पन्न होंगे? यदि जड़के भी हों तो पाषाणादिक के भी होंगे, परन्तु चेतनास्वरूप जीवों ही के यह भाव दिखते हैं; इसलिये यह भाव माया से उत्पन्न नहीं हैं। यदि मायाको चेतन ठहराये तो यह मानें। सो माया चेतन ठहराने पर शरीरादिक माया से उत्पन्न कहेगा तो नहीं मानेंगे। इसलिये निर्धार कर; भ्रमरूप मानने से लाभ क्या है?

तथा वे कहते हैं- उन गुणों से ब्रह्मा, विष्णु, महेश यह तीन देव प्रगट हुए सो कैसे सम्भव है? क्योंकि गुणी से तो गुण होता है, गुण से गुणी कैसे उत्पन्न होगा? पुरूषसे तो क्रोध होगा, क्रोध से पुरूष कैसे उत्पन्न होगा? फिर इन गुणों की तो निन्दा करते हैं, इनसे उत्पन्न हुए ब्रह्मादिक को पूज्य कैसे माना जाता है? तथा गुण तो मायामयी और इन्हें ब्रह्मके अवतार कहा जाता है सो यह तो माया के अवतार हुए, इनको ब्रह्मका अवतार कैसे कहा जाता है? तथा यह गुण जिनके थोड़े भी पाये जाते हैं उन्हें तो छुड़ानेका उपदेश देते हैं और जो इन्हीं की मूर्ति उन्हें पूज्य मानें यह कैसा भ्रम है?

तथा उनका कर्त्तव्य भी इन मय भासित होता है। कौतूहलादिक व स्त्री सेवनादिक व युद्धादिक कार्य करते हैं सो उन राजसादि गुणों से ही यह क्रियाएँ होती हैं; इसलिये उनके राजसादिक पाये जाते हैं ऐसा कहो । इन्हें पूज्य कहना, परमेश्वर कहना तो नहीं बनता। जैसे अन्य संसारी हैं वैसे ये भी हैं।

तथा कदाचित् तू कहेगा कि- संसारी तो मायाके आधीन हैं सो बिना जाने उन कार्यो को करते हैं माया ब्रह्मदिक के आधीन है, इसलिये वे जानते ही इन कार्यों को करते हैं, सो यह भी भ्रम है। क्योंकि मायाके आधीन होने से तो काम क्रोधादिक ही उत्पन्न होते हैं और क्या होता है? सो इन ब्रह्मादिकों के तो काम-क्रोधादिक की तीव्रता पायी जाती है। काम

की तीव्रता से स्त्रियों के वशीभूत हुए नृत्य-गानादि करने लगे, विह्वल होने लगे, नानाप्रकार कुचेष्टा करने लगे; तथा क्रोधके वशीभूत हुए अनेक युद्धादि करने लगे; मान के वशीभूत हुए अपनी उच्चता प्रगट करने के अर्थ अनेक उपाय करने लगे; माया के वशीभूत हुए अनेक छल करने लगे; लोभ के वशीभूत हुए परिग्रह का संग्रह करने लगे- इत्यादि; अधिक क्या कहें? इस प्रकार वशीभूत हुए चीर हरणादि निर्लज्जों की क्रिया और दधि लूटनादि चोरोंकी क्रिया तथा रूण्डमाला धारणादि बावलों की क्रिया, बहुरूप धारणादि भूतोंकी क्रिया, गायें चराना आदि नीच कुलवालों की क्रिया इत्यादि जो निंद्य क्रियायें उनको तो करने लगे; इससे अधिक माया के वशीभूत होनेपर क्या क्रिया होती सो समझ में नहीं आता?

जैसे- कोई मेघपटल सहित अमावस्या की रात्रि को अन्धकार रहित माने; उसी प्रकार बाह्य कुचेष्टा सहित तीव्र काम-क्रोधादिकों के धारी ब्रह्मादिकों को मायारहित मानना है।

फिर वह कहता है कि- इनको काम-क्रोधादि व्याप्त नहीं होते, यह भी परमेश्वर की लीला है। इससे कहते हैं- ऐसे कार्य करता है वे इच्छा से करता है या बिना इच्छा के करता है? यदि इच्छा से करता है तो स्त्रीसेवन की इच्छाही का नाम काम हे, युद्ध करने की इच्छाही का नाम क्रोध है, इत्यादि इसी प्रकार जानना। और यदि बिना इच्छा करता है तो स्वयं जिसे न चाहे ऐसा कार्य तो परवश होने पर ही होता है, सो परवशपना कैसे सम्भव है? तथा तू लीला बतलाता है सो परमेश्वर अवतार धारण करके इन कार्यो की लीला करता है तो अन्य जीवों को इन कार्यों से छुड़ाकर मुक्त करने का उपदेश किसलिये देते हैं? क्षमा, सन्तोष, शील, संयमादिक उपदेश सर्व झूठा हुआ।

फिर यह कहता है परमेश्वर को तो कुछ प्रयोजन नहीं है। लोकरीतिकी प्रवृत्ति के अर्थ वह भक्तों की रक्षा, दुष्टों का निग्रह- उसके अर्थ अवतार धारण करता है। तो इससे पूछते हैं- प्रयोजन बिना चींटी भी कार्य नहीं करती, परमेश्वर किसलिये करेगा? तथा तूने प्रयोजन भी कहा कि-

लोकरीतिकी प्रवृति के अर्थ करता है। सो जैसे कोई पुरूष आप कुचेष्टा से अपने पुत्रों को सिखाये और वे उस चेष्टारूप प्रवर्ते तब उनको मारे तो ऐसे पिता को भला कैसे कहेंगे? उसी प्रकार ब्रह्मादिक आप काम-क्रोधरूप चेष्टा से अपने उत्पन्न किये लोगों को प्रवृत्ति करायें और वे लोग उस प्रकार प्रवृत्ति करें तब उन्हे नरकादि में डाले। इन्हीं भावों का फल शास्त्र में नरकादि लिखा है सो ऐसे प्रभु को भला कैसे मानें?

तथा तूने यह प्रयोजन कहा कि भक्तों की रक्षा, दुष्टों का निग्रह करना। सो भक्तों को दुःखदायक जो दुष्ट हुए, वे परमेश्वर की इच्छा से हुए या बिना इच्छा से हुए? यदि इच्छा से हुए तो जैसे कोई अपने सेवक को आप ही किसी से कहकर मराये और फिर उस मारने वाले को आप मारे, तो ऐसे स्वामी को भला कैसे कहेंगे? उसी प्रकार जो अपने भक्त को आप ही इच्छा से दुष्टों द्वारा पीड़ित कराये और फिर उन दुष्टों को आप अवतार धारण करके मारे,तो ऐसे ईश्वर को भला कैसें माना जाये?

यदि तू कहेगा कि बिना इच्छा दुष्ट हुए-तो या तो परमेश्वर को ऐसा आगामी ज्ञान नहीं होगा कि यह दुष्ट मेरे भक्तों को दुःख देंगे, या पहले ऐसी शक्ति नहीं होगी कि इनको ऐसा न होने दे। तथा उससे पूछते हैं कि यदि ऐसे कार्यके अर्थ अवतार धारण किया, सो क्या बिना अवतार धारण किये शक्ति थी या नहीं? यदि थी तो अवतार क्यों धारण किया? और नहीं थी तो बाद में सामर्थ्य होने का कारण क्या हुआ?

तब वह कहता है-ऐसा किये बिना परमेश्वर की महिमा प्रगट कैसे होती? उससे पूछते हैं कि-अपनी महिमा के अर्थ अपने अनुचरों का पालन करे, प्रतिपक्षियों का निग्रह करे; वही राग-द्वेष है। वह राग-द्वेष तो संसारी जीवका लक्षण है। यदि परमेश्वर के भी राग-द्वेष पाये जाते हैं तो अन्य जीवों को राग-द्वेष छोड़कर समताभाव करने का उपदेश किसलिये दें? तथा राग-द्वेष के अनुसार कार्य करने का विचार किया, सो कार्य थोड़े व बहुत काल लगे बिना होता नहीं है, तो उतने काल आकुलता भी परमेश्वर को होती होगी। तथा जैसे जिस कार्य को छोटा आदमी ही कर सकता हो उस

कार्य को राजा स्वयं आकर करे तो कुछ राजा की महिमा नहीं होती, निन्दा ही होती है। उसी प्रकार जिस कार्य को राजा व व्यंतर देवादिक कर सकें उस कार्य को परमेश्वर स्वयं अवतार धारण करके करता है-ऐसा मानें तो कुछ परमेश्वर की महिमा नहीं होती, निन्दा ही होती है।

तथा महिमा तो कोई और हो उसे दिखलाते हैं; तू तो अद्वैत ब्रह्म मानता है, महिमा किसको दिखाता है? और महिमा दिखलानेका फल तो स्तुति कराना है सो किससे स्तुति कराना चाहता है? तथा तू कहता है सर्व जीव परमेश्वर की इच्छानुसार प्रवर्तते हैं और स्वयंको स्तुति कराने की इच्छा है तो सबको अपनी स्तुतिरूप प्रवर्तित करों, किसलिये अन्य कार्य करना पड़े? इसलिए महिमा के अर्थ भी कार्य करना नहीं बनता।

फिर वह कहता है- परमेश्वर इन कार्यों को करते हुए भी अकर्त्ता है, उसका निर्धार नहीं होता। इससे कहते हैं-तू कहेगा कि यह मेरी माता भी है और बाँझ भी है तो तेरा कहा कैसे मानें? जो कार्य करता हैं उसे अकर्त्ता कैसे मानें? और तू कहता है निर्धार नहीं होता; सो निर्धार बिना मान लेना ठहरा तो आकाश के फूल, गधे के सींग भी मानों; परन्तु ऐसा असम्भव कहना युक्त नहीं है।

इस प्रकार ब्रह्मा, विष्णु, महेश को होना कहते हैं सो मिथ्या जानना।

फिर वे कहते हैं-ब्रह्मा तो सृष्टि को उत्पन्न करते हैं, विष्णु रक्षा करते हैं, महेश संहार करते हैं- सो ऐसा कहना भी सम्भव नहीं है; क्योंकि इन कार्यों को करते हुए कोई कुछ करना चाहेगा, कोई कुछ करना चाहेगा तब परस्पर विरोध होगा।

और यदि तू कहेगा कि यह तो एक परमेश्वर का ही स्वरूप है, विरोध किसलिये होगा? तो आप ही उत्पन्न करे, आप ही नष्ट करे- ऐसे कार्य में कौन फल है? यदि सृष्टि अपने को अनिष्ट है तो किसलिये उत्पन्न की, और इष्ट है तो किसलिये नष्ट की? और यदि पहले इष्ट लगी तब उत्पन्न की, फिर अनिष्ट लगी तब नष्ट कर दी- ऐसा है तो परमेश्वर स्वभाव अन्यथा हुआ कि सृष्टि का स्वरूप अन्यथा हुआ। यदि

प्रथम पक्ष ग्रहण करेगा तो परमेश्वर एक स्वभाव नहीं ठहरा। सो एक स्वभाव न रहने का कारण क्या हैं? वह बतला। बिना कारण स्वभाव का पलटना किसलिये होगा? और द्वितीय पक्ष ग्रहण करेगा तो सृष्टि तो परमेश्वर के आधीन थी, उसे ऐसी क्यों होने दिया कि अपने को अनिष्ट लगे?

तथा हम पूछते हैं कि- ब्रह्मा सृष्टि उत्पन्न करते हैं सो कैसे उत्पन्न करते हैं? एक प्रकार तो यह है कि जैसे-मन्दिर बनानेवाला चूना, पत्थर आदि सामग्री एकत्रित करके आकारादि बनाता है; उसी प्रकार ब्रह्मा सामग्री एकत्रित करके सृष्टि की रचना करता है। तो वह सामग्री जहाँ से लाकर एकत्रित की वह ठिकाना बतला और एक ब्रह्मा ने ही इतनी रचना बनायी सो पहले-बाद में बनायी होगी या अपने शरीर के हस्तादि बहुत किये होंगे? वह कैसे है सो बतला। जो बतलायेगा उसी में विचार करने से विरूद्ध भासित होगा।

तथा एक प्रकार यह है-जिस प्रकार राजा आज्ञा करे तदनुसार कार्य होता है,उसी प्रकार ब्रह्मा की आज्ञा से सृष्टि उत्पन्न होती है, तो आज्ञा किनको दी? और जिन्हे आज्ञा दी वे कहाँ से सामग्री लाकर कैसे रचना करते हैं सो बतला।

तथा एक प्रकार यह है- जिस प्रकार ऋद्धिधारी इच्छा करे तदनुसार कार्य स्वयमेव बनता है; उसी प्रकार ब्रह्म इच्छा करे तदनुसार सृष्टि उत्पन्न होती है, तब ब्रह्मा तो इच्छा ही का कर्त्ता हुआ, लोक तो स्वयमेव ही उत्पन्न हुआ। तथा इच्छा तो परमब्रह्मने की थी, ब्रह्मका कर्त्तव्य क्या हुआ जिससे ब्रह्मको सृष्टि उत्पन्न करने वाला कहा?

तथा तू कहेगा- परमब्रह्मने भी इच्छा की और ब्रह्माने भी इच्छा की तब लोक उत्पन्न हुआ, तो मालूम होता है कि केवल परमब्रह्म की इच्छा कार्यकारी नहीं है। वहाँ शक्तिहीनपना आया।

तथा हम पूछते हैं- यदि लोक केवल बनाने से बनता है तब बनानेवाला तो सुख के अर्थ बनायेगा, तो इष्ट ही रचना करेगा। इस लोक

में तो इष्ट पदार्थ थोड़े देखे जाते हैं, अनिष्ट बहुत देखे जाते हैं। जीवों में देवादिक बनाये सो तो रमण करने के अर्थ व भक्ति कराने के अर्थ इष्ट बनाये; और लट, कीड़ी, कुत्ता, सुअर, सिंहादिक बनाये सो किस अर्थ बनाये? वे तो रमणीक नहीं हैं, भक्ति नहीं करते, सर्व प्रकार अनिष्ट ही हैं। तथा दरिद्री, दुःखी नारकियों को देखकर अपने जुगुप्सा, ग्लानि आदि दुःख उत्पन्न हों- ऐसे अनिष्ट किसलिये बनाये?

वहाँ वह कहता है- जीव अपने पाप से लट, कीड़ी, दरिद्री, नारकी आदि पर्याय भुगतते हैं। उससे पूछते हैं कि- बाद में तो पाप ही के फल से यह पर्यायें हुई कहो, परन्तु पहले लोकरचना करते ही उनको बनाया तो किस अर्थ बनाया? तथा बाद में जीव पापरूप परिणमित हुए सो कैसे परिणमित हुए? यदि आप ही परिणमित हुए कहोगे तो मालूम होता है ब्रह्मा ने पहले तो उत्पन्न किये, फिर वे इसके आधीन नहीं रहे, इस कारण ब्रह्माको दुःख ही हुआ।

तथा यदि कहोगे-ब्रह्माके परिणमित करने से परिणमित होते हैं तो उन्हे पापरूप किसलिये परिणमित किया? जीव तो अपने उत्पन्न किये थे, उनको बुरा किस अर्थ किया? इसलिये ऐसा भी नहीं बनता।

तथा अजीवों में सुवर्ण, सुगन्धादिसहित वस्तुएँ बनायीं सो तो रमण करने के अर्थ बनायीं; कुवर्ण, दुर्गन्धादि सहित वस्तुएँ दुःखदायक बनायीं सो किस अर्थ बनायीं? इनके दर्शनादिसे ब्रह्माको कुछ सुख तो नहीं उत्पन्न होता होगा। तथा तू कहेगा पापी जीवों को दुःख देनेके अर्थ बनायी; तो अपने ही उत्पन्न किये जीव उनसे ऐसी दुष्टता किसलिये की, जो उनको दुःखदायक सामग्री पहले ही बनायीं? तथा धूल, पर्वतादि कुछ वस्तुएँ ऐसी भी हैं जो रमणीक भी नहीं हैं और दुःखदायक भी नहीं हैं- उन्हें किस अर्थ बनाया? स्वयमेव तो जैसी-तैसी ही होती हैं और बनानेवाला जो बनाये वह तो प्रयोजन सहित ही बनाता है; इसलिये ब्रह्माको सृष्टिका कर्त्ता कैसे कहा जाता है?

तथा विष्णु को लोकका रक्षक कहते हैं। रक्षक हो वह दो ही कार्य करता है-एक तो दुःख उत्पत्ति के कारण नहीं होने देता और एक विनष्ट

होने के कारण नहीं होने देता। सो लोक में तो दुःख ही की उत्पत्ति के कारण जहाँ-तहाँ देखे जाते हैं और उनसे जीवों को दुःख ही देखा जाता है। क्षुधा-तृषादि लग रहे हैं, शीत-उष्णादिक से दुःख होता है, जीव परस्पर दुःख उत्पन्न करते हैं, शस्त्रादि दुःख के कारण बन रहे हैं, तथा विनष्ट होने के अनेक कारण बन रहे हैं। जीवों को रोगादिक व अग्नि, विष, शस्त्रादिक पर्याय के नाश के कारण देखे जाते हैं, तथा अजीवों के परस्पर विनष्ट होने के कारण देखे जाते हैं। सो ऐसे दोनों प्रकार की ही रक्षा नहीं की तो विष्णु ने रक्षक होकर क्या किया?

वह कहता है-विष्णु रक्षक ही है। क्षुधा-तृषादिक के अर्थ अन्न-जलादिक बनाये हैं, कीड़ी को कण और कुन्जर को मन पहुँचता है, संकट में सहायता करता है। मृत्यु के कारण उपस्थित होने पर भी टिटहरी की भाँति उबारता है-इत्यादि प्रकार से विष्णु रक्षा करता है। उससे कहते हैं-ऐसा है तो जहाँ जीवों को क्षुधा-तृषादिक बहुत पीड़ित करते हैं और अन्न-जलादिक नहीं मिलते, संकट पड़ने पर सहाय नहीं होती, किंचित् कारण पाकर मरण हो जाता है, वहाँ विष्णु की शक्ति हीन हुई या उसे ज्ञान ही नहीं हुआ? लोक में बहुत तो ऐसे ही दुःखी होते हैं, मरण पाते हैं; विष्णु ने रक्षा क्यों नहीं की?

तब वह कहता है-यह जीवों के अपने कर्त्तव्य का फल है। तब उससे कहते हैं कि-जैसे शक्तिहीन लोभी झूठा वैद्य किसी का कुछ भला हो तो कहता है मेरा किया हुआ है; और जहाँ बुरा हो, मरण हो, तब कहता है इसकी ऐसी ही होनहार थी। उसी प्रकार तू कहता है कि भला हुआ वहाँ तो विष्णु का किया हुआ और बुरा हुआ सो इसके कर्त्तव्य का फल हुआ। इस प्रकार झूठी कल्पना किसलिये करें? या तो बुरा व भला दोनों विष्णु के किये कहो, या अपने कर्त्तव्य का फल कहो। यदि विष्णु का किया हुआ तो बहुत जीव दुःखी और शीघ्र मरते देखे जाते हैं सो ऐसा कार्य करे उसे रक्षक कैसे कहें? तथा अपने कर्त्तव्य का फल है तो करेगा सो पायेगा, विष्णु क्या रक्षा करेगा?

तब वह कहता है- जो विष्णु के भक्त हैं उनकी रक्षा करता है। उससे कहते हैं कि- यदि ऐसा है तो कीड़ी, कुन्जर आदि भक्त नहीं हैं उनको अन्नादिक पहुँचाने में व संकट में सहाय होने में व मरण न होने में विष्णु का कर्त्तव्य मानकर सर्वका रक्षक किसलिये मानता है, भक्तों ही का रक्षक मान। सो भक्तों का भी रक्षक नहीं दीखता, क्योंकि अभक्त भी भक्त पुरूषों को पीड़ा उत्पन्न करते देखे जाते हैं।

तब वह कहता है-कई जगह प्रहलादादिक की सहाय की है। उससे कहते हैं- जहाँ सहाय की वहाँ तो तू वैसा ही मान; परन्तु हम तो प्रत्यक्ष म्लेच्छ मुसलमान आदि अभक्त पुरूषों द्वारा भक्त पुरूषों को पीड़ित होते देख व मन्दिरादि को विध्न करते देखकर पूछते हैं कि यहाँ सहाय नहीं करता, सो शक्ति नहीं है या खबर ही नहीं है। यदि शक्ति नहीं है तो इनसे भी हीनशक्ति का धारक हुआ। खबर भी नहीं है तो जिसे इतनी भी खबर नहीं है सो अज्ञान हुआ।

और यदि तू कहेगा- शक्ति भी है और जानता भी है; परन्तु इच्छा ऐसी ही हुई, तो फिर भक्तवत्सल किसलिये कहता हैं?

इस प्रकार विष्णु को लोकका रक्षक मानना नहीं बनता।

फिर वे कहते हैं- महेश संहार करता है। सो उससे पूछते हैं कि-प्रथम तो महेश संहार सदा करता है या महाप्रलय होता है तभी करता है। यदि सदा करता है तो जिस प्रकार विष्णु की रक्षा करने से स्तुति की; उसी प्रकार उसकी संहार करने से निंदा करो। क्योंकि रक्षा और संहार प्रतिपक्षी हैं।

तथा यह संहार कैसे करता है? जैसे पुरूष हस्तादिसे किसीको मारे या कहकर मराये; उसी प्रकार महेश अपने अंगो से संहार करता है या आज्ञा से मराता है? तब क्षण-क्षण में संहार तो बहुत जीवों का सर्वलोक में होता है, यह कैसे-कैसे अंगों से व किस-किस को आज्ञा देकर युगपत् (एक साथ) कैसे संहार करता है? तथा महेश तो इच्छा ही करता है, उसकी इच्छा से स्वयमेव उनका संहार होता है; तो उसके सदाकाल मारनेरूप दुष्ट परिणाम ही रहा करते होंगे और अनेक जीवों को एक साथ

मारने की इच्छा कैसे होती होगी? तथा यदि महाप्रलय होनेपर संहार करता है तो परमब्रह्म की इच्छा होने पर करता है या उसकी बिना इच्छा ही करता है? यदि इच्छा होने पर करता है तो परमब्रह्मके ऐसा क्रोध कैसे हुआ कि सर्वका प्रलय करने की इच्छा हुई? क्योंकि किसी कारण बिना नाश करने की इच्छा नहीं होती और नाश करने की जो इच्छा उसीका नाम क्रोध है सो कारण बतला?

तथा तू कहेगा- परमब्रह्मने यह खेल बनाया था, फिर दूर कर दिया, कारण कुछ भी नहीं है। तो खेल बनानेवाले को भी खेल इष्ट लगता है तब बनाता है, अनिष्ट लगता है तब दूर करता है। यदि उसे यह लोक इष्ट-अनिष्ट लगता है तो उसे लोकसे राग-द्वेष तो हुआ। ब्रह्मका स्वरूप साक्षीभूत किसलिये कहते हो; साक्षीभूत तो उसका नाम है जो स्वयमेव जैसे हो उसी प्रकार देखता-जानता रहे। यदि इष्ट-अनिष्ट मानकर उत्पन्न करे, नष्ट करे, उसे साक्षीभूत कैसे कहें? क्योंकि साक्षीभूत रहना और कर्त्ता-हर्त्ता होना यह दोनों परस्पर विरोधी हैं; एक को दोनों सम्भव नहीं है।

तथा परमब्रह्म के पहले तो यह इच्छा हुई थी कि "मैं एक हूँ सो बहुत होऊँगा" तब बहुत हुआ। अब ऐसी इच्छा हुई होगी कि "मैं बहुत हूँ सो कम होऊँगा" सो जैसे कोई भोलेपन से कार्य करके फिर उस कार्य को दूर करना चाहे; उसी प्रकार परमब्रह्मने भी बहुत होकर एक होने की इच्छा की सो मालूम होता है कि बहुत होने का कार्य किया होगा सो भोलेपनही से किया होगा, आगामी ज्ञानसे किया होता तो किसलिये उसे दूर करने की इच्छा होती?

तथा यदि परमब्रह्म की इच्छा बिना ही महेश संहार करता है तो यह परमब्रह्मका व ब्रह्मका विरोधी हुआ।

फिर पूछते हैं- यह महेश लोकका संहार कैसे करता है? अपने अंगोंहीसे संहार करता है कि इच्छा होने पर स्वयमेव ही संहार होता है? यदि अपने अंगोंसे संहार करता है तो सबका एक साथ संहार कैसे करता है? तथा इसकी इच्छा होने से स्वयमेव संहार होता है; तब इच्छा तो

परमब्रह्मने की थी, इसने संहार क्यों किया?

फिर हम पूछते हैं कि-संहार होने पर सर्वलोक में जो जीव-अजीव थे वे कहाँ गये? तब वह कहता है-जीवों में जो भक्त थे वे तो ब्रह्म में मिल गये, अन्य माया में मिल गये।

अब इससे पूछते हैं कि- माया ब्रह्मसे अलग रहती है कि बाद में एक हो जाती है? यदि अलग रहती है तो ब्रह्मवत् माया भी नित्य हुई, तब अद्वैत ब्रह्म नहीं रहा। और माया ब्रह्ममें एक हो जाती है तो जीव माया में मिले थे वे भी माया के साथ ब्रह्ममें मिल गये तो महाप्रलय होने पर सर्वका परमब्रह्म में मिलना ठहरा ही, तब मोक्ष का उपाय किसलिये करें?

तथा जो जीव मायामें मिले वे पुनः लोकरचना होनेपर वे ही जीव लोक में आयेंगे कि वे ब्रह्ममें मिल गये थे इसलिये नये उत्पन्न होंगे? यदि वे ही आयेंगे तो मालूम होता है अलग-अलग रहते हैं, मिले क्यों कहते हो? और नये उत्पन्न होंगे तो जीवका अस्तित्व थोड़ेकाल पर्यन्त ही रहता है, फिर किसलिये मुक्त होने का उपाय करें?

तथा वह कहता है-पृथ्वी आदि हैं वे माया में मिलते हैं, सो माया अमूर्तिक सचेतन है या मूर्तिक अचेतन है? यदि अमूर्तिक सचेतन है तो अमूर्तिकमें मूर्तिक अचेतन कैसे मिलेगा? और मूर्तिक अचेतन है तो यह ब्रह्ममें मिलता है या नहीं? यदि मिलता है तो इसके मिलने से ब्रह्म भी मूर्तिक अचेतन से मिश्रित हुआ। और नहीं मिलता है तो अद्वैतता नहीं रही। और तू कहेगा- यह सर्व अमूर्तिक अचेतन हो जाते हैं तो आत्मा और शरीरादिक की एकता हुई, सो यह संसारी एकता मानता ही है, इसे अज्ञानी किसलिये कहें?

फिर पूछते हैं-लोकका प्रलय होने पर महेश का प्रलय होता है या नहीं होता? यदि होता है तो एक साथ होता है या आगे-पीछे होता है? यदि एक साथ होता है तो आप नष्ट होता हुआ लोक को नष्ट कैसे करेगा? और आगे-पीछे होता है तो महेश लोकको नष्ट करके आप कहाँ रहा, आप भी तो सृष्टि में ही था?

इस प्रकार महेश को सृष्टिका संहारकर्त्ता मानते हैं सो असम्भव है।

इस प्रकार व अन्य अनेक प्रकार से ब्रह्मा, विष्णु, महेशको सृष्टिका उत्पन्न करनेवाला, रक्षा करनेवाला, संहार करनेवाला मानना नहीं बनता; इसलिये लोकको अनादिनिधन मानना....।

अब वह ब्रह्म को लोक का कर्त्ता मानता है। उस सम्बन्धी मिथ्यापना दर्शाते हैं।-

प्रथम तो ऐसा मानते हैं कि- ब्रह्म को ऐसी इच्छा हुई कि "एकोऽहं बहुस्यां" मैं एक हूँ सो बहुत होऊँ।

वहाँ पूछते हैं कि- जो पूर्व अवस्था में दुःखी हो वह सुखी होने की इच्छा करता, तो यदि ब्रह्म ने अनेकरूप होने की इच्छा की तो उसे एकरूप अवस्था में क्या दुःख था?

तब वह कहता है कि दुःख तो नहीं था, परन्तु उसे ऐसा ही कौतूहल हुआ। तो कहते हैं कि निठल्ला मनुष्य होवे तो भैंसों को लड़ाता है अथवा अधिक सुख प्राप्ति के लिये कौतूहल करता है। यदि सर्वथा सुखी होवे तो कौतूहल नहीं करता। परन्तु यहाँ ब्रह्म का एक अवस्था से बहुअवस्था होने पर अधिक सुखी होना कैसे संभव है? तथा यदि पहले से ही सम्पूर्ण सुखी होवे तो वह अन्य अवस्था किसलिये पलटे? अतः तेरी बात खोटी हैं।

अनेक अवस्थाओं से जीव सुखी हो ऐसा नहीं बनता, वह तो उपाधि ओढ़ी है। और पहले से ही आनन्ददशा होवे तो आनन्द में से दुःख कैसे आवेगा?- ऐसा नहीं होता। प्रत्येक आत्मा सच्चिदानन्द प्रभु है। उसकी पर्याय में भूल है; वह अपनी भूल मिटावे तो सुधरता है। एक भूल मिटाने को कहता है और दूसरी भूल सुधारता है। अतः जीव भिन्न-भिन्न है।

यहाँ ब्रह्म अलग-अलग अवस्थायें पलटता है; किन्तु यदि वह सुखी होवे तो अवस्थायें पलटे नहीं। बिना प्रयोजन तो कोई कुछ भी कार्य नहीं करता है। तथा वह पूर्व में सुखी होगा; परन्तु थोड़ी इच्छा हुई उतने काल तो दुःखी हुआ। अतः वस्तु स्वरूप ऐसा- तुम्हारी मान्यतानुरूप संभवित नहीं हैं।

तब वह कहता है कि ब्रह्म को जिस काल में इच्छा होती है उसी काल में कार्य बन जाता है इससे वह दुःखी नहीं होता। वहाँ कहते हैं कि स्थूल काल की अपेक्षा से तो ऐसा मानो, परन्तू सूक्ष्म काल की अपेक्षा से तो इच्छा और उसके कार्य का युगपत् होना संभव नहीं है। इच्छा तो तभी होती है जब कार्य न हो और कार्य होने पर इच्छा नहीं हुई, अतः सूक्ष्मपने जितने काल इच्छा रही उतने काल दुःखी है; क्योंकि इच्छा है वही दुःख है।

सभी वस्तूयें- जड़ और चेतन अनादि अनन्त है, स्वतन्त्र है, कोई उनका कर्त्ता-हर्त्ता नहीं है। *हे जीव!*

क्या इच्छत खोवत सबै, है इच्छा दुःख मूल।
जब इच्छा का नाश तब, मिटै अनादि भूल ।।

इच्छा दुःख का कारण है। पूर्णानन्द स्वरूप को इच्छा नहीं होती। एक हूँ और बहुत होऊँ- वैसी इच्छा ही दुःखरूप है। इसकारण ब्रह्म के इच्छा की कल्पना कहते हैं वह मिथ्या है।

सृष्टि का कर्ता कोई नहीं है यह बात चल रही है। सृष्टि का अर्थ उत्पाद होता है वह उत्पाद तो पर्याय में होता है। वस्तु की उत्पत्ति नहीं होती। पर पदार्थ की पर्याय में उत्पत्ति तो उसके कारण से होती है। इस आत्मा के कारण से शरीर की क्रिया होती है ऐसा मानने वाला भी, सृष्टि का कर्त्ता ईश्वर है ऐसा मानने वाले के समान मिथ्यादृष्टि है

जो शरीर, मन और वाणी को माया के कारण से उत्पन्न हुआ कहते हैं तो उनसे कहते हैं कि शरीर माया से हुआ होवे तो शरीर तो स्पर्शादि वाला है, अतः यदि माया को स्पर्शादि पहले से हो तो माया रूपी सिद्ध हुई और वह माया ब्रह्म की थी तब तो ब्रह्म भी रूपी (मूर्तिक) सिद्ध हुआ। ईश्वर तो अरूपी है इसलिये अमूर्त्त से मूर्त्त नहीं हो सकता। अतः तेरी बात्त मिथ्या है। और यदि माया मे वर्णादि नहीं थे बल्कि नये हुए तो अमूर्त्त ब्रह्म रूपी हुआ। ब्रह्म ईश्वर अरूपी है, वह शाश्वत नहीं रहा। और कदाचित् माया के निमित्त से स्पर्शादिक हुए तो (तू) अन्य पदार्थ मानता नहीं तो उसके निमित्त से किस प्रकार हुए? तथा वे माया से अलग है या मायामयी है। यदि मायामयी है तो माया से शरीरादि उपजते है ऐसा नहीं रहा और यदि भिन्न है तो नये उत्पन्न हुए वह बात भी नहीं रहती। अतः इस प्रकार माया से शरीरादि उपजे- यह बात भी मिथ्या है और मायामयी कहना भी भ्रम हैं।

तथा तू कहता है कि ब्रह्म में से माया हुई और उसमें से तीन गुण हुए कहते हैं। यह बात भी खोटी है। राजस, तामस और सात्विक यह तीनों अवगुण हैं। ये तीन अवगुण माया में से हुए और माया ब्रह्म की है-ऐसा कहे तो ब्रह्म अवगुण वाला सिद्ध हुआ, परन्तु ऐसा नहीं है। वे भाव चेतनामय प्रत्यक्ष दिखते है अतः आत्मा में से हुए है, कर्म से नहीं हुए। मान वह राजस, क्रोध वह तामस और लोभादि की मंदता वह सात्विक है। वे मोहकर्म के कारण होते है- ऐसा कोई जैन नाम धराकर कहे तो वह भी मिथ्यादृष्टि है। क्रोधादि की

पर्याय वह जीव की पर्याय है। वह जीव का कार्य है; परन्तु कर्म का कार्य नहीं है । जैसे माया मे से ये अवगुण नहीं होते; वैसे ही कर्म के कारण भी ये अवगुण नहीं है, परन्तु ये चैतन्य की पर्याय में होते हैं। अतः ये चेतनामय भाव हैं। माया का स्वरूप तो जड़ है, तो जड़ से वे अवगुण कैसे होगें ? नहीं होते। उसी प्रकार जड़ कर्म से भी आत्मा को विकार नहीं होता। इस कारण कर्म के कारण से आत्मा को विकार मानना मिथ्यात्व है। असद्भूत व्यवहारनय से विकार को मूर्त्त कहा जाता है। विकार आत्मा में त्रिकाल नहीं रहता और कर्म के लक्ष्य से होता है इस कारण उसे मूर्त्त कहा है; परन्तु वास्तव मे विकार अरूपी जीव का भाव है ऐसा पहले निर्णय कर!

यदि क्रोधादि भाव जड़ को होते होवे तो पाषाणादि को भी होना चाहिये, परन्तु ऐसा नहीं है। बल्कि वे तो जीव में ही होते दिखते है, जड़ में होते नहीं दिखते। चेतन स्वयं पर्याय मे विकाररूप होने पर भी कर्म पर दोष डालने वाला वस्तु के स्वरूप को समझा ही नहीं है। आत्मा को अत्यन्त शुद्ध (पर्याय अपेक्षा भी शुद्ध) मानना और मलिनता माया के कारण मानना वह बात मिथ्या हैं। वे भाव जीव में ही होते दिखते हैं। अतः वे भाव माया से उत्पन्न नहीं है। यदि तू माया को चेतन ठहरावे तो माया से उत्पन्न कहें; परन्तु यदि माया को चेतन कहने में आवे तो माया के चेतन सिद्ध होने से उससे शरीरादि जड़ पदार्थ उत्पन्न हुए- ऐसा भी बनता नहीं। इससे अब तू निर्णय कर कि शरीरादि भिन्न-भिन्न पदार्थ हैं। भ्रम करने से कुछ लाभ नहीं है।

तथा वह कहता है कि गुणों में से ब्रह्मा आदि देव प्रगट हुए, तो यह कहना भी ठीक नहीं है। क्योंकि गुणों मे से गुणी नहीं होता, गुणी में से गुण पर्यायें होती है ऐसा बनता है; परन्तू पर्याय में से द्रव्य नहीं होता। आत्मा में से क्रोध हो, परन्तु क्रोध में से आत्मा नहीं होता। अतः राजस आदि में से ब्रह्म नहीं होता। तथा राजस आदि को तो दोष कहते हैं, उन दोषों में से ब्रह्मा आदि देव हो उन्हे पूज्य कैसे कहें ?

मायामय ब्रह्म को अवतार कहते हैं। थोड़े अवगुण हों उन्हे भी छुड़ाना चाहते हैं तो ब्रह्मादि तो दोष की मूर्ति है, तब उन्हे पूजनीक कैसे माना जाय ? और इन तीनो का कर्त्तव्य क्रोधादिमय भासता है; अतः वे पूजनीक नहीं कहला सकते। क्योंकि वे तो संसारी जैसे ही हुए और इससे समस्त संसारी जीवों को ब्रह्म आदि कहना पड़ेगा। तब वह कहता है कि संसारी तो माया के आधीन होते हैं, जबकि ब्रह्मादि तो माया के आधीन नहीं होते

बल्कि माया ब्रह्मादि के आधीन है। तो यह बात नहीं है। क्योंकि संसारी जीव माया के आधीन होते है तो काम- क्रोधादि होते है, ऐसे ही ब्रह्मादि के भी काम- क्रोधादि दिखाई देते हैं, अतः उसमें कुछ अन्तर नहीं रहा। क्योंकि काम के वश होकर नानाप्रकार की चेष्टा करते हैं, क्रोध के वश होकर लड़ाई आदि करते हैं और मान के आधीन होकर अपनी उच्चता चाहते हैं। अतः वे माया के आधीन हुए दिखते हैं। माया उनके आधीन होवे तो ऐसे एक भी प्रकार के कार्य नहीं होवे, इसलिये कुछ अन्तर नहीं है। संसारी जीव माया के आधीन होकर जो क्रोधादि कार्य करते है वैसे ही कार्य माया के वश हुए बिना ब्रह्मादि करे तो वे ब्रह्मादि यदि माया के वश होवें तो कितने क्रोधादि भाव करेंगे यह समझ में नहीं आता। अतः ब्रह्म में ऐसे क्रोधादि होने पर भी, उसे माया रहित है ऐसा मानना वह तो अंधकार को अंधकार रहित मानने जैसा है। ब्रह्मा, विष्णु और महेश कोई देव नहीं है, परन्तु वस्तुतः तो उत्पाद-व्यय-ध्रुव- ये तीनो द्रव्य के अंश है- ऐसा समझना।

अब वह कहता है कि ब्रह्मादिक को काम क्रोधादिक होते ही नहीं, बल्कि वे तो लीला करते हैं।

उससे कहते हैं कि वे लीला इच्छा पूर्वक करते हैं या बिना इच्छा के करते हैं? यदि इच्छा से करते हैं तो इच्छा स्वयं ही काम हैं और क्रोध से व्यापक नहीं है वह क्रोध के काम करना चाहे- ऐसा बनता नहीं। क्रोधादि तो प्रत्यक्ष दिखते है। अतः उन्हें इच्छा रहित मानना ठीक नहीं है। और इच्छा बिना वे कार्य होते हैं तो वह पराधीन ठहरा; परन्तु उसे पराधीन कैसे कहें? तथा स्वयं तो लीला करे और दूसरे को छोड़ने का उपदेश दे- यह भी ठीक नहीं है। स्वयं को लीला प्रिय है तो अन्य को छोड़ने को कैसे कहा जाय? इस कारण क्षमादि का उपदेश दे- यह भी ठीक नहीं है। स्वयं को लीला प्रिय है तो अन्य को छोड़ने को कैसें कहा जाय? इस कारण क्षमादि का उपदेश व्यर्थ ठहरता है। इस प्रकार भगवान लीला करते हैं- यह बात मिथ्या हैं। अतः भगवान ने लीला की हैं और अन्य को उसे छोड़ने का उपदेश देते हैं वैसे शास्त्र भी खोटे है।

तथा वह कहता है कि परमेश्वर को कुछ प्रयोजन नहीं; परन्तु भक्तों की मदद करने और दुष्टों का निग्रह करने के लिये अवतार धरता है । परन्तु प्रयोजन बिना तो कोई कुछ कार्य करता नहीं। तथा वह प्रयोजन लोगों की प्रवृति के लिये करता है तो वह बाप स्वयं कुचेष्टा करे और पुत्र को सिखावे वह कोई बराबर नहीं है। नरक-निगोद के भाव स्वयं

करना सिखावे और नरकादि में डाले तो ऐसे प्रभु को भला कैसे कहाँ जाये? तात्पर्य यह है कि ईश्वर का ऐसा कार्य नहीं होता। श्रीमद् ने लिखा है कि-"सृष्टि कर्ता- ऐसे ईश्वर को क्या खबर नहीं थी कि जैन पकेंगें और सृष्टिकर्ता ईश्वर का खण्डन करेंगे। अतः उन्हें उत्पन्न नहीं करना।"-परन्तु यह बात अत्यन्त मिथ्या है। प्रत्येक पदार्थ स्वतन्त्र स्वयं अपने कारण से त्रिकाल रहकर बदलता है; एक दूसरे का कोई कर्त्ता नहीं है। इसलिये ईश्वर ने सृष्टि बनाई-यह बात एकदम मिथ्या है।

एक परमाणु दूसरे परमाणु के आधार से नहीं रहता है; क्योंकि परमाणु में अधिकरण (आधार) नामका एक त्रिकाल गुण है। एक परमाणु दूसरे परमाणु के आधार से रहता है- ऐसा कहना निमित्त का कथन है, तो फिर आत्मा के कारण परमाणु रहता है- ऐसा कहना (मानना) तो मिथ्या मान्यता ही है।

आत्मा त्रिकाल शक्ति अपेक्षा से शुद्ध है और पर्याय में अशुद्ध है- यह बात नहीं समझने के कारण दोष माया के कारण हुआ- ऐसा माना है। तथा ईश्वर के स्वरूप को भी नहीं जाना है। भक्तों की रक्षा के लिये और दुष्टों के निग्रह के लिये ईश्वर अवतार लेता है ऐसा प्रयोजन मानता है। अर्थात् ईश्वर के बिना कुछ नहीं होता-ऐसा मानता है। जो जैन भी ऐसा मानते हैं कि आत्मा के बिना शरीर का चलना आदि नहीं होता, तो दोनो मान्यता अपेक्षा समान हुए। दोनो में से एक को भी आत्मा की स्वतन्त्रता का पता नहीं है- इसलिये वे मिथ्यादृष्टि हैं।

यहाँ सृष्टि का कर्त्ता कोई ईश्वर नहीं है- यह बात चल रही है। दुष्टों को निग्रह करे उसे ईश्वर कैसे कहा जाय? ईश्वर दण्ड दे, वह न्याय नहीं कहलाता।

तथा तू कहे कि इच्छा के बिना दुष्ट हुए तो इसका अर्थ तो यह हुआ कि या तो ईश्वर को ज्ञान ही नहीं था अथवा शक्ति नहीं थी। यदि पहले ईश्वर में शक्ति नहीं थी तो बाद में दुःख देने की शक्ति कहाँ से आई? यह कोई परमेश्वर की महिमा नहीं है। ये तो राग-द्वेष हुए। और यदि भगवान के ही राग-द्वेष हैं तो वह अन्य को राग-द्वेष छोड़ने को उपदेश कैसे देता है? इसलिये निश्चित हुआ कि सृष्टिकर्त्ता कोई है ही नहीं। तथा भगवान की इच्छानुसार कार्य नहीं होवे तो राग-द्वेष हुए बिना नहीं रहें तथा दुष्टों को दण्ड देने का कार्य तो हल्का मनुष्य करता है, स्वयं अवतार धारण करके दुःख (दण्ड) दे तो इससे भगवान की महिमा नहीं होती। अतः यह बात सत्य नहीं है।

तथा महिमा तो अन्य बताने के लिये होती है। तो जो अद्वैत ब्रह्म को मानता है उसे अन्य को महिमा बतलाना होता नहीं है। तथा अवतार धारण करके महिमा करावे वह भी ठीक नहीं है। इसलिये स्तुति कराने के लिये अवतार धारण करता है वह योग्य नहीं है। कोई भी आत्मा किसी परद्रव्य अथवा पर्याय का कर्त्ता नहीं है और आत्मा स्वभाव की अपेक्षा विकार का भी कर्त्ता नहीं है- ऐसा कहने का आशय है।

तथा परमेश्वर ये कार्य करता है, फिर भी अकर्ता कहते हैं; परन्तु उसका निर्धार नहीं होता तो वह यथार्थ नहीं है। जैसे यह मेरी माता भी है और बाँझ भी है- इसे कौन सत्य मानेगा ? अतः उसके द्वारा स्वयं कार्य करने पर भी कौन अकर्त्ता मानेगा ? तथा इसका निर्धार नहीं होता, तो निर्णय हुए बिना मानना तो गधे के सींग के समान है। अतः इसप्रकार असंभावित कहना ठीक नहीं है।

वह कहता है कि ब्रह्मा सृष्टि को उत्पन्न करता है, विष्णु रक्षा करता है तथा महेश संहार करता है। यह कहना भी मिथ्या है। यह तो वास्तव में उत्पाद-व्यय-ध्रुव की बात है। इसको नहीं समझने से इस प्रकार अलग-अलग कार्य करना मानते हैं। परन्तु इसमें तो विरोध आया। एक को इष्ट लगा और दूसरे को अनिष्ट लगा- यह तो विरोध हुआ। इस प्रकार परमेश्वर के स्वभाव में अन्यथापना हुआ। स्वामीनारायण पंथ में कहते हैं कि- एक ही ईश्वर मानना, दूसरा ईश्वर नहीं मानना, क्योंकि एक को बरसात बरसाना होवे और दूसरे को नहीं बरसाना होवे तो वहाँ विवाद होगा। एक ईश्वर के दो प्रकार होने का कारण क्या है ? कारण बिना ऐसा होता नहीं। सृष्टि तो ईश्वर के आधीन थी तो पहले इष्ट हुई और बाद में अनिष्ट कहाँ से हुई ? परन्तु वास्तव में सृष्टि का कोई कर्त्ता है ही नहीं।

यदि ईश्वर कर्त्ता है तो ईश्वर ने कहाँ खड़े रहकर सृष्टि बनाई ? और उसकी सामग्री कहाँ से आई ? यदि (कहो कि) ईश्वर, जगह और सामग्री अनादि की है- तो नया क्या बनाया ? अतः किसी ने सृष्टि बनाई ही नहीं। यदि एक साथ बनाई हो तो बहुत हाथ चाहिये और बहुत हाथ नहीं हो तो आगे पीछे हो, तब इच्छा अनुसार हुआ ही नहीं। अतः ईश्वर कर्त्ता है ही नहीं।

तथा जैसे राजा आज्ञा करे उस अनुसार कार्य हो वैसे ही ब्रह्मा की आज्ञा से सृष्टि ऊपजी तो उसने किसे आज्ञा दी ? और जिसे आज्ञा दी वह सामग्री कहाँ से लाया ? और

किस प्रकार रचना की? वह कहो।

तथा जैसे ऋद्धिधारी इच्छा करे उस अनुसार कार्य स्वयं बनता है, वैसे ही उस ब्रह्मा की इच्छा से कार्य होवे तो ब्रह्मा तो मात्र इच्छा का कर्ता हुआ, लोक तो स्वयं बना,उसमें ब्रह्मा का कर्तापना नहीं आया। तू कहेगा कि परम ब्रह्मा ने भी इच्छा की और ब्रह्मा ने भी इच्छा की तब लोक हुआ- तो इससे ऐसा निर्णय हुआ कि अकेले परम ब्रह्मा की इच्छा से लोक नहीं हुआ, इसलिये ब्रह्मा की इच्छा कार्यकारी नहीं है, इससे उसमें शक्तिहीनपना सिद्ध हुआ।

तथा केवल रचना करने से लोक बनता है तो जो बनाता है वह तो सुख के लिये बनाता है; परन्तु लोक में अच्छे पदार्थ तो कम हैं और खराब पदार्थ बहुत हैं। वहाँ देवादि तो रमण के अर्थ बनाये परन्तु चींटी, कुत्ते आदि किसलिये बनाये? वह कोई सृष्टि की इष्टता नहीं कहलाती और वे कोई भक्ति आदि भी नहीं करते। दरिद्री, नारकी आदि को देखने से घृणा होती है,- ऐसे पदार्थ किसलिये बनाये? इसलिये सृष्टि का कोई कर्त्ता नहीं है।

तथा वह कहता है कि हलके जीव अपने पाप कार्यों से दुःख भोगते हैं; तो उससे कहते हैं कि-पहले ऐसे किसलिये बनाये? पहले भगवान के आधीन थे और बाद में पाप करने लग गये तो बाद में आधीन नहीं रहे, इससे ब्रह्मा को दुःख ही हुआ, अतः वे ब्रह्मा के परिणामये परिणमते हैं तो-ऐसा भी नहीं है।

तथा अजीव पदार्थों में सोना, सुगंधादि पदार्थ तो रमण के लिये बनाये, परन्तु कुवर्ण-दुर्गन्धादि वस्तुयें किसलिये बनाई? यदि पापी जीवों को दुःख देने के लिये बनाई तो अपने ही बनाये हुए जीवों से ऐसी दुष्टता किसलिये की?

तथा विष्णु जगत का रक्षक है- ऐसा कहते हैं। रक्षक किसे कहते हैं कि जो सुख उत्पन्न होने के कारणों का नाश न होने दे; परन्तु लोक में तो दुःख के कारण प्रत्यक्ष देखने में आते हैं। भूख-प्यास आदि दिखते हैं। जबकि सदा तृप्त-तृप्त होना चाहिये। गर्मी पड़ती है, बर्फ पड़ती हैं, मनुष्य मर जाते हैं। यदि विष्णु रक्षक है तो वह कहाँ गया? इसलिये जगत का रक्षक कोई नहीं है। बम गिरते हैं और हजारों मनुष्य मर जाते हैं- ऐसे अरक्षा के कारण किसलिये बनाते हैं? शरीर में रोग होता है, उसे किसलिये होने देते हैं? आग लगती है और सैकड़ों मकान जल जाते हैं ऐसे नाश के कारण प्रत्यक्ष दिखते हैं। अतः

विष्णु रक्षक है-यह बात खोटी है; क्योंकि उसने सुख के कारण भी उत्पन्न नहीं किये।

तब कहता है- विष्णु रक्षक ही है, क्षुधादि के नाश के लिये अनाज आदि बनाये हैं, ऐसे विष्णु रक्षा करता है। तब उससे कहते हैं कि बहुत से जीव अनाज के बिना मर जाते हैं। वहाँ विष्णु में शक्ति नहीं थी या उसमें ज्ञान नहीं था? तब वह कहता है कि उन जीवों के अपने कर्त्तव्य का फल है, परन्तु वह योग्य नहीं है। जैसे कोई लोभी वैद्य रोगी ठीक होवे तो मेरी दवा से हुआ है- ऐसा कहे और अच्छा न होवे तो उसके कारण हुआ है- ऐसा कहे; इसी प्रकार विष्णु (कोई) अच्छा हुआ तो मेरा किया हुआ और खराब हुआ तो उसके कारण हुआ-वह तो लोभी शक्तिहीन झूठे वैद्य जैसा हुआ। या तो भँला अथवा बुरा जीव का किया कहे या विष्णु (अपना) किया कहे। तब जो ऐसा खराब काम करे उसे रक्षक कैसे कहें? और अपने कर्त्तव्य का फल कहे तो विष्णु के कुछ किया नहीं और यदि कहें कि भक्तों को विष्णु देता है, तो चींटी-हाथी आदि भगवान का भजन भी नहीं करते, फिर भी उन्हें अनाज पहुँचाता है तो यह बात तो सत्य नहीं है।

अब भक्तों की बात कहें तो अभक्त, भक्तों को भी पीड़ा आदि करते देखते हैं, वहाँ कोई सबकी सहायता नहीं करता। मन्दिर आदि तोड़ देते हैं, धर्म के विरोधी उन्हें मारते हैं, तो वहाँ विष्णु रक्षक है वह कहाँ गया? इसलिये विष्णु को रक्षक मानना भ्रम है। विष्णु में शक्ति नहीं थी तो दुष्ट जीवों से उसकी शक्ति हीन हुई, और ज्ञान नहीं था तो हीन ज्ञान वाला हुआ और पता था तो पीड़ा क्यों होने दी? अतः भक्त वत्सल भगवान है- यह भी सत्य नहीं है। इसलिये विष्णु को रक्षक मानना योग्य नहीं हैं

अब महेश की बात करते हैं:-

महेश संहार करता है, वह सदा संहार करता है या प्रलय के समय संहार करता है? यदि सदा संहार करता है तो उसकी निन्दा करनी चाहिये; क्योंकि संहारक और रक्षक परस्पर प्रतिपक्षी है। तथा महेश अपने अंगों से संहार करता है या किसी को आज्ञा करता है? यदि अपने अंगों से संहार करता हो तो सर्वजगत के पदार्थों का संहार कैसे करता है? तथा आज्ञा दी, तो किस-किसको दी? यह सब विरोध आता है। तू कहेगा कि महेश तो इच्छा ही करता है, तो संहार करने के परिणाम तो दुष्ट हैं। और महाप्रलय होने पर जो संहार होता है तो वह परम ब्रह्म की इच्छा से होता हे या उसकी इच्छा बिना होता है? उसकी इच्छा से होता है तो वह भी क्रोधी हुआ। तथा उसकी संहार करने की इच्छा क्यों

हुई ? क्योंकि बिना इच्छा के हो वह पागल जैसी बात है। खेल करने वाले की तरह अपने को इष्ट लगे तब बनावे और अनिष्ट लगे तब नाश करे- यह तो राग-द्वेष हुए, साक्षीभूत परमब्रह्म का स्वरूप है- ऐसा नहीं रहा, क्योंकि कर्त्ता- हर्त्तापने के और साक्षीपने के विरोध है। साक्षीभूत तो उसे कहते हैं जो स्वयं हो उसे जाना-देखा करे; इसलिये ऐसी परस्पर विरोधी बात एक में संभव नहीं है।

तथा परम ब्रह्म को पहले ऐसी इच्छा हुई कि मैं एक हूँ सो बहुत होऊँ और बाद में इच्छा हुई कि मैं बहुत हूँ सो एक होऊँ - यह तो भोलेपन जैसा काम हुआ । भविष्य का विचार किये बिना किया, इसलिये वह भी ठीक नहीं है ।

तथा परमब्रह्म की इच्छा बिना महेश संहार करता है तो वह परमब्रह्म और ब्रह्मा दोनों का विरोधी हुआ- वह भी ठीक नहीं। तथा संहार होता है तब सर्व लोक के जीव और अजीव पदार्थ थे वे कहाँ गये ? भक्त ब्रह्म में मिले और अन्य पापी माया में मिले, तो माया है वह ब्रह्म से अलग रहती है या शामिल ? यदि अलग हो तो ब्रह्म की तरह माया भी नित्य ठहरी, इससे अद्वैत ब्रह्म न रहा। और माया ब्रह्म में मिल गयी तो पापी भी ब्रह्मरूप हुए इसलिये मोक्ष का उपाय करने की आवश्यकता रही नहीं। तथा जो जीव माया में मिले थे वे लोक रचना होने पर वापस आते हैं या नये जीव होते हैं ? यदि वे माया में मिले हुए जीव वापस आते हैं तो वहाँ भी वे जीव जुदे रहते हैं, इसलिये माया के साथ मिल जाते हैं यह बात नहीं रही और यदि अलग-अलग नहीं रहते तो जीव का अस्तित्व नहीं रहा इसलिये भी मोक्ष का उपाय करना व्यर्थ होता है।

अब अजीव की बात करते है:-

अजीव पदार्थ माया में मिल जाये तो माया सचेतन अमूर्तिक में अचेतन मूर्तिक पदार्थ किस प्रकार मिले ? यदि माया अचेतन मूर्तिक होवे तो वह भी परमब्रह्म में किस प्रकार मिलें ? और ब्रह्म में मिले तो परमब्रह्म मूर्तिक-अचेतन ठहरा अथवा मिश्रित हुआ और यदि ब्रह्म में नहीं मिलती तो अद्वैतता नहीं रही। इसलिये ब्रह्मा, विष्णु, महेश जगत के कर्ता, रक्षक, संहारक हैं- यह मानना मिथ्या हैं।

जगत के पदार्थ स्वयं-सिद्ध, अनादि-अनन्त हैं। इसलिये उनका कोई कर्ता नहीं, रक्षक नहीं और नाशक भी नहीं है; अतः कोई ईश्वर को कर्ता कहे वह बात खोटी है। जैन में रहकर कोई कहे कि आत्मा के कारण शरीर चलता है और कर्म का नाश आत्मा

करता है- ऐसा माने,तो जैसे ब्रह्मा जगत का कर्ता और महेश जगत का नाशक है-ऐसा मानने वाले की तरह यह भी मिथ्यादृष्टि है। कर्म तो जड़ पदार्थ हैं, उसकी पर्याय तो स्वयं नष्ट होती है, आत्मा उसका नाश नहीं करता। इसलिये आत्मा जड़ कर्म का नाश करता है-ऐसा मानने वाला मिथ्यादृष्टि हैं।

श्री समयसार में कहा है कि-"मैं षटकाय के जीवों का रक्षक हूँ"- ऐसा कोई साधु नाम धराकर माने तो वह जगत कर्ता ईश्वर की मान्यता वाले के समान मान्यता हुई-इस प्रकार दोनो की एकसमान मान्यता हुई अर्थात् वे दोनो मिथ्यादृष्टि हैं। आत्मा शरीर की पर्याय का सहायक है- ऐसा भी नहीं है; क्योंकि शरीर की अवस्था स्वतन्त्र होती है, उसकी उत्पत्ति होना या नाश होना वह उसके कारण होता है। उसके बदले आत्मा उसको करता है और नाश करता है-ऐसा मानना वह ब्रह्मा को उत्पादक और महेश को नाशक मानने वालों के जैसी मान्यता हुई; यह मिथ्यादृष्टि की मान्यता है। अर्थात् स्थूल गृहीत मिथ्यादृष्टि ब्रह्मा, विष्णु, महेश को मानते हैं, वैसी ही मान्यता जैन नाम धराकर करता है। उसकी बात भी इसमें साथ आ जाती हैं।

पृथ्वी, जल, अग्नि आदि जो पदार्थ हैं उनका महेश ने संहार किया- ऐसा कहे तो उनका नाश होने पर वे पदार्थ अमूर्त में मिल जाते हैं इससे वे अमूर्त हो जाते हैं और भिन्न रहते हैं तो अद्वैतता नहीं रहती। शरीरादि ब्रह्म में मिल जाते हैं इससे वे चेतन बन जाते हैं। यहाँ संसारी अज्ञानी जीव भी शरीर और आत्मा को एक मानते हैं (वह भी) उनके जैसा हुआ। परमब्रह्मा और अज्ञानी में कोई फर्क नहीं रहा अर्थात् परमब्रह्म अज्ञानी सिद्ध हुआ।

कोई इस प्रकार माने कि अभी शरीर और आत्मा एक है, सिद्ध होंगे तब भिन्न होते हैं- ऐसा मानने वाला अज्ञानी मिथ्यादृष्टि है।

शंकर जब लोक का नाश करता है तब शंकर का साथ में नाश होता हैं या आगे-पीछे होता है? यदि शंकर स्वयं ही नष्ट हो जाये तो पर का नाश किस प्रकार करे? उसी प्रकार कोई कहे कि हमने कर्मों का नाश किया तो तूने अपनी पर्याय का नाश किया या जड़ कर्म का नाश किया? दोनो पदार्थ भिन्न हैं इसलिये आत्मा पर का, कर्म का नाश नही करता। कर्म स्वयं सिद्ध पदार्थ है वह अपने ही कारण नाश को प्राप्त होता हैं, आत्मा उसका नाश नहीं करता। आत्मा स्वभाव दृष्टि करे अर्थात् जब विकार का नाश होता है

तब कर्म का नाश स्वयं के कारण हो जाता है। अतः शंकर लोक का नाश करता है- यह मानना मिथ्यात्व है।

इस प्रकार से ब्रह्मा, विष्णु, महेश को सृष्टि को ऊपजाने वाला, रक्षा करने वाला, और नाश करने वाला मानना-मिथ्या है । ऐसा समझकर लोक को अनादि-निधन मानना। ध्रुव गुण रक्षक और नवीन पर्याय हुई वह-उत्पाद और पूर्व की पर्याय का व्यय वह संहार है, इस प्रकार प्रत्येक आत्मा और पुद्गल आदि के विषय में मानना चाहिये। प्रत्येक पदार्थ में उत्पाद-व्यय- ध्रुवपना होने से उस पदार्थ में ब्रह्मा, विष्णु और महेशपना लागू पड़ता है। इसप्रकार कोई भिन्न ब्रह्मा, विष्णु, महेश नहीं है- ऐसा सिद्ध किया।

लोक के अनादि-निधनपने की पुष्टि

.....इस लोकमें जो जीवादि पदार्थ हैं वे न्यारे-न्यारे अनादिनिधन हैं; तथा उनकी अवस्था का परिवर्तन होता रहता है, उस अपेक्षा से उत्पन्न-विनष्ट होते कहे जाते हैं। तथा जो स्वर्ग-नरक द्वीपादिक हैं वे अनादिसे इसी प्रकार ही हैं और सदाकाल इसी प्रकार रहेंगे।

कदाचित् तू कहेगा-बिना बनाये ऐसे आकारादि कैसे हुए? सो हुए होंगे तो बनाने पर ही हुए होंगे। ऐसा नहीं है, क्योंकि अनादि से ही जो पाये जाते हैं वहाँ तर्क कैसा? जिसप्रकार तू परमब्रह्मका स्वरूप अनादिनिधन मानता है, उसीप्रकार उन जीवादिक व स्वर्गादिक को अनादिनिधन मानते हैं। तू कहेगा-जीवादिक व स्वर्गादिक कैसे हुए। हम कहेंगे परमब्रह्म कैसे हुआ? तू कहेगा- इनकी रचना ऐसी किसने की? हम कहेंगे- परमब्रह्मको ऐसा किसने बनाया? तू कहेगा-परमब्रह्म स्वयंसिद्ध है; हम कहेंगे-जीवादिक व स्वर्गादिक स्वयंसिद्ध हैं। तू कहेगा-इनकी और परमब्रह्मकी समानता कैसे सम्भव है? तो सम्भावना में दूषण बतला। लोकको नवीन उत्पन्न करना, उसका नाश करना, उसमें तो हमने अनेक दोष दिखाये। लोक को अनादिनिधन मानने से क्या दोष है? सो तू बतला।

यदि तू परमब्रह्म मानता है सो अलग कोई है ही नहीं; इस संसार में जीव हैं वे ही यथार्थ ज्ञान से मोक्षमार्ग साधन से सर्वज्ञ वीतराग होते हैं।

यहाँ प्रश्न है कि-तुम तो न्यारे-न्यारे जीव अनादिनिधन कहते हो; मुक्त

होने के पश्चात् तो निराकार होते हैं, वहाँ न्यारे-न्यारे कैसे सम्भव हैं?

समाधानः- मुक्त होनेके पश्चात् सर्वज्ञको दिखते हैं या नहीं दिखते? यदि दिखते हैं तो कुछ आकार दिखता ही होगा। बिना आकार देखे क्या देखा? और नहीं दिखते तो या तो वस्तु ही नहीं है या सर्वज्ञ नहीं है। इसलिये इन्द्रियज्ञानगम्य आकार नहीं है उस अपेक्षा निराकार हैं और सर्वज्ञज्ञान-गम्य हैं इसलिये आकारवान हैं। जब आकारवान ठहरे तब अलग-अलग हों तो क्या दोष लगेगा? और यदि तू जाति अपेक्षा एक कहे तो हम भी मानते हैं। जैसे गेहूँ भिन्न-भिन्न हैं उनकी जाति एक है; इस प्रकार एक मानें तो कुछ दोष नहीं है।

इस प्रकार यथार्थ श्रद्धानसे लोकमें सर्वपदार्थ अकृत्रिम भिन्न-भिन्न अनादिनिधन मानना। यदि वृथा ही भ्रमसे सच-झूठ का निर्णय न करे तो तू जाने, अपने श्रद्धान का फल तू पायेगा......।

इस लोक में जो जीवादिक पदार्थ हैं,वे भिन्न-भिन्न अनादि-निधन हैं। प्रत्येक द्रव्य अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से है और पर के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से नहीं-ऐसे स्वयं सिद्ध पदार्थ हैं। कर्म के रजकण अलग हैं, भाषा के रजकण अलग हैं। किसी रजकण का किसी अन्य रजकण के साथ सम्बन्ध नहीं है। वे पदार्थ (अपनी) अवस्था बदला करते हैं। इस कारण उन पदाथो को उपजते-विनशते कहते हैं। कोई पदार्थ को उत्पन्न नहीं करता तथा नष्ट भी नहीं करता-ऐसा वस्तु का स्वभाव है। ऐसा समझे नहीं और बाहर में-क्रियाकाण्ड में रुके तो उसको अंश मात्र भी धर्म नहीं होता। यह मार्ग कोई नया नहीं हैं, अनादि-निधन है-इसको बराबर समझना चाहिये।

आत्मा और पुद्गलादि अनन्त पदार्थ स्वयं सिद्ध हैं। उनको कोई नया उत्पन्न नहीं करता; परन्तु उनकी अवस्था बदलती है, उसको भी कोई अन्य नहीं पलटता। अपनी पर्याय की अपेक्षा से पदार्थ उत्पन्न और विनष्ट हुआ कहलाता है। पदार्थ उत्पन्न नहीं होता और नष्ट नहीं होता। तथा स्वर्ग-नरक, द्वीपादिक हैं वे अनादि से इसी प्रकार ही हैं, उन्हें किसी ने बनाया नहीं और सदा काल इसी प्रकार रहेगें। उर्ध्व, अधो, और मध्यलोक ध्रुवरूप रहता हैं। कोई उसका कर्त्ता या नाशक नहीं होता।

तथा कोई कहे कि सभी पदार्थों के आकार भिन्न-भिन्न है तो किसी के बनाये विना

होते नहीं? तो ऐसा भी नहीं है; क्योंकि अनादि से जो है उसमें तर्क क्या? जैसे परम ब्रह्म को अनादि-निधन मानते हैं, वैसे ही स्वर्गादि भी अनादि-निधन है। एक है वैसे ही अनेक भी अनादि-निधन हैं। तथा तुझे ऐसा हो कि जीवादि अथवा स्वर्गादिक किस प्रकार हुए? तो पूछते हैं कि परमब्रह्म किस प्रकार हुआ? तथा लोक की रचना किसने की? तो हम भी पूछते हैं कि परमब्रह्म ऐसा किसने बनाया? तू कहेगा कि परमब्रह्म स्वयं-सिद्ध है, तो हम भी कहते हैं कि स्वर्गादि भी स्वयं-सिद्ध है। परमब्रह्म और जीवादि की स्वयं-सिद्धता और अनादि-अनन्तता की समानता में कोई दोष नहीं है। तथा जीवादि से अलग परमब्रह्म कोई नहीं है, क्योंकि संसार में जीव है वह यथार्थ ज्ञान द्वारा मोक्षमार्ग साधन से सर्वज्ञ वीतराग होता है वही परमब्रह्म है।

आत्मा स्वयं अनन्त गुणों से परिपूर्ण भरा है। उसकी पर्याय में शुभाशुभ भाव होते हैं वह विकार है और शरीरादि पर है-ऐसे यथार्थ ज्ञान द्वारा मोक्षमार्ग प्रगट करे,उस साधन से वीतराग हुआ जाता है। यहाँ 'यथार्थ ज्ञान' द्वारा कहा है; परन्तु किसी क्रियाकाण्ड अथवा भक्ति आदि के साधन द्वारा सर्वज्ञ-वीतराग नहीं हुआ जाता। पर्यायबुद्धि छोड़कर स्वभावबुद्धि करे उसको यथार्थ ज्ञान द्वारा स्थिरता होती है; परन्तु असत्य ज्ञान से स्थिरता नहीं होती। प्रथम जगत के पदार्थों को जैसे हैं वैसे यथार्थ ज्ञान द्वारा जानना चाहिये। उस ज्ञान से मोक्षमार्ग का साधन होता है,उस साधन से जीव सर्वज्ञ-वीतराग होता है- वह परमब्रह्म है-ऐसे अनन्त परमब्रह्म हैं। एक अद्वैत परमब्रह्म है-ऐसा नहीं है।

प्रश्न:- तुम न्यारे-न्यारे जीव अनादि-निधन कहते हो, परन्तु मोक्ष होने के बाद तो निराकार होता है, तो वहाँ न्यारे-न्यारे किस प्रकार संभव है ?

उत्तर:- आत्मायें मुक्त होती हैं वे सर्वज्ञदेव को दिखती हैं या नहीं? यदि दिखती हैं तो उनके आकार न होवे तो वह पदार्थ दिखता नहीं। आत्मा, पुद्गल, आकाश आदि सभी पदार्थो का आकार होता है; क्योंकि यदि आकार न होवे तो वह वस्तु ही नहीं है और पदार्थ भिन्न-भिन्न न दिखते होवे तो वह जानने वाला सर्वज्ञ नहीं हैं। हाँ,उन पदार्थो का आकार इन्द्रियगम्य नहीं है इसलिये निराकर कहते हैं, परन्तु इसके कारण ज्ञानगम्य नहीं है- ऐसा नहीं है। बल्कि सर्वज्ञ के ज्ञान में तो प्रत्येक आत्मा का भिन्न-भिन्न आकार अपनी सत्ता से है-ऐसा ज्ञात होता है।

आकार होवे तो रूपी हो जाये-ऐसा भी नहीं है;परन्तु यदि आकार न हो तो अवस्तु हो जाती है। प्रत्येक पदार्थ का आकार भिन्न-भिन्न है-इसमें कोई दोष नहीं आता। जाति अपेक्षा से एकता मानते हैं तो इसमें कोई बाधा नहीं है। जैसे गेंहूँ जाति अपेक्षा से एक है, किन्तु प्रत्येक गेंहूँ का दानां भिन्न-भिन्न है- ऐसा मानना। वैसे ही प्रत्येक आत्मा जाति अपेक्षा से एक है- ऐसा मानना। इस प्रकार यथार्थ श्रद्धान द्वारा लोक में सर्वपदार्थ अक्रत्रिम भिन्न-भिन्न अनादि-अनन्त मानना; परन्तु यदि निरर्थक भ्रम द्वारा सच-झूठ का निर्णय ही नहीं करे तो तू जान, क्योंकि तेरे श्रद्धान का फल तू ही पायेगा।

ब्रह्म से कुलप्रवृत्ति आदि का प्रतिषेध

......तथा वे ही ब्रह्म से पुत्र-पौत्रादि द्वारा कुलप्रवृति कहते हैं। और कुलों में राक्षस, मनुष्य, देव, तिर्यंचों के परस्पर प्रसूति भेद बतलाते हैं। वहाँ देव से मनुष्य व मनुष्य से देव व तिर्यंचसे मनुष्य इत्यादि-किसी माता किसी पिता से किसी पुत्र-पुत्री का उत्पन्न होना बतलाते हैं सो कैसे सम्भव हैं?

तथा मनहीसे व पवनादिसे व वीर्य सूँघने आदि से प्रसूति का होना बतलाते हैं सो प्रत्यक्षविरूद्ध भासित होता है। ऐसा होने से पुत्र-पौत्रादिक का नियम कैसे रहा? तथा बड़े-बड़े महन्तों को अन्य-अन्य माता-पिता से हुआ कहते हैं; सो महन्त पुरूष कुशीलवान माता पिता के कैसे उत्पन्न होंगे? यह तो लोक में गाली है। फिर ऐसा कहकर उनको महंतता किसलिये कहते हैं?

तथा गणेशादिक की मैल आदिसे उत्पत्ति बतलाते हैं व किसी के अंग किसी में जुड़े बतलाते हैं। इत्यादि अनेक प्रत्यक्षविरूद्ध कहते हैं......।

तथा वे ब्रह्मा से पुत्र-पोत्रादि द्वारा कुल-प्रवृति चली कहते हैं। इन कुलों में राक्षस,मनुष्य,देव और तिर्यन्चों में परस्पर प्रसूतिभेद वे बताते हैं, परन्तु यह बात भी संभव नहीं है। देव से मनुष्य,मनुष्य से देव पुत्र-पुत्री आदि का होना संभव नहीं है । किसी देव को मनुष्य के साथ विषय-भोग नहीं होता। श्वेताम्बर में आता हैं कि देव मनुष्य के साथ अथवा तिर्यन्च के साथ विषय भोगता है, परन्तु यह बात ठीक नहीं है। भरत चक्रवर्ती के साथ गंगादेवी बहिनरूप से रहती थी इसमें दोष नहीं, परन्तु देव के साथ मनुष्य विषय भोगे ऐसा नहीं बनता। इसलिये किसी देव से अथवा अन्य से पुत्र-पुत्री का उत्पन्न होना कहना सत्य नहीं है।

अवतार मीमांसा

.... तथा चौबीस अवतर हुए कहते हैं; वहाँ कितने ही अवतारों को पूर्णावतार कहते हैं, कितनों को अंशावतार कहते हैं । सो पूर्णावतार हुए तब ब्रह्म अन्यत्र व्यापक रहा या नहीं रहा? यदि रहा तो इन अवतारों को पूर्णावतार किसलिये कहते हो? यदि (व्यापक) नहीं रहा तो एतावन्मात्र ही ब्रह्म रहा। तथा अंशावतार हुए वहाँ ब्रह्मका अंश तो सर्वत्र कहते हो, इनमें क्या अधिकता हुई? तथा कार्य तो तुच्छ था और उसके लिये ब्रह्मने स्वयं अवतार धारण किया कहते हैं सो मालूम होता है बिना अवतार धारण किये ब्रह्मकी शक्ति वह कार्य करने की नहीं थी; क्योकि जो कार्य अल्प उद्यम से हो वहाँ बहुत उद्यम किसलिये करें?

तथा अवतारों में मच्छ, कच्छादि अवतार हुए सो किंचित कार्य करने के अर्थ हीन तिर्यच पर्यायरूप हुआ सो कैसे सम्भव है? तथा प्रल्हाद के अर्थ नरसिंह अवतार हुआ, सो हरिणांकुश को ऐसा क्यों होने दिया, और कितने ही काल तक अपने भक्त को किसलिये दुःख दिलाया? तथा ऐसा रूप किसलिये धारण किया? तथा नाभिराजा के वृषभावतार हुआ बतलाते हैं, सो नाभि को पुत्रपने का सुख उपजाने को अवतार धारण किया। घोर तपश्चरण किसलिये किया ? उनको तो कुछ साध्य था ही नहीं। कहेगा कि जगत के दिखलाने को किया; तब कोई अवतार तो तपश्चरण दिखाये, कोई अवतार भोगादिक दिखाये, वहाँ जगत किसको भला जानेगा?

फिर वह कहता है-एक अरहंत नामका राजा हुआ उसने वृषभावतार का मत अगीकार करके जैनमत प्रगट किया, सो जैनमें कोई एक अरहंत नहीं हुआ। जो सर्वज्ञपद पाकर पूजने योग्य हो उसी का नाम अर्हत् है।

तथा राम-कृष्ण इन दोनों अवतारों को मुख्य कहते हैं सो रामावतार ने क्या किया? सीताके अर्थ विलाप करके रावण से लड़कर उसे मारकर राज्य किया। और कृष्णावतार में पहले ग्वाला होकर परस्त्री गोपियों के अर्थ नाना विपरीत निंद्य चेष्टाएँ करके, फिर जरासिंधु आदि को मारकर राज्य किया। सो ऐसे कार्य करने में क्या सिद्धि हुई?

तथा राम-कृष्णादिक का एक स्वरूप कहते हैं, सो बीच में इतने काल कहाँ रहे? यदि ब्रह्ममें रहे तो अलग रहे या एक रहे? अलग रहे तो मालूम होता है वे ब्रह्मसे अलग रहते हैं। एक रहे तो राम ही कृष्ण हुए, सीता ही रूक्मिणी हुई-इत्यादि कैसे कहते हैं?

तथा रामावतार में तो सीता को मुख्य कहते हैं और कृष्णावतार में सीताको रूक्मिणी हुई कहते हैं और उसे तो प्रधान नहीं कहते, राधिकाकुमारी को मुख्य करते हैं। तथा पूछें तब कहते हैं-राधिका भक्त थी; सो निज स्त्री को छोड़कर दासीको मुख्य करना कैसे बनता है? तथा कृष्ण के तो राधिका सहित परस्त्री सेवन के सर्व विधान हुए सो यह भक्ति कैसी की, ऐसे कार्य तो महानिंद्य हैं। तथा रूक्मिणी को छोड़कर राधाको मुख्य किया सो परस्त्री सेवन को भला जान किया होगा? तथा एक राधा में ही आसक्त नहीं हुए अन्य गोपिका कुब्जा आदि अनेक परस्त्रियों में आसक्त हुआ। सो यह अवतार ऐसे ही कार्यका अधिकारी हुआ।

फिर कहते हैं- लक्ष्मी उसकी स्त्री है, और धनादिक को लक्ष्मी कहते हैं; सो यह तो पृथ्वी आदि में जिस प्रकार पाषाण, धूल हैं; उसी प्रकार रत्न, सुवर्णादि धन देखते हैं; यह अलग लक्ष्मी कौन है जिसका भर्तार नारायण है? तथा सीतादिक को मायाका स्वरूप कहते हैं, सो इनमें आसक्त हुए तब माया में आसक्त कैसे न हुए? कहाँ तक कहें, जो निरूपण करते हैं सो विरूद्ध करते हैं। परन्तु जीवों को भोगादिक की कथा अच्छी लगती है, इसलिये उनका कहना प्रिय लगता है।

ऐसे अवतार कहे हैं इनको ब्रह्मस्वरूप कहते हैं । तथा औरों को भी ब्रह्मस्वरूप कहते है। एक तो महादेव को ब्रह्मस्वरूप मानते हैं, उसे योगी कहते हैं, सो योग किसलिये ग्रहण किया ? तथा मृगछाला भस्म धारण करते हैं सो किस अर्थ धारण की हैं? तथा रूण्डमाला पहिनते हैं सो हड्डी को छूना भी निंद्य है उसे गले में किस अर्थ धारण करते हैं? सर्पादि सहित है सो इसमें कौन बड़ाई है? आक-धतूरा खाता है सो इसमें कौन भलाई है? त्रिशूलादि रखता है सो किसका भय है? तथा पार्वतीको संग लिये है,

परन्तु योगी होकर स्त्री रखता है सो ऐसी विपरीतता किसलिये की? कामासक्त था तो घर ही में रहता, तथा उसने नानाप्रकार विपरीत चेष्टा की उसका प्रयोजन तो कुछ भासित नहीं होता, बावले जैसा कर्त्तव्य भासित होता हैं, उसे ब्रह्मस्वरूप कहते हैं।

तथा कभी कृष्ण को इसका सेवक कहते हैं, कभी इसको कृष्ण का सेवक कहते हैं, कभी दोनों को एक ही कहते हैं, कुछ ठिकाना नहीं है।

तथा सूर्यादिको ब्रह्मका स्वरूप कहते हैं। तथा ऐसा कहते हैं कि विष्णु ने कहा है- धातुओं में सुवर्ण, वृक्षों में कल्पवृक्ष, जुएमें झूठ इत्यादिमें मैं ही हूँ; सो पूर्वापर कुछ विचार नहीं करते। किसी एक अंगसे कितने ही संसारी जिसे महंत मानते हैं, उसीको ब्रह्मका स्वरूप कहते हैं; सो ब्रह्म सर्वव्यापी है तो ऐसा विशेष किसलिये किया? और सूर्यादि में व सुवर्णादि में ही ब्रह्म है तो सूर्य उजाला करता है, सुवर्ण धन है इत्यादि गुणों से ब्रह्म माना; सो दीपादिक भी सूर्यवत् उजाला करते हैं, चांदी-लोहादि भी सुवर्णवत् धन हैं- इत्यादि गुण अन्य पदार्थों में भी हैं उन्हें भी ब्रह्म मानो, बड़ा-छोटा मानो; परन्तु जाति तो एक हुई। सो झूठी महंतता ठहराने के अर्थ अनेक प्रकार की युक्ति बनाते हैं।

तथा अनेक ज्वालामालिनी आदि देवियों को माया का स्वरूप कहकर हिंसादिक पाप उत्पन्न करके उन्हें पूजना ठहराते हैं; सो माया तो निंद्य है, उसका पूजना कैसे सम्भव है? और हिंसादिक करना कैसे भला होगा? तथा गाय, सर्प आदि पशु अभक्ष्य भक्षणादिसहित उन्हें पूज्य कहते हैं; अग्नि, पवन, जलादिक को देव ठहराकर पूज्य कहते हैं; वृक्षादिक को युक्ति बनाकर पूज्य कहते हैं।

बहुत क्या कहें? पुरूषलिंगी नाम सहित जो हों उनमें ब्रह्मकी कल्पना करते हैं और स्त्रीलिंगी नाम सहित हो उनमें माया की कल्पना करके अनेक वस्तुओं का पूजन ठहराते हैं। इनके पूजने से क्या होगा सो कुछ विचार नहीं है। झूठे लौकिक प्रयोजन के कारण ठहराकर जगत को भ्रमाते हैं।

तथा वे कहते हैं- विधाता शरीर को गढ़ता है और यम मारता है,

मरते समय यम के दूत लेने आते हैं, मरने के पश्चात् मार्ग में बहुत काल लगता है, तथा वहाँ पुण्य-पाप का लेखा करते हैं और वहाँ दण्डादिक देते हैं; सो यह कल्पित झूठी युक्ति है। जीव तो प्रतिसमय अनन्त उपजते-मरते हैं, उनका युगपत् ऐसा होना कैसे सम्भव है? और इस प्रकार मानने का कोई कारण भी भासित नहीं होता।

तथा वे मरने के पश्चात् श्राद्धादिक से उसका भला होना कहते हैं, सो जीवित दशा तो किसी के पुण्य-पाप द्वारा कोई सुखी-दुःखी होता दिखायी नहीं देता, मरने के बाद में कैसे होगा? यह युक्ति मनुष्यों को भ्रमित करके अपना लोभ साधने के अर्थ बनायी है।

कीड़ी, पतंगा, सिंहादिक जीव भी तो उपजते-मरते हैं, उनको तो प्रलयके जीव ठहराते हैं; परन्तु जिस प्रकार मनुष्यादिक के जन्म-मरण होते देखे जाते हैं, उसी प्रकार उनके होते देखे जाते हैं। झूठी कल्पना करने से क्या सिद्धि है?

तथा वे शास्त्रों में कथादिक का निरूपण करते हैं वहाँ विचार करने पर विरुद्ध भासित होता हैं।

तथा यज्ञादिक करना धर्म ठहराते हैं, सो वहाँ बड़े जीव उनका होम करते हैं, अग्नि आदिक का महा आरम्भ करते हैं, वहाँ जीवघात होता है; सो उन्हींके शास्त्रों में व लोकमें हिंसा का निषेध है; परन्तु ऐसे निर्दय हैं कि कुछ गिनते नहीं हैं और कहते हैं-"यज्ञार्थ पशवः सृष्टाः" इस यज्ञके ही अर्थ पशु बनाये हैं, वहाँ घात करने का दोष नहीं है।

तथा मेघादिक का होना, शत्रु आदिका विनष्ट होना इत्यादि फल बतलाकर अपने लोभके अर्थ राजादिकों को भ्रमित करते हैं। सो कोई विषसे जीवित होना कहे तो प्रत्यक्ष विरुद्ध है; उसी प्रकार हिंसा करने से धर्म और कार्यसिद्धि कहना प्रत्यक्ष विरुद्ध है। परन्तु जिनकी हिंसा करना कहा, उनकी तो कुछ शक्ति नहीं है, किसी को उनकी पीड़ा नहीं है। यदि किसी शक्तिवान व इष्ट का होम करना ठहराया होता तो ठीक रहता। पापका भय नहीं है, इसलिये पापी दुर्बल के घातक होकर अपने लोभके

अर्थ अपना व अन्य का बुरा करने में तत्पर हुए हैं।.........

अन्यमती ऐसा कहते हैं कि भगवान अवतार धारण करते हैं-यह बात मिथ्या है। देव से मनुष्य होता है और मनुष्य से तिर्यन्च आदि होते हैं - ऐसा कहते हैं- वह बात सत्य नहीं है। तथा मन से पुत्र होता है, पवनकुमार पवन से हुआ कहते हैं, वीर्य सूँघने आदि से पुत्र होते हैं-यह बात प्रत्यक्ष विरूद्ध भासित होती है। महान पुरूष अन्य माता-पिता से उत्पन्न होते हैं-यह बात नहीं बनती। अन्यमती अन्य से अन्य का अवतार कहकर महंतता बताते हैं; परन्तु वह तो गाली है महंतता नहीं।

तथा अन्यमत पूर्णावतार और अंशावतार कहता है, वह भी प्रत्यक्ष विरूद्ध बात है; क्योंकि पूर्णावतार होवे तो इतना मात्र ब्रह्म रहा और अंशावतार कहो तो सब संज्ञावतार है, तो फिर परमेश्वर अंशावतार धारण करता है उसकी महत्ता रही नहीं तथा अवतार धारण करके कार्य करना पड़े तो ब्रह्म की शक्ति अवतार धारण किये बिना थी- यह बात रही नहीं। और अवतार भी बहुत प्रकार के हल्के धारण किये कहते हैं; परन्तु ये सब काल्पित बाते हैं। नरसिंह अवतार धारण किया कहते हैं, परन्तु यह तो निम्न भांड जैसा अवतार कहलाया। इसलिये ये सब बातें मिथ्या हैं

तथा नाभि राजा के यहाँ ऋषभदेव का अवतार हुआ कहते हैं। और वह सुख के लिये धरा कहते हैं और पीछे तपश्चर्या की कहते हैं; परन्तु यह प्रत्यक्ष विरूद्ध है। कोई अवतार भोगादि बतावे, कोई अवतार क्रोधादि प्रगट करे, कोई कौतूहल मात्र नाचे-ऐसे अनेक प्रकार के अवतार हुए बताते हैं, तो इसमें कौनसा अवतार अच्छा कहना ? कोई ठिकाना ही नहीं है। इसलिये यह बात मिथ्या है। तथा अरहंत नामका राजा हुआ कहते हैं, परन्तु अरहंत तो वीतराग सर्वज्ञ हैं वे पूजने योग्य हैं, उन्हे अर्हत् कहते हैं- उसकी तो उन्हें खबर नहीं है।

तथा वे राम और कृष्ण के अवतार को विरूद्ध प्रकार कल्पते हैं। वास्तव में तो राम मोक्ष गये हैं। कृष्ण अवतार को ग्वाला ठहराते हैं। तथा राम-कृष्ण का एक ही स्वरूप कहते हैं तो बीच के काल में ब्रह्म कहाँ रहा? ब्रह्म से अलग रहा तो दो हुए और एक रहे तो राम, वे कृष्ण हुए और सीता रूक्मिणी हुई-ऐसा नहीं बनता। राधिका भक्त थी उसे मुख्य की, वह भी ठीक नहीं। परस्त्री सेवन को भला कैसे कहा जाय? इसलिये कृष्णादि अवतार कहते हैं वह ठीक नहीं है।

तथा लक्ष्मी को भगवान की स्त्री कहते हैं; परन्तु लक्ष्मी तो पृथ्वी आदि की तरह है इसलिये उसका पति नारायण नहीं, परन्तु लोगों को भोगों की बात भगवान के नाम से कहे तो ठीक लगता है, परन्तु यह तो भ्रम में डालने जेसा है।

इस प्रकार वे अवतार कहते हैं और उन्हें ब्रह्म का स्वरूप कहते हैं और अन्य जीवों को भी ब्रह्म स्वरूप कहते हैं। महादेव को ब्रह्म-स्वरूप कहते हैं और उसको योगी कहते है। तथा स्त्री रखना, मृगछाला रखना ये सब विरूद्धता वाले हैं, क्योंकि ये सब पागल जैसा होने पर भी ब्रह्म स्वरूप कहना योग्य नहीं है।

तथा वे कृष्ण को इसका सेवक कहते है। और कभी उसको कृष्ण का सेवक कहते हैं, कुछ ठिकाना नहीं है।

तथा विष्णु ने कहा है कि धातुओं मे मैं हूँ, सूर्य आदि ब्रह्म का स्वरूप है; परन्तु ये ठिकाने बिना की बातें है। इस प्रकार झुठी महंतता करने के लिये अनेक युक्तियाँ कहते हैं। तथा देवियों को माया का स्वरूप कहकर हिंसादि पाप उत्पन्न कराकर पूजन कराते हैं। गाय, सर्पादिक अभक्ष्य भक्षणादिक करने वाले पशुओं को वे पूजते हैं। वृक्षादिक को कल्पित युक्ति बनाकर पूज्य कहते हैं।

अधिक क्या कहें ? पुरूषलिंग नाम सहित जो हो उसे ब्रह्म कहते है ओर स्त्रीलिंग नाम सहित हो उसे माया की कल्पना करके पूजते है; परन्तु इनको पूजने से कुछ लाभ नहीं है। लौकिक प्रयोजन की सिद्धि होगी-ऐसा कहते हैं और जगत को भ्रमाते हैं।

तथा वे कहते हैं कि विधाता शरीर को गढ़ता है, यम मारता है और मृत्यु समय यम के दूत लेने आते हैं, मरने के बाद मार्ग में बहुत काल लगता है, धर्मराज पुण्य-पाप का हिसाब लेता है, दंडादि देता है; परन्तु यह सब बातें खोटी है। क्योंकि समय-समय अनन्त जीव जन्मते हैं और मरते हैं इसलिये कोई जन्म देता नहीं और मारता नहीं। एक समय में लेखा देना और फल देना- यह नहीं बन सकता और ऐसा मानने का कोई कारण भी नहीं भासित होता।

तथा मरने के पश्चात् श्राद्ध आदि करके भला होना कहते हैं। जीते जी भी अपने पुण्य-पाप अनुसार सुखी-दुःखी होता है तो मरने के पश्चात् श्राद्धादि करने से सुखी हो- यह सत्य नहीं है। मात्र मनुष्यों को भ्रमाकर अपना लोभ साधन के लिये वे ऐसी युक्तियाँ बनाते

हैं। तथा वे शास्त्र में कथादिक का निरूपण करते हैं वहाँ भी विचार करने पर विरूद्धता ही भासित होती है।

तथा वे यज्ञादि करने में धर्म ठहराते हैं। और उसमें बड़े जीवों को होम करते हैं, अग्नि, काष्ठादिक का आरम्भ करते हैं; वहाँ महान हिंसा होती है। परन्तु शास्त्र में तो हिंसा का निषेध है, फिर भी वे निर्दयपने कुछ नहीं गिनते। तथा पशु को यज्ञ के लिये बनाया है इसलिये वहाँ घात करने में कुछ दोष नहीं- ऐसा वे कहते हैं और इससे लाभ मनाकर भ्रमाते हैं। परन्तु यह तो जैसे विष से जीवन वृद्धि होवे, उसकी तरह प्रत्यक्ष विरूद्ध है। इसलिये धर्म विरूद्ध कार्य करने से सिद्धि नहीं होती। इस प्रकार अनेक प्रकार से यज्ञ में धर्म मनाना प्रत्यक्ष विरुद्ध है। वे जिनकी हिंसा करने को कहते हैं उनमें कुछ शक्ति भी नहीं हैं इसलिये वे कुछ पीड़ा भी नहीं करते। यदि किसी शक्तिवान सिंह आदि की हिंसा करके यज्ञ ठहराया होता तो खबर पड़ती; परन्तु उनको पाप का डर नहीं है इसलिये निर्बल बकरे आदि की हिंसा करके घातक बनकर अन्य का बुरा करने तत्पर होते हैं; परन्तु यह ठीक नहीं है।

योग मीमांसा

.......तथा वे मोक्षमार्ग भक्तियोग और ज्ञानयोग द्वारा दो प्रकारसे प्ररूपित करते हैं।

भक्तियोग मीमांसा

अब, भक्तियोग द्वारा मोक्षमार्ग कहते हैं उसका स्वरूप कहा जाता है:-

वहाँ भक्ति निर्गुण-सगुण भेदसे दो प्रकारकी कहते हैं। वहाँ अद्वैत परब्रह्मकी भक्ति करना सो निर्गुण भक्ति है; वह इस प्रकार करते है - तुम निराकार हो, निरंजन हो, मन-वचनसे अगोचर हो, अपार हो, सर्वव्यापी हो, एक हो, सर्वके प्रतिपालक हो, अधम उधारन हो, सर्वके कर्त्ता-हर्त्ता हो, इत्यादि विशेषणोंसे गुण गाते हैं; सो इनमें कितने ही तो निराकारादि विशेषण हैं सो अभावरूप हैं, उनको सर्वथा माननेसे अभाव ही भासित होता है। क्योंकि आकारादि बिना वस्तु कैसी होगी? तथा कितने ही सर्वव्यापी आदि विशेषण असम्भवी हैं सो उनका असम्भवपना पहले दिखाया ही है।

फिर ऐसा कहते हैं कि- जीवबुद्धिसे मैं तुम्हारा दास हूँ, शास्त्रदृष्टिसे तुम्हारा अंश हूँ, तत्त्वबुद्धिसे "तू ही मैं हूँ," सो यह तीनों ही भ्रम हैं। यह भक्ति करनेवाला चेतन है या जड़ है? यदि चेतन है तो यह चेतना ब्रह्मकी है या इसीकी है? यदि ब्रह्मकी है तो "मैं दास हूँ" ऐसा मानना तो चेतनाहीके होता है सो चेतना ब्रह्मका स्वभाव ठहरा और स्वभाव-स्वाभावी के तादत्म्य सम्बन्ध है वहाँ दास और स्वामीका सम्बन्ध कैसे बनता है? दास और स्वामीका सम्बन्ध तो भिन्न पदार्थ हो तभी बनता है। तथा यदि यह चेतना इसीकी है तो यह अपनी चेतनाका स्वामी भिन्न पदार्थ ठहरा, तब मैं अंश हूँ व" जो तू है सो मैं हूँ" ऐसा कहना झूठा हुआ। और यदि भक्ति करनेवाला जड़ है तो जड़के बुद्धिका होना असम्भव है, ऐसी बुद्धि कैसे हुई? इसलिये "मैं दास हूँ" ऐसा कहना तो तभी बनता है जब अलग-अलग पदार्थ हों। और "तेरा मैं अंश हूँ" ऐसा कहना बनता ही नहीं। क्योंकि 'तू' और 'मैं' ऐसा तो भिन्न हो तभी बनता है, परन्तु अंश-अंशी भिन्न कैसे होंगे? अंशी तो कोई भिन्न वस्तु है नहीं, अंशोंका समुदाय वही अंशी है। और "तू है सो मैं हूँ"-ऐसा वचन ही विरूद्ध है। एक पदार्थमें अपनत्व भी माने और उसे पर भी माने सो कैसे सम्भव है; इसलिये भ्रम छोड़कर निर्णय करना।

तथा कितने नामही जपते है; सो जिसका नाम जपते हैं उसका स्वरूप पहिचाने बिना केवल नामहीका जपना कैसे कार्यकारी होगा? यदि तू कहेगा नामहीका अतिशय है; तो जो नाम ईश्वरका है वही नाम किसी पापी पुरूषका रखा, वहाँ दोनोंके नाम उच्चारणमें फलकी समानता हो, सो कैसे बनेगा? इसलिये स्वरूपका निर्णय करके पश्चात् भक्ति करने योग्य हो उसकी भक्ति करना।

इस प्रकार निर्गुण भक्ति का स्वरूप बतलाया।

तथा जहाँ काम-क्रोधदि से उत्पन्न हुए कार्यो का वर्णन करके स्तुति आदि करें उसे सगुणभक्ति कहते हैं।

वहाँ सगुणभक्ति में लौकिक श्रृंगार वर्णन जैसा नायक-नायिका का

करते हैं वैसा ठाकुर-ठकुरानी का वर्णन करते हैं। स्वकीया-परकीया स्त्री सम्बन्धी संयाग-वियोगरूप सर्वव्यवहार वहाँ निरूपित करते हैं। तथा स्नान करती स्त्रियों के वस्त्र चुराना, दधि लूटना, स्त्रियों के पैर पड़ना, स्त्रियों के आगे नाचना इत्यादि जिन कार्यो को करते संसारी जीव भी लज्जित हों उन कार्यो का करना ठहराते हैं; सो ऐसा कार्य अतिकामपीड़ित होने पर ही बनता है।

तथा युद्धादिक किये कहते हैं सो यह क्रोध के कार्य हैं। अपनी महिमा दिखाने के अर्थ उपाय किये कहते हैं सो यह मानके कार्य हैं। अनेक छल किये कहते हैं सो मायाके कार्य हैं। विषयसामग्री प्राप्ति के अर्थ यत्न किये कहते हैं सो यह लोभ के कार्य हैं। कौतूहलादिक किये कहते हैं सो हास्यादिक के कार्य हैं। ऐसे यह कार्य क्रोधादिसे युक्त होने पर ही बनते हैं।

इस प्रकार काम-क्रोधादि से उत्पन्न कार्यो को प्रगट करके कहते हैं कि हम स्तुति करते हैं सो काम क्रोधादिक के कार्य ही स्तुति योग्य हुए तो निंद्य कौन ठहरेंगे? जिनकी लोकमें, शास्त्र में अत्यन्त निन्दा पायी जाती है उन कार्यो का वर्णन करके स्तुति करना तो हस्तचुगल जेसा कार्य हुआ।

हम पूछते हैं-कोई किसी का नाम तो न कहे, और ऐसे कार्यो ही का निरूपण करके कहे कि किसीने ऐसे कार्य किये हैं, तब तुम उसे भला जानोगे या बुरा जानोगे ? यदि भला जानोगे तो पापी भले हुए, बुरा कौन रहा? बुरा जानोगे तो ऐसे कार्य कोई करो, वही बुरा हुआ। पक्षपात रहित न्याय करो।

यदि पक्षपात से कहोगे कि-ठाकुर का ऐसा बर्णन करना भी स्तुति है तो ठाकुरने ऐसे कार्य किसलिये किये? ऐसे निंद्य कार्य करने में क्या सिद्धि हुई? कहोगे कि-प्रवृति चलाने के अर्थ किये, तो परस्त्री सेवन आदि निंद्य कार्यो की प्रवृति चलाने में आपको व अन्यको क्या लाभ हुआ? इसलिये ठाकुर को ऐसा कार्य करना सम्भव नहीं है। तथा यदि ठाकुर ने कार्य नहीं किये, तुम ही कहते हो, तो जिसमे दोष नहीं था उसे दोष लगाया। इसलिये ऐसा वर्णन करना तो निन्दा है- स्तुति नहीं है।

तथा स्तुति करते हुए जिन गुणों का वर्णन करते हैं उसरूप ही परिणाम होते हैं व उन्हीमें अनुराग आता है। सो काम-क्रोधादि कार्यों का वर्णन करते हुए आप भी काम क्रोधादिरूप होगा अथवा काम-क्रोधादि में अनुरागी होगा, सो ऐसे भाव तो भले नहीं है। यदि कहोगे- भक्त ऐसा भाव नहीं करते, तो परिणाम हुए बिना वर्णन कैसे किया? उनका अनुराग हुए बिना भक्ति कैसे की? यदि यह भाव ही भले हों तो ब्रह्मचर्य को व क्षमादिक को भला किसलिये कहें? इनके तो परस्पर प्रतिपक्षीपना है।

तथा सगुण भक्ति करने के अर्थ राम-कृष्णादि की मूर्ति भी श्रृंगारादि किये, वक्रत्वादि सहित, स्त्री आदि संग सहित बनाते हैं; जिसे देखते ही काम-क्रोधादिभाव प्रगट हो आयें। और महादेव के लिंगही का आकार बनाते हैं। देखो विडम्बना! जिसका नाम लेने से लाज आती है, जगत जिसे ढँक रखता है, उसके आकार की पूजा कराते हैं। क्या उसके अन्य अंग नहीं थे? परन्तु बहुत विडम्बना ऐसा ही करने से प्रगट होती है।

तथा सगुण भक्ति के अर्थ नानाप्रकार की विषयसामग्री एकत्रित करते हैं। वहाँ नाम ठाकुर का करते हैं और स्वयं उसका उपभोग करते हैं। भोजनादि बनाते हैं और ठाकुरको भोग लगाया कहते हैं ; फिर आप ही प्रसाद की कल्पना करके उसका भक्षणादि करते हैं। सो यहाँ पूछते है- प्रथम तो ठाकुर के क्षुधा-तृषाकी पीड़ा होगी, न हो तो ऐसी कल्पना कैसे सम्भव है? और क्षुधादि से पीड़ित होगा तब व्याकुल होकर ईश्वर दुःखी हुआ, औरों का दुःख कैसे दूर करेगा? तथा भोजनादि सामग्री आपने तो उनके अर्थ अर्पण की सो की, फिर प्रसाद तो ठाकुर दे तब होता है, अपना ही किया तो नहीं होता। जैसे कोई राजाको भेंट करे, फिर राजा इनाम दे तो उसे ग्रहण करना योग्य है; परन्तु आप राजा को भेंट करे, वहाँ राजा तो कुछ कहे नहीं और आप ही "राजाने मुझे इनाम दी"- ऐसा कहकर उसे अंगीकार करे तो यह खेल हुआ। उसीप्रकार यहाँ भी ऐसा करनेसे भक्ति तो हुई नहीं, हास्य करना हुआ।

फिर ठाकुर और तुम दो हो या एक हो? दो हो तो तूने भेंट की,

पश्चात् ठाकुर दे तो ग्रहण करना चाहिए, अपने आप ग्रहण किसलिए करता है? और तू कहेगा-ठाकुर की तो मूर्ति है, इसलिए मैं ही कल्पना करता हूँ; तो ठाकुर के करने का कार्य तूने ही किया, तब तू ही ठाकुर हुआ। और यदि एक हो तो भेंट करना, प्रसाद कहना झूठा हुआ । एक होने पर यह व्यवहार सम्भव नहीं होता; इसलिए भोजनासक्त पुरूषों द्वारा ऐसी कल्पना की जाती है।

तथा ठाकुरजी के अर्थ नृत्यगानादि कराना; शीत, ग्रीष्म, वसन्तादि ऋतुओं में संसारियों के सम्भवित ऐसी विषयसामग्री एकत्रित करना इत्यादि कार्य करते हैं। वहाँ नाम तो ठाकुर का लेना और इन्द्रियों के विषय अपने पोषना सो विषयासक्त जीवों द्वारा ऐसा उपाय किया गया है। तथा वहाँ जन्म, विवाहादिक की व सोने-जागने इत्यादि की कल्पना करते हैं सो जिस प्रकार लड़कियाँ गुड्डा-गुड़ियों का खेल बनाकर कौतूहल करती हैं; उसी प्रकार यह भी कौतूहल करना है, कुछ परमार्थरूप गुण नहीं है। तथा बाल ठाकुर का स्वांग बनाकर चेष्टाएँ दिखाते हैं, उससे अपने विषयों का पोषण करते हैं और कहते हैं-यह भी भक्ति है, इत्यादि क्या-क्या कहें ? ऐसी अनेक विपरीतताएँ सगुण भक्ति में पायी जाती हैं।

इस प्रकार दोनों प्रकार की भक्ति से मोक्षमार्ग कहते हैं सो उसे मिथ्या दिखाया.......।

अन्यमती दो प्रकार से भक्ति कहते हैं- एक तो निर्गुण भक्ति और दूसरी सगुण भक्ति। इनमें अद्वैत परमब्रह्म की भक्ति करना वह निर्गुण भक्ति है। वह इस प्रकार करते हैं-"निरंजन-निराकार, मन-वचन-काया से अगोचर, सर्वव्यापी, प्रतिपालक अधम उद्धारक और सर्व का कर्त्ता-हर्त्ता हो।" इस प्रकार गुण गाते हैं। ये विशेषण सर्वथारूप मानने से दोष आते हैं और कितने ही विशेषण तो असंभव हैं-यह बात पहले आ गई है।

तथा निर्गुण भक्ति तीन प्रकार से कहते हैं -(1) जीवबुद्धि से मैं तुम्हारा दास हूँ (2) शास्त्र दृष्टि से तुम्हारा अंश हूँ तथा (3) तत्व बुद्धि से 'तू ही मैं हूँ' पर यह भ्रम हो है। अब यदि भक्ति करने वाला चेतन हो तो 'मैं तुम्हारा दास हूँ' यह बात रहती नहीं, क्योंकि चेतना तो ब्रह्म की है, इससे उसका स्वभाव ठहरा, इसलिये उसमें दास और स्वामी का

सम्बन्ध नहीं रहता। और भक्ति करने वाला जड़ हो तो जड़ में बुद्धि का होना असंभवित है, इसलिये इस प्रकार भी मैं तेरा दास हूँ- यह नहीं बनता। दो पदार्थ अलग होवे तब ही दासपना संभव है। तथा मैं तेरा अंश हूँ- यह भी बराबर नहीं; क्योंकि मैं और तू-तो दो पदार्थ हों उसमें ही संभव है; परन्तु अंश और अंशी अलग नहीं होते। इसलिये मैं तेरा अंश हूँ-यह बात भी नहीं बनती। तथा 'तू है वह मैं हूँ'-ऐसा वचन ही विरूद्ध है; क्योंकि एक ही पदार्थ में अपनापना और परपना मानना-यह बनता नहीं। इसलिये भ्रम छोड़कर निर्णय करना योग्य है। मैं ज्ञानस्वरूप हूँ इत्यादि भेद पाड़कर ज्ञानी जो चिन्तवन करते हैं वह तो वस्तु के स्वरूप को यथार्थ समझकर करते हैं। विकल्प है- इस कारण ऐसा चिन्तवन होता है, उसका ज्ञान करते हैं। यहाँ तो एकान्त वस्तु को मानकर इस प्रकार अंश हूँ और दास हूँ-ऐसा कहता है वह बात सत्य नहीं है-ऐसा कहते हैं।

कोई नाम जपते हैं और इसका अतिशय मानते हैं; परन्तु जिसका नाम जपते हैं उसका स्वरूप जाने बिना केवल नाम जपने से कुछ लाभ नहीं होता, क्योंकि किसी पापी पुरूष का भी वही नाम होवे तो फिर नीच-उच्च में कोई अन्तर नहीं रहा। इसलिये स्वरूप को समझे बिना नाम जपने से कुछ लाभ नहीं होता। "अनुभव प्रकाश" में आता है कि अरहंत का नाम लेने से परमपद की प्राप्ति होती है, तो वहाँ चार प्रकार का निक्षेप कहा है उसकी बात है। जिसे आत्मा का भान हुआ है वह नाम निक्षेप से भगवान की स्तुति करता है उसे परमपद की प्राप्ति होती है। इसलिये पहले स्वरूप का निर्णय करके फिर जिसकी भक्ति करने योग्य हो उसकी भक्ति करना चाहिये। इस प्रकार निर्गुण भक्ति का स्वरूप कहा।

अब अन्यमती सगुण भक्ति का स्वरूप कैसा कहते हैं? वह कहते हैं :-

जहाँ काम-क्रोधादि के कार्यों के वर्णन द्वारा स्तूति की जावे उसे वे सगुण भक्ति कहते हैं। वहाँ वे लोग जैसे श्रृंगार पूर्वक नायक-नायिका का वर्णन करते हैं, वैसे ठाकुर ठकुरानी का वर्णन करते हैं। स्नान करती स्त्रियों के वस्त्र चोरना, दही लूटना, स्त्रियों के चरण में पड़ना आदि कार्य करते हुए जो संसारी जीव लज्जा पाते हैं ऐसे कार्य करना उसके ठहराते हैं। परन्तु ऐसे कार्य तो कामपीड़ा होने पर होते हैं। तथा ईश्वर ने युद्धादि कार्य किये ऐसा कहते हैं, कपट आदि किये कहते हैं, लोभ के कार्य तथा कौतूहलादि किये कहते हैं, ऐसे कार्य किये कहकर भी स्तुति योग्य कहते हैं, तो निंद्य कार्य किसे कहना? तथा भगवान

ने जो कार्य किये वे कार्य अन्य करे तो उसे निन्दा का पात्र कहते हैं, तब जो ऐसे कार्य करे उन सबको बुरा कहना चाहिये। पक्षपात रहित न्याय करो। इसलिये भलीभंति विचार करने पर वे निंद्य कार्य भगवान ने किये ऐसा कहकर स्तुति करना योग्य नहीं है।

जैन नाम धराकर भगवान को वस्त्र पहिनावे, मुकुट चढ़ावे, और अंगी करे और उसे भक्ति कहते हैं तो वे सब अन्यमती जैसे सगुण भक्ति मानते हैं उनकी तरह ही ये भी मिथ्यादृष्टि हैं। भगवान ने वस्त्र रखा था इसलिये अपने को भी वस्त्र रखना चाहिये- ऐसी कल्पित बाते भगवान के नाम से रच लेते हैं। लोगो को काम-क्रोधादि की बातें रूचती है इस कारण भगवान के नाम से ऐसी बातें शास्त्र में रच दे और लोगो को कहे, तो उन्हें तो इस प्रकार की रुचि पड़ी है, इस कारण रुच जाती है; परन्तु यह सब भ्रम है। इसलिये यह बात जानकर यथार्थ निर्णय करना ही कर्त्तव्य है।

यहाँ सगुण भक्ति की बात चलती है। कितने ही लोग काम-क्रोधादि की प्रवृत्ति को सगुण भक्ति कहते हैं, वह बात मिथ्या है, क्योंकि परमात्मा के ऐसी प्रवृति नहीं होती। युद्ध, काम, कौतूहलादि भगवान के नहीं होते। अतः भगवान के नाम से ऐसे अवगुण कहना वह सत्य नहीं है। जिनमें दोष है उनकी स्तुति करे तो वे दोष अपने का रूचते हैं अथवा उनके उपर प्रेम होवे तो उनकी स्तुति करता है। इसलिये वैसे भाव योग्य नहीं है।

जैन भी परमेश्वर की भक्ति श्रृंगारादि से करे और गुण बखान करे तो ऐसा भी कामादिक के परिणाम हुए बिना और उनके प्रति अनुराग हुए बिना नहीं होता। भगवान के क्षुधा, तृषा, रोगादि की कल्पना करने में अपने को वैसा भाव है ऐसा निश्चित होता है। इसलिये यह मान्यता सच्ची नहीं है। देव-शास्त्र-गुरू को जिस प्रकार से माना होवे उस प्रकार से स्तुति किये बिना रहे नहीं, इसलिये सच्चे देवादिक को पहिचानना चाहिये। कोई भी मनुष्य लड़ाई-भोगादि के बखान करे तो उस के प्रकार परिणाम हुए बिना उनके बखान नहीं होते। भगवान के स्त्री का संग बताना योग्य नहीं है। जिनको वीतराग परमानन्द दशा वर्तती है वे परमात्मा हैं-ऐसा जानना चाहिये। देवादि की स्तुति में परिणाम होना शुभभाव है।

तथा वे ठाकुर जी को भोजनादिक का थाल धराते हैं और वापिस ले लेते हैं; परन्तु यह ठीक नहीं। कोई कहे कि जैन में भी फलादि चढ़ाते हैं? तो वहाँ तो आत्मा का जो अनाहारी पद है उसको याद करके आत्मा के भान सहित जो भक्ति का भाव हुआ है

उसका ज्ञान कराते हैं। वहाँ भोजनादिक सामग्री भगवान के लिये नहीं मंगाते-इस कारण उस सामग्री को वापस स्वयं अंगीकार नहीं करते। अन्यमती तो वापस वह खुराक खाते हैं, प्रसाद का नाम लेकर स्वयं ही ग्रहण करते हैं-यह ठीक नहीं है। स्वयं धरे और स्वयं वापस ले लेवे यह तो मात्र खेल हुआ, भक्ति तो रही नहीं। ये सब कल्पना है।

तथा ठाकुरजी के लिये नृत्य आदि करते हैं वे ठीक नहीं है। जैन मे नृत्य आदि करते हैं वे भगवान के लिये नहीं; परन्तु अपने को उस प्रकार का शुभभाव आता है, अपने लिये गुण गाते हैं। स्वयं को गुण का प्रेम है इस कारण ऐसा शुभराग आये बिना रहता नहीं। अन्यमती तो ठाकुरजी के लिये ठाकुरजी के नाम से करते हैं। जैन मे गर्भ कल्याणक आदि करते हैं वे तो अपने लिये है इसलिये इसमें अन्तर है। वे सगुणभक्ति को भी नही समझे हैं इसकारण भक्तियोग से मुक्ति मानते हैं; परन्तु यह कोई यथार्थ नहीं है

ज्ञानयोग मीमांसा

.....अब अन्यमत प्ररूपित ज्ञानयोग से मोक्षमार्ग का स्वरूप बतलाते हैं:-

एक अद्वैत सर्वव्यापी परब्रह्म को जानना उसे ज्ञान कहते हैं सो उसका मिथ्यापना तो पहले कहा ही है।

तथा अपने को सर्वथा शुद्ध ब्रह्मस्वरूप मानना, काम-क्रोधादिक व शरीरादिक को भ्रम जानना उसे ज्ञान कहते हैं; सो यह भ्रम है। आप शुद्ध है तो मोक्ष का उपाय किसलिये करता है? आप शुद्ध ब्रह्म ठहरा तब कर्त्तव्य क्या रहा? तथा अपने को प्रत्यक्ष काम-क्रोधादिक होते देखे जाते हैं, और शरीरादिक का संयोग देखा जाता है; इनका अभाव होगा तब होगा, वर्त्तमान में इनका सद्भाव मानना भ्रम कैसे हुआ?

फिर कहते हैं-मोक्ष का उपाय करना भी भ्रम है। जैसे-रस्सी तो रस्सी ही है, उसे सर्प जान रहा था सो भ्रम मिटने पर रस्सी ही है; उसी प्रकार आप तो ब्रह्म ही हैं, अपने को अशुद्ध जान रहा था सो भ्रम था, भ्रम मिटने पर आप ब्रह्म ही है। सो ऐसा कहना मिथ्या है। यदि आप शुद्ध हो और उसे अशुद्ध जाने तो भ्रम है; और आप काम-क्रोधादि सहित अशुद्ध हो रहा है उसे अशुद्ध जाने तो भ्रम कैसे होगा? शुद्ध जाननेपर भ्रम होगा। सो झूठे भ्रमसे अपने को शुद्धब्रह्म मानने से क्या सिद्धि है?

तथा तू कहेगा- यह काम-क्रोधादिक तो मन के धर्म हैं, ब्रह्म न्यारा है। तो तुझसे पूछते हैं-मन तेरा स्वरूप है या नहीं? यदि है तो काम-क्रोधादिक भी तेरे हुए; और नहीं है तो तू ज्ञानस्वरुप है या जड़ है? यदि ज्ञानस्वरूप है तो तेरे तो ज्ञान मन व इन्द्रिय द्वारा ही होता दिखायी देता है। इनके बिना कोई ज्ञान बतलाये तो उसे तेरा अलग स्वरूप मानें, सो भासित नहीं होता। तथा "मनज्ञाने" धातु से मन शब्द उत्पन्न होता है सो मन तो ज्ञानस्वरूप है; सो यह ज्ञान किसका है उसे बतला; परन्तु अलग कोई भासित नहीं होता। तथा यदि तू जड़ है तो ज्ञान बिना अपने स्वरूप का विचार कैसे करता है? यह तो बनता नहीं है। तथा तू कहता है-ब्रह्म न्यारा है, सो वह न्यारा ब्रह्म तू ही है या और है? यदि तू ही है तो तेरे "मैं ब्रह्म हूँ" ऐसा मानने वाला जो ज्ञान है वह तो मन-स्वरूप ही है, मन से अलग नहीं है; और अपनत्व मानना तो अपने ही में होता है। जिसे न्यारा जाने उसमें अपनत्व नहीं माना जाता। सो मन से न्यारा ब्रह्म है, तो मनरूप ज्ञान ब्रह्म में अपनत्व किसलिये मानता है? तथा यदि ब्रह्म और ही है तो तू ब्रह्म में अपनत्व किसलिये मानता है? इसलिये भ्रम छोड़कर ऐसा जान कि जिस प्रकार स्पर्शनादि इन्द्रियाँ तो शरीर का स्वरूप है सो जड़ है, उसके द्वारा जो जानपना होता है सो आत्मा का स्वरूप है; उसी प्रकार मन भी सूक्ष्म परमाणुओं का पुंज है वह शरीरही का अंग है। उसके द्वारा जानपना होता है व काम-क्रोधादिभाव होते हैं सो सर्व आत्मा का स्वरूप है।

विशेष इतना-जानपना तो निजस्वभाव है, काम-क्रोधादिक औपाधिकभाव हैं, उनसे आत्मा अशुद्ध है। जब काल पाकर काम-क्रोधादि मिटेंगे और जानपने के मन इन्द्रिय की आधीनता मिटेगी तब केवलज्ञानस्वरूप आत्मा शुद्ध होगा।

इसी प्रकार बुद्धि-अहंकारादि भी जान लेना; क्योंकि मन और बुद्धि आदिक एकार्थ हैं और अहंकारादिक हैं वे काम-क्रोधादिकवत् औपाधिकभाव हैं; इनको अपने से भिन्न जानना भ्रम है। इनको अपना जानकर औपाधिकभावों का

अभाव करने का उद्यम करना योग्य है। तथा जिनसे इसका अभाव न हो सके और अपनी महंतता चाहें, वे जीव इन्हे अपने न ठहराकर स्वच्छन्द प्रवर्तते हैं; काम-क्रोधादिक भावों को बढ़ाकर विषय-सामग्रियों में व हिंसादिक कार्यों में तत्पर होते हैं।

तथा अहंकारादि के त्याग को भी वे अन्यथा मानते हैं। सर्वको परब्रह्म मानना, कहीं अपनत्व न मानना उसे अहंकार का त्याग बतलाते हैं सो मिथ्या है; क्योंकि कोई आप है या नहीं ? यदि है तो आप में अपनत्व कैसे न मानें? यदि आप नहीं है तो सर्वको ब्रह्म कौन मानता है? इसलिये शरीरादि पर में अहंबुद्धि न करना, वहाँ कर्त्ता न होना सो अहंकार का त्याग है। अपने में अहंबुद्धि करने का दोष नहीं है।

तथा सर्वको समान जानना, किसी में भेद नहीं करना, उसको राग-द्वेष का त्याग बतलाते हैं वह भी मिथ्या है; क्योंकि सर्व पदार्थ समान नहीं हैं। कोई चेतन है, कोई अचेतन है, कोई कैसा है, कोई कैसा है, उन्हें समान कैसे मानें? इसलिये परद्रव्यों को इष्ट-अनिष्ट न मानना सो राग-द्वेष का त्याग है। पदार्थों का विशेष जानने में तो कुछ दोष नहीं है।

इसी प्रकार अन्य मोक्षमार्गरूप भावों की अन्यथा कल्पना करते हैं। तथा ऐसी कल्पना से कुशील सेवन करते हैं, अभक्ष्य भक्षण करते हैं, वर्णादि भेद नहीं करते, हीन क्रिया आचरते हैं इत्यादि विपरीतरूप प्रवर्तते हैं। जब कोई पूछे तब कहते हैं- यह तो शरीर का धर्म है अथवा जैसी ईश्वर की इच्छा होती है वैसा होता है, हमको तो विकल्प नहीं करना।

सो देखो झूठ, आप जान-जानकर प्रवर्तता है उसे तो शरीर का धर्म बतलाता है, स्वयं उद्यमी होकर कार्य करता है उसे प्रारब्ध (भाग्य) कहता है, और आप इच्छा से सेवन करे उसे ईश्वर की इच्छा बतलाता है। विकल्प करता है और कहता है-हमको तो विकल्प नहीं करना। सो धर्म का आश्रय लेकर विषयकषाय सेवन करना है, इसलिये ऐसी झूठी युक्ति बनाता है। यदि अपने परिणाम किंचित भी न मिलाये तो हम इसका कर्त्तव्य न मानें। जैसे-आप ध्यान धरे बैठा हो, कोई अपने ऊपर वस्त्र डाल

गया वहाँ किंचित सुखी न हुआ; वहाँ तो उसका कर्त्तव्य नहीं है यह सच है। और आप वस्त्र को अंगीकार करके पहिने, अपनी शीतादिक वेदना मिटाकर सुखी हो; वहाँ यदि अपना कर्त्तव्य नहीं मानें तो कैसे सम्भव है? तथा कुशील सेवन करना, अभक्ष्य भक्षण करना इत्यादि कार्य तो परिणाम मिले बिना होते नहीं; वहाँ अपना कर्त्तव्य कैसे न मानें? इसलिये यदि काम-क्रोधादिका अभाव ही हुआ हो तो वहाँ किन्हीं क्रियाओं में प्रवृत्ति सम्भव ही नहीं है। और यदि काम-क्रोधादि पाये जाते हैं तो जिस प्रकार यह भाव थोड़े हों तदनुसार प्रवृति करना। स्वच्छन्द होकर इनकों बढ़ाना युक्त नहीं है।

तथा कई जीव पवनादि की साधना करके अपने को ज्ञानी मानते हैं। वहाँ इड़ा, पिंगला, सुषुम्णारूप नासिकाद्वार से पवन निकले, वहाँ वर्णादिक भेदों से पवन ही की पृथ्वी तत्त्वादिरूप कल्पना करते हैं। उसके विज्ञान द्वारा किंचित साधना से निमित्त का ज्ञान होता है इसलिये जगत को इष्ट-अनिष्ट बतलाते हैं, आप महन्त कहलाते हैं; सो यह तो लौकिक कार्य है, कहीं मोक्षमार्ग नहीं है। जीवों को इष्ट-अनिष्ट बतलाकर उनके राग-द्वेष बढ़ाये और अपने मान-लोभादिक उत्पन्न करे, इसमें क्या सिद्धि है?

तथा प्राणायामादिक साधन करे, पवन को चढ़ाकर समाधि लगायी कहे; सो यह तो जिस प्रकार नट साधना द्वारा हस्तादिक से क्रिया करता है, उसी प्रकार यहाँ भी साधना द्वारा पवन से क्रिया की। हस्तादिक और पवन यह तो शरीर ही के अंग हैं, इनके साधनसे आत्महित कैसे सधेगा?

तथा तू कहेगा-वहाँ मन का विकल्प मिटता है, सुख उत्पन्न होता है, यम के वशीभूतपना नहीं होता;सो यह मिथ्या है। जिस प्रकार निद्रा में चेतना प्रवृति मिटती है, उसी प्रकार पवन साधने से यहाँ चेतना की प्रवृति मिटती है। वहाँ मन को रोक रखा है, कुछ वासना तो मिटी नहीं है इसलिये मन का विकल्प मिटा नहीं कहते; और चेतना बिना सुख कौन भोगता है? इसलिये सुख उत्पन्न हुआ नहीं कहते। तथा इस साधनावाले तो इस क्षेत्र में हुए हैं, उनमे कोई अमर दिखायी नहीं देता। अग्नि लगाने

से उसका भी मरण होता दिखाई देता है; इसलिये यम के वशीभूत नहीं हैं- यह झूठी कल्पना है।

तथा जहाँ साधना में किंचित् चेतना रहे और वहाँ साधना में शब्द सुने उसे "अनहदनाद'' बतलाता है। सो जिस प्रकार वीणादिक के शब्द सुनने से सुख मानना हैं, उसी प्रकार उसके सुनने से सुख मानना है। यहाँ तो विषयपोषण हुआ, परमार्थ तो कुछ नहीं है। तथा पवन के निकलने-प्रविष्ट होने में "सोहं" ऐसे शब्द की कल्पना करके उसे "अजपा जाप"कहते हैं। सो जिस प्रकार तीतर के शब्द में "तू ही" शब्द की कल्पना करते हैं, कहीं तीतर अर्थका अवधारण कर ऐसा शब्द नहीं कहता। उसी प्रकार यहाँ "सोहं"शब्द की कल्पना है, कुछ पवन अर्थ अवधारण करके ऐसे शब्द नहीं कहते; तथा शब्द जपने-सुनने ही से तो कुछ फलप्राप्ति नहीं है, अर्थ का अवधारण करने से फलप्राप्ति होती है।

"सोहं" शब्द का तो अर्थ यह है "सो मैं हूँ।" यहाँ ऐसी अपेक्षा चाहिये कि-"सो" कौन? तब उसका निर्णय करना चाहिये; क्योंकि तत् शब्दको और यत् शब्दको नित्य सम्बन्ध है। इसलिये वस्तुका निर्णय करके उसमें अहंबुद्धि धारण करनें में "सोहं" शब्द बनता है। वहाँ भी आपको आपरूप अनुभव करे वहाँ तो "सोंह" शब्द सम्भव नहीं है, पर को अपनेरूप बतलाने में "सोहं" शब्द सम्भव है। जैसे-पुरूष आप को आप जाने, वहाँ ''सो मैं हूँ'' ऐसा किसलिये विचारेगा? कोई अन्य जीव जो अपने को न पहिचानता हो, और कोई अपना लक्षण न जानता हो, तब उससे कहते हैं-"जो ऐसा है सो मैं हूँ," उसी प्रकार यहाँ जानना।

तथा कोई ललाट, भ्रमर और नासिका के अग्रको देखने के साधन द्वारा त्रिकुटी आदिका ध्यान हुआ कहकर परमार्थ मानता है। वहाँ नेत्र की पुतली फिरने से मूर्तिक वस्तु देखी, उसमें क्या सिद्धि है? तथा ऐसे साधन से किंचित अतीत्-अनागतादिक का ज्ञान हो, व वचनसिद्धि हो, व पृथ्वी -आकाशादि में गमनादि की शक्ति हो, व शरीर में आरोग्यतादिक हो तो यह तो सर्व लोकिक कार्य हैं; देवादिक को स्वयमेव ही ऐसी शक्ति पायी

जाती है। इनसे कुछ अपना भला तो होता नहीं है; भला तो विषयकषाय की वासना मिटने पर होता है; यह तो विषयकषाय का पोषण करने के उपाय हैं; इसलिये यह सर्व साधन किंचित् भी हितकारी नहीं हैं। इनमें कष्ट बहुत मरणादि पर्यन्त होता है और हित सधता नहीं है; इसलिये ज्ञानी वृथा ऐसा खेद नहीं करते, कषायी जीव ही ऐसे साधन में लगते हैं।

तथा किसी को बहुत तपश्चरणादिक द्वारा मोक्षका साधन कठिन बतलाते हैं, किसी को सुगमता से मोक्ष हुआ कहते हैं। उद्धवादिक को परम भक्त कहकर उन्हे तो तप का उपदेश दिया कहते हैं और वेश्यादिक को बिना परिणाम (केवल) नामादिक ही से तरना बतलाते हैं, कोई ठिकाना ही नहीं है। इसप्रकार मोक्षमार्ग को अन्यथा प्ररूपित करते हैं.......।

अब वे ज्ञानयोग से मोक्ष की प्राप्ति कहते हैं। एक अद्वैत सर्वव्यापी ब्रह्म को जानना उसको ज्ञान कहते हैं, परन्तु वह मिथ्या है यह बात पहले कही है।

अपने को सर्वथा शुद्ध मानते हैं, काम-क्रोधादि व शरीरादि को भ्रम ही मानते हैं। परन्तु सभी आत्मायें पर्याय से भी शुद्ध ही है ऐसा नहीं है, क्योंकि स्वयं यदि शुद्ध ही है तो मोक्ष का उपाय किसलिये करता है? जो दुःखादि होते हैं वे शरीर का धर्म नहीं; परन्तु आत्मा ज्ञानानन्द स्वरूप को भूल जाता है तब आत्मा में विकार होता है वह दुःख है। वह आत्मा में होता है, शरीर में नहीं होता। आत्मा शुद्ध ही हो तो कुछ करने को रहता नहीं। अतः आत्मा द्रव्य से शुद्ध है और पर्याय अपेक्षा अशुद्ध है-ऐसा मानना यथार्थ है।

आत्मा की पर्याय में विकार है। उसको सर्वथा भ्रम ही मानने वाला ज्ञान खोटा है। विकार का अभाव तो स्वयं जब करेगा तब होगा और शरीरादि का तो आत्मा में अभाव है; परन्तू निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध अभी है, फिर भी उसका सर्वथा अभाव मानना वह भ्रम है। तथा सर्वथा अद्वैत मानने वाला मोक्ष के उपाय को भी भ्रम ही कहता है। रस्सी में सर्प का आरोप किया तो वहाँ सर्प अन्य है तो रस्सी से सर्प का आरोप करते है, ऐसे रस्सी और सर्प दो वस्तूयें सिद्ध हूई। इसलिये सर्वथा अद्वैत ही है ऐसा नहीं है। तथा अशुद्ध माना था वह अत्यन्त भ्रम ही नहीं, पर्याय मे अशुद्धता है और स्वभाव से शुद्ध है।

पर्याय में काम-क्रोधादि होते हैं ऐसा जानना वह यथार्थ है; परन्तु अशुद्धता होने पर भी वर्तमान में शुद्ध मानना योग्य नहीं है। वर्तमान में शुद्ध मानने को ज्ञानयोग कहते हैं;

परन्तु वह खोटी बात है। तथा उस विकार को मन का धर्म कहते हैं,- वह भी सत्य नहीं है। काम-क्रोधादि होते हैं वे मन के निमित्त से आत्मा की अवस्था में होते हैं। तथा आत्मा मनन करता है वह ज्ञान है वह भावमन द्वारा होता है इसलिये वह आत्मा का स्वरूप है, वह आत्मा से अलग भासित नहीं होता। भावमन को जड़ कहे तो वह भी उचित नहीं है और यदि ब्रह्म भावमन से भिन्न हो तो ब्रह्म में वह अपनापन किसलिये मानता है? इसलिये भ्रम छोड़कर, शरीरादि जड़ का स्वरूप है और आत्मा इन्द्रियों द्वारा ज्ञान करता है वह आत्मा का स्वरूप है-ऐसा निर्णय करना।

द्रव्यदृष्टि से बंध-मुक्ति आत्मा का स्वभाव नहीं, बंध-मुक्ति पर्याय मे है; इसलिये त्रिकाली की दृष्टि से वह आत्मा का स्वरूप नहीं है। पर्यायदृष्टि से ज्ञान की पर्याय और काम-क्रोधादि की पर्याय होती है वह आत्मा की है- ऐसा यहाँ कहा है- इसप्रकार दोनो बातों को बराबर समझना चाहिये।

समयसार मे गुणस्थान आदि को पुद्गल के परिणाम कहा है। वह द्रव्य की अपेक्षा से कहा है। यहाँ पर्याय का ज्ञान कराते हैं कि अशुद्धता हो रही है वह तेरी पर्याय है और तेरे कारण ही हुई है, किसी पर से वह पर्याय नहीं हुई। वस्तु को माने और पर्याय को न माने तो मिथ्यात्व है और अकेली पर्याय को जाने व वस्तू को नहीं माने तो वह भी मिथ्यात्व है।

काम-क्रोधादि क्षणिक है वह अपना स्वभाव नहीं- ऐसा जानकर जब स्वभाव का भान करेगा और स्थिरता करके उनका अभाव होगा तब केवलज्ञान होगा। वर्तमान इन्द्रिय और मन के आधीन जो ज्ञान है उसका अभाव होगा तब केवलज्ञान होगा और आत्मा शुद्ध होगा, परन्तु वर्तमान में सर्वथा शुद्ध मानना योग्य नहीं है। इसप्रकार बुद्धि-अंहकारादि हैं वे काम-क्रोधादिवत् औपाधिकभाव हैं; उन्हें आत्मा से सर्वथा भिन्न जानना वह भ्रम है। वे अपनी पर्याय में होते हैं- ऐसा जानना व मानना, वह यथार्थ है। विकार कर्म के कारण होता है- ऐसा मानना भी भ्रम और अज्ञान है। शास्त्र में विकार को पर का कहा है वह तो त्रिकाल स्वभाव में नहीं और उसका नाश हो सकता है इस अपेक्षा से द्रव्यदृष्टि कराने के लिये कहा है, परन्तु इससे पर्याय में विकार नहीं है- ऐसा नहीं है।

आत्मा ज्ञानानन्द मूर्ति त्रिकाल शुद्ध है। उसकी पर्याय में विकार है वह अपना स्वभाव नहीं ऐसी द्रव्यदृष्टि पूर्वक चारित्र और वीतरागता बढ़ गई है और इतना आनन्द

बढ़ गया है कि शरीर का लक्ष्य छूट गया है और शरीर मे नग्नदशा उसके कारण हो गई है- ऐसी मुनि दशा है। मात्र अकेली शरीर की नग्नदशा होवे और आत्मा का भान नहीं होवे उसे भगवान मुनिपना नहीं कहते। आत्मा की पर्याय में राग-द्वेषादिक होते है वे आत्मा से सर्वथा भिन्न नहीं है-ऐसा जानना चाहिये। अवस्था मे मिथ्याभ्रान्ति-अज्ञान है- ऐसा निर्णय करके पर्यायबुद्धि छोड़ना और स्वभावबुद्धि करना योग्य है। परन्तु मेरी पर्याय मे विकार है ही नहीं- ऐसा मानकर पुरूषार्थ नहीं करे और स्वच्छन्दता का पोषण करे वह तो मिथ्यात्वभाव है तथा वह तो भटककर मरने का रास्ता है। इसलिये यथार्थ ज्ञान करके स्वभाव दृष्टि का पुरूषार्थ करना ही योग्य है।

अब वे अंहकार का त्याग बताते हैं वह भी अन्यथापने बताते हैं कि कहीं भी अपनापन नहीं मानना उसको अहंकार का त्याग बताते हैं, वह भी मिथ्या है। आत्मा स्वयं है उसमे अपनापन मानना वह अहंकार नही है। स्वयं अपने द्रव्य-क्षैत्र-काल-भाव से है और पर के द्रव्य-क्षैत्र-काल-भाव से नहीं है। वह भी स्वयं है- ऐसा मानना वह सच्चा ज्ञान है। छोटे मोटे के भ्रम को छोड़ देने को अंहकार का त्याग कहते है वह भी यथार्थ नही है। शरीरादि पर पदार्थों में अहंबुद्धि नहीं करना अर्थात पर में कर्त्तापना नहीं करना और स्वयं अपनेरूप से है-ऐसा मानना वह वास्तव में अंहकार का त्याग है। इस बात की उन्हें खबर नहीं है- इसलिये वे मिथ्यादृष्टि हैं।

आत्मा चैतन्यमूर्ति ज्ञानस्वरूपी है वह मैं हूँ और शरीर की क्रिया शरीर से होती है, आत्मा उसका कर्ता नहीं-ऐसा मानना वह अहंकार का वास्तविक त्याग है। शरीर की क्रिया आत्मा की नही है और शरीर आत्मा का नहीं है । आत्मा पर में अहंबुद्धि न करे, बल्कि अपने में अहंबुद्धि (मैंपना) करे तो इसमें कुछ दोष नहीं है-वह तो सम्यग्ज्ञान हैं।

तथा सबको समान जानना और किसी की निन्दा नहीं करना और किसी में भेद नही करना उसको राग-द्वेष का त्याग बताते हैं; परन्तु यह बात यथार्थ नहीं है। ज्ञानी इस प्रकार सबको समान नहीं जानते। तथा भेद पाडना उसे वे राग-द्वेष मानते हैं; परन्तु राग-द्वेष के त्याग की यह विधि नहीं है; क्योंकि कोई चेतन है, कोई अचेतन है,कोई सम्यग्ज्ञानी है और कोई निगोदिया है। इसलिये सबको समान मानना यथार्थ नहीं है। हाँ, परवस्तु को इष्ट-अनिष्ट मानना-वह राग-द्वेष हैं, परन्तु परवस्तु जैसी है वैसी उसे जानना वह कोई राग-द्वेष नहीं है। पर्याय अपेक्षा से मूर्ख, पण्डित, देव, नारकी, निगोद आदि है;

परन्तु निगोद अनिष्ट है और केवली-सिद्ध आदि मुझे इष्ट है- ऐसा नहीं मानना- इसका नाम सम्यग्दृष्टि है।

जैनदर्शन ने सबको समान अधिकार दिया है-ऐसा नहीं; परन्तु जिसका जैसा स्वभाव है वैसा कहा है। चेतन-अचेतन द्रव्य भिन्न-भिन्न स्वतन्त्र हैं,उनकी पर्याय स्वतन्त्रपने होती है- इसप्रकार जैसा है वैसा कहा है। भगवान ने किसी को अधिकार दिया है-ऐसा नहीं है। निगोद की पर्याय को निगोदरूप जानना,सिद्ध की पर्याय को सिद्धरूप जानना-यह यथार्थ ज्ञान है। द्रव्य अपेक्षा से समान है इसलिये पर्याय अपेक्षा से भी समान है-ऐसा नहीं है। द्रव्य की भाँति पर्याय से समान मानना-वह राग-द्वेष के त्याग का उपाय नहीं है। रोटी और माँस समान नहीं है, सोना और कोयला समान नहीं है-ऐसा जानना; परन्तु एक इष्ट और दूसरा अनिष्ट है-ऐसा नहीं मानना-यह राग-द्वेष के नाश का उपाय है। वस्तु की जैसी स्थिति है वैसी जानना वह सरलता और आर्यता है; परन्तु सबको पर्याय अपेक्षा समान मानना तो भ्रम है।

जो समस्त पदार्थों में समानपना मानते हैं और भेद नहीं करते वे मूर्ख हैं। तथा सभी समान है- ऐसी कल्पना करके हीन क्रिया आचरते हैं, अभक्ष्य भक्षण करते हैं वह तो अज्ञान और भ्रम है। इसलिये जितना भेद है उतना यथार्थ समझना चाहिये। चाण्डाल भी मुनि हो सकता है- ऐसा कोई मानता है वह मान्यता भी इनके जैसी है, इसलिये वर्णभेद यथार्थ समझना चाहिये। यहाँ पण्डित टोडरमलजी लिखते हैं कि वर्णभेद जानना चाहिये। सभी समान नहीं है। जैनधर्म विशाल है, इसलिये सबको समान मानता है- ऐसा नहीं है। जैनधर्म पर्याय में जो भेद है उसे बराबर जानता है और स्वीकारता है। स्त्री की अथवा चाण्डाल की जितनी हद होती हैं उतनी जानता है। सबको पर्याय अपेक्षा से समान नहीं मानता। अज्ञानी पर्याय से सबको समान मानकर स्वच्छन्दता करके विपरीतरूप प्रवर्तता है। जब कोई उससे पूछता है तो कहता है कि वह तो शरीर का धर्म है- ऐसा कहकर काम-क्रोधादि में प्रवर्त्तता है। जैन में भी अज्ञानी कहता है कि कर्म के उदय के प्रमाण में शुभाशुभ परिणाम होते हैं-वे भी इनकी तरह मिथ्यादृष्टि हैं। कर्म का उदय आया इसलिये खाने आदि की इच्छा हो गई-ऐसा मानते हैं, वे भी मूढ़ हैं; क्योंकि इच्छा तो स्वयं करते हैं और कर्म के कारण अथवा ईश्वर की इच्छा से होती है- ऐसा मानते हैं वे मिथ्यादृष्टि हैं। अपने को धर्म सुनने का विकल्प नहीं करना, प्रारब्ध अनुसार होगा-ऐसा कहकर

स्वच्छन्दी होता है। जिसके रागादि के त्याग का पुरूषार्थ नहीं है वह स्वच्छन्दी है। कितने ही क्रमबद्ध पर्याय की बात सुनकर भी इस प्रकार कहते हैं, और तीव्र कषाय में प्रवर्तते हैं; क्योंकि उस समय भाव तो स्वयं करते हैं और मुझे विकल्प नही करना- ऐसा कहते हैं। देखो तो सही स्वयं जानने पर भी झूठरूप प्रवर्तता है और शरीरादि का धर्म है, इन्द्रियों का धर्म है-ऐसा कहकर स्वच्छन्द का सेवन करता है। इसलिये वह मिथ्यादृष्टि है, उसके राग-द्वेष का त्याग नहीं होता।

अज्ञानी धर्म के बहाने कषायों का पोषण करता है और झूठी युक्ति बनाता है। यदि स्वयं राग-द्वेष के परिणाम जरा भी न करता होवे तो हम माने कि उसका कर्तव्य नहीं है। स्वयं ध्यान धरकर बैठा होवे और कोई अपने उपर वस्त्र डाल जाये,वहाँ स्वयं तो किंचित् सुखी नही होता,इष्ट बुध्दि नहीं होती तो वहाँ तेंरा कर्तव्य नहीं है-यह बात सत्य है; परन्तु स्वयं वस्त्र को समानरूप से ओड़ता है, शरीर को ढँकता है और कहता है कि मुझें राग नहीं, तो वह मूढ़ है। वह वस्तुस्वरूप को नहीं समझता।

काम-क्रोधादि के भाव करे स्वयं और डाले ईश्वर के ऊपर अथवा जैन में आकर कर्म के ऊपर डाले- वे दोनो एक समान मान्यता वाले मिथ्यादृष्टि हैं। अन्यमती का परमेश्वर तो चेतन हुआ और जैन कर्म के कारण माने तो उनका परमेश्वर जड़ हुआ; यह तो उन की अपेक्षा भी ज्यादा मूढ़ हुआ। इसलिये काम-क्रोध के परिणाम स्वयं करता है- ऐसा मानना चाहिये। विषय-कषाय के परिणाम न होवे तो बाहर में ऐसी क्रिया की प्रवृति भी स्वतः नहीं होती। इसलिये काम-क्रोधादि के भाव न हो वैसी प्रवृत्ति करना; परन्तु स्वच्छन्दी बनकर विषय-कषाय बढ़ाना योग्य नहीं है।

अज्ञानी जीव शरीर, कर्म, काल आदि के कारण से आत्मा में परिणाम होते हैं- ऐसा मानता है। हीन काल के कारण यहाँ मोक्ष नहीं है- ऐसा कहता है, निमित्त के कारण आत्मा में कार्य होता है-ऐसा मानता है, सो यह सब बातें मिथ्या है। जब नैमित्तिक पर्याय होती है तो निमित्त में निमित्तपने का आरोप आता है। किसी निमित्त के कारण नैमित्तिक है ही नहीं। शरीर के कारण आत्मा और आत्मा के कारण से शरीर में कार्य होता है- ऐसा मानना, वह दो द्रव्यों की एकता है। इसलिये ऐसा मानना योग्य नहीं है।

तथा अज्ञानी ध्यान करता है तब पवन आदि साधन से अपने को ज्ञानी मानता है; परन्तु वह पवन आदि की क्रिया तो जड़ की क्रिया है, आत्मा उसे नहीं कर सकता।

आत्मा भाषा नहीं कर सकता। शुभराग के कारण भाषा नहीं होती। भाषा होनी थी वह हुई, तो इच्छा को निमित्त कहा जाता है। तथा अन्यमतियों को विज्ञान के द्वारा कुछ साधन से निमित्त का ज्ञान होता है जिसके द्वारा वे जगत को इष्ट-अनिष्ट बताकर अपने को महंत कहलाते हैं; परन्तु यह तो लौकिक कार्य हैं। ऐसा तो अन्य मिथ्यादृष्टि को भी होता है,इसमें कुछ महत्ता नहीं है। उसमें आत्मा की कुछ सिद्धि नहीं होती। प्राणायाम आदि साधन के द्वारा पवन को चढ़ाकर समाधि हुई- ऐसा मानते हैं; परन्तु वह तो जड़ की क्रिया है। वह आत्मसाधन नहीं है। पवन को रोकने से धर्म नहीं होता। आत्मा में राग-द्वेष न होने दे तो धर्म साधन होता है; परन्तु इसकी उसे खबर नहीं है। मन को रोके उससे कुछ धर्म नहीं होता; क्योंकि वासना तो मिटी नहीं। चेतना की जागृति है ही नहीं। जिसको आत्मा का सच्चा ज्ञान नहीं है उसको सच्चा आनन्द कहाँ से आवेगा? नहीं आवेगा। राग और देह की क्रिया से पार ऐसे आत्मा की शुद्ध क्रिया से धर्म और आनन्द होता हैं; वह उसको नहीं होता है।

तथा 'सोहं' के जाप को धर्म कहता है, परन्तु वह तो शब्द है और श्वांस की क्रिया है,आत्मा की क्रिया नहीं। शब्द बोलने से या सुनने से तथा शब्द द्वारा भक्ति करने से आत्मा को कुछ लाभ नहीं है; क्योंकि शब्द तो जड़ है। उस समय अपने परिणाम जैसे करे वैसे फल की प्राप्ति होती है। सुनते समय क्षण-क्षण में ज्ञान की पर्याय हो रही है- वह शब्द के कारण नहीं, शब्द के कारण से ज्ञान मानना वह भ्रम है। अंजन चोर ने नमस्कार मंत्र जपा इसलिये उसको लाभ हुआ- ऐसा नहीं है, परन्तु उसके अर्थ को जानकर अपने में जो भाव किया उसके कारण लाभ हुआ है।

जगत में द्रव्य-गुण-पर्याय के सिवाय चौथी कोई वस्तु ही नहीं है; तो काललब्धि क्या है? काल द्रव्य तो अरूपी है- जड़ है, उसके कारण आत्मा की पर्याय में कार्य नहीं होता। स्वकाल की प्राप्ति वह काललब्धि है भाषा का वर्तमान काल है उस समय आत्मा की वर्तमान पर्याय है और प्रत्येक द्रव्य की काललब्धि है। किसी पर के कारण से किसी पर में कुछ नहीं होता। शब्द के भाव को समझे तो लाभ होता है, परन्तु मात्र सुनने से लाभ होता है-ऐसा नहीं है। स्वयं उस अनुसार जाने और माने तो लाभ होता है ।

कितने ही ज्ञानयोग से मोक्ष की प्राप्ति मानते हैं; परन्तु वे ज्ञानयोग का स्वरूप नहीं जानते। उनके अनेक प्रकार कहे है। 'मैं हूँ'- ऐसा मानना वह अहंकार है और सब होकर

एक ब्रह्म माने उसे ज्ञानयोग कहते हैं; परन्तु वह यथार्थ नहीं है। तथा सोहं जप जपने से लाभ मानते हैं; परन्तु शब्द से कुछ लाभ नहीं है। सोहं शब्द का अर्थ समझे तो लाभ होवे। इसलिये उसका निर्णय करना चाहिये। आत्मा ज्ञान-दर्शन स्वभावी है· उसका निर्णय करने से सोहं शब्द का अर्थ समझ में आता है।

आत्मा किसको कहना? उसकी भावना किसको कहना? इसे जाने बिना आत्मा की सच्ची भावना नहीं होती। इसलिये प्रथम वस्तु का यथार्थ निर्णय करना चाहिये। तत् और यत् शब्द का नित्य सम्बन्ध है इसलिये वस्तु का निर्णय करके सोहँ शब्द का अर्थ जाने तो कल्याण हो। पर को बताने के लिये 'यह सो मैं हूँ'- ऐसा कहा जाता है, परन्तु अपने अनुभव में 'यह सो मैं हूँ'- ऐसा नहीं रहता। अनन्त गुणो का पिण्ड वह जीव है और ज्ञान उसका स्वरूप है- ऐसा पर को समझाने के लिये कहा जाता है; परन्तु अपने अनुभव के लिये 'यह सो मैं हूँ'- ऐसा नहीं रहता। इस प्रकार सोहं शब्द का जैसा अर्थ है वैसा समझना चाहिये।

अन्यमती बाबा-जोगी त्रिकूटी आदि का साधन करके परमार्थ मानते हैं और उसमें मूर्तिक पदार्थ दिखे उससे सिद्धि हुई मानते हैं, प्रकाश देखा हो उसे आत्मा का साक्षात्कार मानते हैं। उसमें किसी समय वचन सिद्धि भी होती है और कुछ भूत-भविष्यत् का ज्ञान भी होता है। तथा शरीर के रोग के नाश का उपाय भी जानते हैं, परन्तु ये तो लौकिक कार्य हैं। ऐसा तो अभव्य के भी होता है, इससे आत्मा को कुछ लाभ नहीं है। पर्वत में चले जायें, अधर चलें, योगशक्ति से ऐसी सिद्धि होती है; परन्तु उससे आत्मा की सिद्धि नहीं हैं। ऐसी शक्तियाँ तो देवादि में भी होती है। ऊँचे तो पक्षी भी उड़तें हैं,तो योग साधकर क्या विशेषता हुई? विषय-कषाय आदि की वासना बैठ गई है वह मिटे तब भला हो और वह तो स्वरूप को जानने पर ही मिटती है। इस योग की क्रिया के साधन से वह मिटे-ऐसा नहीं है। इसलिये ज्ञानी पुरूष ऐसा व्यर्थ खेद नहीं करते है।

ऋषभदेव भगवान को अवतार ठहराकर उनके तपश्चर्या का साधन करना कहते हैं। किसी के सुगमपने मोक्ष हुआ कहते हैं और वैश्यादि के परिणाम बिना मात्र नाम से तिर जाना कहते हैं-कुछ ठिकाना ही नहीं है। इस प्रकार मोक्षमार्ग का अन्यथा प्ररूपण करते हैं। मोक्षमार्ग तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकता है, अन्य एक भी मोक्षमार्ग नहीं है। यह बताने के लिये यह अन्यमत के निराकरण की बात की गई है। ऐसा मार्ग है और

ऐसा मार्ग नहीं है-ऐसा अस्ति-नास्ति स्वरूप है।

एक-एक आत्मा की जितनी पर्यायें हो गई हैं उसकी अपेक्षा अनन्तगुनी पर्यायें बाकी है,- इसको श्वेताम्बर नहीं मानते। इसलिये वे द्रव्य के स्वभाव को नहीं समझते। भूत की अपेक्षा भविष्य की अनन्तगुनी पर्यायें हैं-ऐसा स्वीकार नहीं करे तो एक द्रव्य पूर्ण सिद्ध नहीं होता। जो भूत जितनी भविष्य की पर्यायें मानतें हैं वे द्रव्य को अनन्तवें भाग मानते हैं; इसलिये वे द्रव्य को नहीं समझते। और वेदान्त आदि अन्यमत एक-एक द्रव्य स्वतन्त्र है और पर्याय प्रतिसमय होती है-ऐसा नहीं मानते; इसलिये वे गृहीत मिथ्यादृष्टि हैं। उसका यह अधिकार चलता है। एक द्रव्य की क्रिया अन्य द्रव्य से होती है और पुण्य से धर्म होता है- यह अगृहीत मिथ्यात्व तो अनादि का है ही, उसको पुष्ट करने वाला गृहीत मिथ्यात्व है उसकी बात यहाँ चल रही है।

अन्यमत कल्पित मोक्षमार्ग की मीमांसा

....तथा मोक्षस्वरूप को भी अन्यथा प्ररूपित करते हैं। वहाँ मोक्ष अनेक प्रकार से बतलाते हैं।

एक तो मोक्ष ऐसा कहते हैं कि- वैकुण्ठधाम में ठाकुर-ठकुरानी सहित नाना भोग-विलास करते हैं, वहाँ पहुँच जाय और उनकी सेवा करता रहे सो मोक्ष है; सो यह तो विरूद्ध है। प्रथम तो ठाकुर ही संसारीवत् विषयासक्त हो रहे हैं; सो जैसे राजादिक हैं वैसे ही ठाकुर हुए। तथा दूसरों से सेवा करानी पड़ी तब ठाकुर के पराधीनपना हुआ। और यदि वह मोक्ष प्राप्त करके वहाँ सेवा करता रहे तो जिस प्रकार राजा की चाकरी करना उसी प्रकार यह भी चाकरी हुई, वहाँ पराधीन होने पर सुख कैसे होगा? इसलिये यह भी नहीं बनता।

तथा एक मोक्ष ऐसा कहते हैं- ईश्वर के समान आप होता है; सो भी मिथ्या है। यदि उसके समान और भी अलग होते हैं तो बहुत ईश्वर हुए। लोकका कर्त्ता-हर्त्ता कौन ठहरेगा? सभी ठहरें तो भिन्न इच्छा होने पर परस्पर विरोध होगा। एक ही है तो समानता नहीं हुई । न्यून है उसको नीचेपन से उच्च होने की आकुलता रही; तब सुखी कैसे होगा? जिस प्रकार छोटा राजा या बड़ा राजा संसार में होता है; उसी प्रकार छोटा-बड़ा

ईश्वर मुक्ति में भी हुआ सो नहीं बनता।

तथा एक मोक्ष ऐसा कहते हैं कि- वैकुण्ठ में दीपक जैसी एक ज्योति है, वहाँ ज्योति में ज्योति मिल जाती है; सो यह भी मिथ्या है। दीपक की ज्योति तो मूर्तिक अचेतन है, ऐसी ज्योति वहाँ कैसे सम्भव है? तथा ज्योति में ज्योति मिलने पर यह ज्योति रहती है या विनष्ट हो जाती है? यदि रहती है तो ज्योति बढ़ती जायगी, तब ज्योति में हीनाधिकपना होगा; और विनष्ट हो जाती है तो अपनी सत्ता नष्ट हो ऐसा कार्य उपादेय कैसे मानें? इसलिये ऐसा भी बनता नहीं है।

तथा एक मोक्ष ऐसा कहते हैं कि- आत्मा ब्रह्म ही है, माया का आवरण मिटने पर मुक्ति ही है; सो यह भी मिथ्या है। यह माया के आवरण सहित था तब ब्रह्म से एक था कि अलग था? यदि एक था तो ब्रह्म ही मायारूप हुआ और अलग था तो माया दूर होने पर ब्रह्म में मिलता है तब इसका अस्तित्व रहता है या नहीं? यदि रहता है तो सर्वज्ञ को तो इसका अस्तित्व अलग भासित होगा; तब संयोग होने से मिले कहो, परन्तु परमार्थसे तो मिले नहीं हैं। तथा अस्तित्व नहीं रहता है तो अपना अभाव होना कौन चाहेगा? इसलिये यह भी नही बनता।

तथा कितने ही एक प्रकार से मोक्ष को ऐसा भी कहते हैं कि- बुद्धि आदिक का नाश होने पर मोक्ष होता है। सो शरीर के अंगभूत मन, इन्द्रियों के आधीन ज्ञान नहीं रहा। काम-क्रोधादिक दूर होनेपर तो ऐसा कहना बनता है; और चेतनताका भी अभाव हुआ मानें तो पाषाणादि समान जड़ अवस्था को कैसे भला मानें? तथा भला साधन करने से तो जानपना बढ़ता है, फिर बहुत भला साधन करने पर जानपने का अभाव होना कैसे मानें? तथा लोक में ज्ञान की महंतता से जड़पने की तो महंतता नहीं है; इसलिये यह नहीं बनता।

इसी प्रकार अनेक प्रकार कल्पना द्वारा मोक्ष बतलाते हैं सो कुछ यथार्थ तो जानते नहीं हैं; संसार अवस्था की मुक्ति अवस्था में कल्पना करके अपनी इच्छानुसार बकते हैं।

इस प्रकार वेदान्तादि मतों में अन्यथा निरूपण करते हैं........।

कितने ही मोक्ष के स्वरूप को अन्यथा प्रकार से कहते हैं। उनमें एक तो वैकुण्ठधाम में ठाकुरजी ठकुरानी सहित भोग-विलास करते हैं, वहाँ जाकर उन्हें मानकर सेवा करने को- मोक्ष कहते हैं। परन्तु यह तो पराधीनता हुई। यहाँ संसार में जैसा है वैसा ही यह हुआ, अतः वैसा मोक्ष का स्वरूप यथार्थ नहीं है।

तथा दूसरा प्रकार यह है कि वहाँ ईश्वर जैसा स्वयं होता है। तो बहुत ईश्वर मानने पर लोक कर्त्ता-हर्त्ता किसको कहना? अलग-अलग इच्छा होने पर परस्पर विरोध आवे तो इससे सुख कैसे होगा?इसलिये ईश्वर का ऐसा स्वरूप नहीं है।

तथा कितने ही मोक्ष के स्वरूप को "ज्योत में ज्योत मिल जाती है"-ऐसा कहते हैं। परन्तु यह मिथ्या है; क्योंकि ज्योति तो जड़-अचेतन है- ऐसी ज्योति वहाँ कैसे हो? और आत्मा की मुक्ति होने पर अन्य आत्मा में वह मिल जाये तो अपनी अस्ति रहे नहीं, तो अपना नाश करके मोक्ष हो वह सुखरूप कैसे होगा? इसलिये यह बात भी यथार्थ नहीं है।

तथा आत्मा ब्रह्म ही है, माया का आवरण मिटते ही मुक्ति होती है-ऐसा कहते हैं। वह भी मिथ्या है, क्योंकि माया और ब्रह्म-दो अलग मानने पर ब्रह्मपना नहीं रहता और दोनो को एक मानने पर माया का अभाव होने पर ब्रह्म का अभाव होता है। इसलिये इस प्रकार भी मुक्ति का स्वरूप यथार्थ नहीं है।

तथा वे बुद्धि आदि का नाश होने पर मोक्ष होता है- ऐसा मानते हैं। वह भी यथार्थ नहीं है। तथा वे कहते हैं कि जैसे दीवा (दीपक) के ऊपर काजल न होने देनी हो तो दीपक को बुझा देना चाहिये; वैसे ही ज्ञान में से विकार-काम,क्रोधादि का अभाव करना हो तो ज्ञान का अभाव करना-उसे मुक्ति कहते हैं। परन्तु वह यथार्थ नहीं है; क्योंकि ज्ञान का अभाव होने से जड़ होने पर उसे भला कैसे मानें? आत्मा ज्ञानानन्द मूर्ति है- उसकी रुचि ज्ञान और रमणता होने पर काम-क्रोधादि का अभाव होता है। अपना स्व-परप्रकाशक स्वभाव खिल जाता है, उसमें स्व का अनुभवन होना मोक्ष है। यहाँ तो रागादि घटने से ज्ञान बढ़ता है, तो वहाँ सर्वथा प्रकार से रागादि का अभाव होने से ज्ञान का अभाव होता है- यह मानना यथार्थ नहीं है। इस प्रकार अन्यमत अनेक प्रकार से मोक्ष का स्वरूप कहता है, परन्तु वह मिथ्या है।

मुस्लिममत सम्वन्धी विचार

......तथा इसी प्रकार मुसलमानो के मत में अन्यथा निरूपण करते हैं। जिस प्रकार वे ब्रह्म सर्वव्यापी, एक, निरंजन, सर्वका कर्त्ता-हर्त्ता मानते हैं; उसी प्रकार यह खुदा को मानते हैं। तथा जैसे वे अवतार हुए मानते हैं वैसे ही यह पैगम्बर हुए मानते हैं। जिस प्रकार वे पुण्य-पाप का लेखा लेना, यथायोग्य दण्डादिक देना ठहराते हैं; उसी प्रकार यह खुदा को ठहराते हैं। तथा जिस प्रकार वे गाय आदि को पूज्य कहते हैं; उसी प्रकार यह सूअर आदि को कहते हैं। सब तिर्यचादिक हैं। तथा जिस प्रकार वे ईश्वर की भक्ति से मुक्ति कहते हैं; उसी प्रकार यह खुदा की भक्ति से कहते हैं। तथा जिस प्रकार वे कहीं दया का पोषण, कही हिंसा का पोषण करते है; उसी प्रकार यह भी कहीं महर करने का, कहीं कतल करने का पोषण करते हैं। तथा जिस प्रकार वे कहीं तपश्चरण करनेका, कहीं विषय-सेवन का पोषण करते हैं; उसी प्रकार यह भी पोषण करते हैं। तथा जिस प्रकार वे कहीं मांस-मदिरा, शिकार आदि का निषेध करते हैं, कही उत्तम पुरूषों द्वारा उनका अंगीकार करना बतलाते हैं; उसी प्रकार यह भी उनका निषेध व अंगीकार करना बतलाते हैं। ऐसे अनेक प्रकार से समानता पायी जाती है। यद्यपि नामादिक और और हैं; तथापि प्रयोजनभूत अर्थकी एकता पायी जाती है।,

तथा ईश्वर, खुदा आदि मूल श्रद्धान की तो एकता है और उत्तर श्रद्धान में बहुत ही विशेष हैं; वहाँ उनसे भी यह विपरीतरूप विषयकषाय के पोषक, हिंसादि पाप के पोषक, प्रत्यक्षादि प्रमाण से विरूद्ध निरूपण करते हैं।

इसलिये मुसलमानों का मत महा विपरीतरूप जानना।........

जैसे अन्यमत ब्रह्म को सर्वव्यापी एक निरंजन सर्व का कर्ता-हर्ता मानता है,-वैसे ही ये खुदा को मानते हैं। वे गाय को पूज्य है कहते हैं, ये सूअर को पूज्य कहते हैं। इस प्रकार अनेक प्रकार से वेदान्तियों से समानता है। नामादिक में अन्तर होने पर भी प्रयोजनभूत अर्थ की इनमें एकता है। अर्थात् मूल श्रद्धा की एकता होने पर भी उत्तर श्रद्धान में अन्तर हैं।

इस प्रकार अनेक प्रकार से विषय-कषाय, हिंसा आदि पाप पोषक होने से वह प्रमाण से विरूद्ध है। इसलियें मुसलमानमत्त भी विपरीतरूप जानना।

❁

...... इस प्रकार इस क्षेत्र-काल में जिन-जिन मतों की प्रचुर प्रवृति है उनका मिथ्यापना प्रगट किया।

यहाँ कोई कहे कि-यह मत मिथ्या हैं तो बड़े राजादिक व बड़े विद्यावान् इन मतों में कैसे प्रवर्तते हैं?

समाधानः- जीवों के मिथ्यावासना अनादिसे है सो इनमें मिथ्यात्वहीका पोषण है। तथा जीवों को विषयकषायरूप कार्यों की चाह वर्तती है सो इनमें विषयकषायरूप कार्योहीका पोषण है। तथा राजादिकों का व विद्यावानों का ऐसे धर्म में विषयकषायरूप प्रयोजन सिद्ध होता है। तथा जीव तो लोकनिंद्यपना को भी लांघकर, पाप भी जानकर, जिनकार्यों को करना चाहे; उन कार्यो को करते धर्म बतलायें तो ऐसे धर्म में कौन नहीं लगेगा? इसलिये इन धर्मो की विशेष प्रवृत्ति है।

तथा कदाचित् तू कहेगा- इन धर्मों में विरागता, दया इत्यादि भी तो कहते हैं? सो जिस प्रकार झोल दिये बिना खोटा द्रव्य (सिक्का) नहीं चलता; उसी प्रकार सच को मिलाये बिना झूठ नहीं चलता; परन्तु सर्वके हित प्रयोजन में विषयकषायका ही पोषण किया है। जिस प्रकार गीता में उपदेश देकर युद्ध कराने का प्रयोजन प्रगट किया, वेदान्त में शुद्ध निरूपण करके स्वच्छन्द होने का प्रयोजन दिखाया; उसी प्रकार अन्य जानना। तथा यह काल तो निकृष्ट है, सो इसमें तो निकृष्ट धर्म ही की प्रवृति विशेष होती है।

देखों, इस कालमें मुसलमान बहुत प्रधान हो गये, हिन्दू घट गये; हिन्दुओं में और तो बढ़ गये, जैनी घट गये । सो यह कालका दोष है ।

इस प्रकार इस क्षेत्र में इस काल मिथ्याधर्म की प्रवृत्ति बहुत पायी जाती है....।

प्रश्नः- यदि ये मत मिथ्या हैं तो बड़े-बड़े राजादि और बड़े विद्यावान पुरूष इन मतों में किस प्रकार प्रवर्तते हैं?

उत्तर:- संसारी जीवों को अनादिकाल से मिथ्यावासना है। अब इन मतों में मिथ्यात्व का ही पोषण हैं। तथा जीवों को विषय-कषायरूप कार्यों की इच्छा वर्तती है और इनमें विषय-कषायरूप कार्यों का पोषण है। तथा ऐसे धर्म मतों में राजादिक और विद्वानों का विषय-कषायरूप प्रयोजन सिद्ध होता है। और संसारी जीव तो लोकनिंद्यपने को भी उलंघनकर जिनमें पाप होता जाने उन कार्यों को विषय-कषाय के लिये करना चाहते हैं। तो फिर उन कार्यों को करते कोई धर्म बतावे तो ऐसे धर्म में कौन नहीं जुड़ेगा? इससे इन धर्म मतों की प्रवृति विशेष है।

प्रश्न:- इन धर्म मतों में भी वीतरागता और जीव दयादिक तो कहे हैं?

उत्तर:- जैसे झलक दिये बिना खोटा द्रव्य नहीं चलता; वैसे ही सत्य मिलाये बिना झूठ नहीं चलता; परन्तु सर्व के हितरूप प्रयोजन में विषय-कषाय का ही पोषण किया हैं।

जैसे गीता में उपदेश देकर युद्ध कराने का ही प्रयोजन प्रगट किया। तथा वेदान्त में आत्मा का शुद्ध निरूपण करके स्वच्छन्दी होने का प्रयोजन दर्शाया; उसी प्रकार अन्य भी जानना।

श्रीमद् राजचन्द्र ने कहा है कि- 'गीता में पूर्वापर विरोधता है। वीतराग का मार्ग एक ही सत्य है।' तथा बहुत लोग समयसार पढ़कर ऐसा कहते हैं कि- वेदान्त में जैसे शुद्धता की बातें की है, वैसे ही समयसार को वेदान्त की पद्धति में ढाला है, तो ऐसा कहने वाले समयसार को समझे ही नहीं हैं। आत्मा में विकारी पर्याय होती है उसको स्वभाव की दृष्टि से अभूतार्थ कहा है; परन्तु इससे कहीं वह पर्याय है ही नहीं- ऐसा नहीं है। इस बात को वे नहीं समझते। वेदान्त तो शुद्ध नित्य ब्रह्मरूप ध्रुव ही वस्तु है-ऐसा मानता है। इसलिये वेदान्त और जैन में पूर्व-पश्चिम का अन्तर है। समयसार में 'कोई किसी का कुछ नहीं कर सकता' यह बात आती है, यह जिसको नहीं जंचती उसने भी समयसार को नहीं समझा है।

इस प्रकार अन्यमत में विषय-कषाय की प्रवृति हो रही है। तथा इस हल्के काल में हल्के धर्म की प्रवृति बहुत हो रही है। विषय-कषाय के पोषक धर्म को सुनने वाले भी बहुत होते हैं। सच्चे वीतरागमार्ग को समझने वाले और सुनने वाले बहुत थोड़े हैं। यह सब काल का दोष है। अर्थात् इस काल में ऐसे ही जीव हुए हैं। इसलिये इस काल में खोटे धर्म की प्रवृति बहुत देखने में आती है।

अन्यमत निरूपित तत्व विचार

....अब, पण्डितपनेके बलसे कल्पित युक्तियों द्वारा नाना मत स्थापित हुए हैं, उनमें जो तत्त्वादि माने जाते हैं, उनका निरूपण करते हैं.......

सांख्यमत

.......वहाँ सांख्यमतमें पच्चीस तत्त्व मानते हैं। सो कहते हैं-सत्त्व, रजः, तमः यह तीन गुण कहते हैं। वहाँ सत्त्व द्वारा प्रसाद (प्रसन्न) होता है, रजोगुण द्वारा चित्त की चंचलता होती है, तमोगुण द्वारा मूढ़ता होती है, इत्यादि लक्षण कहते हैं। इनरूप अवस्थाका नाम प्रकृति है; तथा उससे बुद्धि उत्पन्न होती है; उसीका नाम महतत्त्व है, उससे अहंकार उत्पन्न होता है; उससे सोलह मात्रा होती हैं। वहाँ पाँच तो ज्ञान इन्द्रियाँ होती हैं- स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र तथा एक मन होता है। तथा पाँच कर्म इन्द्रियाँ होती हैं- वचन, चरण, हस्त, लिंग, गुदा। तथा पाँच तन्मात्रा होती हैं- रूप, रसं, गन्ध, स्पर्श, शब्द। तथा रूप से अग्नि, रस से जल, गन्ध से पृथ्वी, स्पर्श से पवन, शब्द से आकाश- इसप्रकार हुए कहते हैं। इस प्रकार चौबीस तत्त्व तो प्रकृतिस्वरूप है; इनसे भिन्न निर्गुण कर्त्ता-भोक्ता एक पुरूष है।

इस प्रकार पच्चीस तत्त्व कहते हैं सो यह कल्पित हैं; क्योंकि राजसादिक गुण आश्रय बिना कैसे होंगे? इनका आश्रय तो चेतन द्रव्य ही सम्भव है। तथा इनसे बुद्धि हुई कहते हैं सो बुद्धि नाम तो ज्ञानका है, और ज्ञानगुणधारी पदार्थमें यह होती देखी जाती है, तो इससे ज्ञान हुआ कैसे मानें? कोई कहे- बुद्धि अलग है, ज्ञान अलग है, तब मन तो पहले सोलह मात्रामें कहा, और ज्ञान अलग कहोगे तो बुद्धि किसका नाम ठहरेगा? तथा उससे अहंकार हुआ कहा सो परवस्तु में ''मैं करता हूँ" ऐसा माननेका नाम अहंकार है, साक्षीभूत जाननेसे तो अहंकार होता नहीं है, तो ज्ञानसे उत्पन्न कैसे कहा जाता है?

तथा अहंकार द्वारा सोलह मात्राएँ कहीं, उनमें पांच ज्ञानइन्द्रियां कहीं, सो शरीरमें नेत्रादि आकाररूप द्रव्येन्द्रियाँ हैं वे तो पृथ्वी आदिवत् जड़ देखी जाती हैं और वर्णादिकके जाननेरूप भावइन्द्रियाँ हैं सो ज्ञानरूप हैं, अहंकार का क्या प्रयोजन है? कोई- किसीको अहंकार, बुद्धि रहित देखनेमें आता है वहां अहंकार द्वारा उत्पन्न होना कैसे सम्भव है? तथा मन कहा, सो इन्द्रियवत् ही मन है; क्योंकि द्रव्यमन शरीररूप है, भावमन ज्ञानरूप है। तथा पँाच कर्मइन्द्रिय कहते हैं सो यह तो शरीरके अंग हैं, मूर्तिक हैं। अमूर्तिक अहंकारसे इनका उत्पन्न होना कैसे माने?

तथा कर्म इन्द्रियाँ पाँच ही तो नहीं हैं, शरीर के सर्व अंग कार्यकारी हैं। तथा वर्णन तो सर्व जीवाश्रित है, मनुष्याश्रित ही तो नहीं है, इसलिये सूंड, पूंछ इत्यादि अंग भी कर्मइन्द्रियां हैं; पाँचहीकी संख्या किसलिये कहते हैं?

तथा स्पर्शादिक पाँच तन्मात्रा कहीं, सो रूपादि कुछ अलग वस्तु नहीं हैं, वे तो परमाणुओं से तन्मय गुण हैं; वे अलग कैसे उत्पन्न हुए? तथा अहंकार तो अमूर्तिक जीव का परिणाम है, इसलिये यह मूर्तिक गुण उससे कैसे उत्पन्न हुए मानें?

तथा इन पांचोंसे अग्नि आदि उत्पन्न कहते हैं सो प्रत्यक्ष झूठ है। रूपादिक और अग्नि आदिकके तो सहभूत गुण-गुणी सम्बन्ध है, कथन मात्र भिन्न है, वस्तुभेद नहीं है। किसी प्रकार कोई भिन्न होते भासित नहीं होते, कथनमात्र से भेद उत्पन्न करते हैं; इसलिये रूपादिसे अग्नि आदि उत्पन्न हुए कैसे कहें? तथा कहनेमें भी गुणीमें गुण हैं, गुणसे गुणी उत्पन्न हुआ कैसे मानें?

तथा इनसे भिन्न एक पुरूष कहते हैं, परन्तु उसका स्वरूप अव्यक्तव्य कहकर प्रत्युत्तर नहीं करते, तो कौन समझे? कैसा है, कहाँ है, कैसे कर्त्ता-हर्त्ता है, सो बतला। जो बतलायेगा उसीमें विचार करने से अन्यथापना भासित होगा।

इस प्रकार सांख्यमत द्वारा कल्पित तत्त्व मिथ्या जानना।

तथा पुरूषको प्रकृतिसे भिन्न जाननेका नाम मोक्षमार्ग कहते हैं; सो

प्रथम तो प्रकृति और पुरूष कोई है ही नहीं तथा मात्र जाननेहीसे तो सिद्धि होती नहीं है; जानकर रागादिक मिटाने पर सिद्धि होती है। परन्तु इस प्रकार जाननेसे कुछ रागादिक नहीं घटते। प्रकृतिका कर्त्तव्य माने, आप अकर्त्ता रहे; तो किसलिये आप रागादिक कम करेगा? इसलिये यह मोक्षमार्ग नहीं है।

तथा प्रकृति-पुरूष का भिन्न होना उसे मोक्ष कहते हैं। सो पच्चीस तत्त्वोंमें चौबीस तत्त्व तो प्रकृति सम्बन्धी कहे, एक पुरूष भिन्न कहा; सो वे तो भिन्न हैं ही; और कोई जीव पदार्थ पच्चीस तत्त्वों में कहा ही नहीं। तथा पुरूषहीको प्रकृतिका संयोग होने पर जीव संज्ञा होती है तो पुरूष न्यारे-न्यारे प्रकृति सहित हैं, पश्चात् साधन द्वारा कोई पुरूष प्रकृति रहित होता है- ऐसा सिद्ध हुआ, एक पुरूष न ठहरा।

तथा प्रकृति पुरूषकी भूल है या किसी व्यंतरीवत् भिन्न ही है, जो जीवको आ लगती है? यदि उसकी भूल है तो प्रकृतिसे इन्द्रियादिक व स्पर्शादिक तत्त्व उत्पन्न हुए कैसे मानें? और अलग है तो वह भी एक वस्तु है, सर्व कर्तव्य उसका ठहरा। पुरूषका कुछ कर्तव्य ही नहीं रहा, तब किसलिये उपदेश देते हैं?

इस प्रकार यह मोक्ष मानना मिथ्या है।

तथा वहाँ प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम यह तीन प्रमाण कहते हैं; परन्तु उनके सत्य-असत्य का निर्णय जैन के न्यायग्रंथों से जानना।

तथा इस सांख्यमत में कोई तो ईश्वर को मानते नहीं हैं, कितने ही एक पुरूष को ईश्वर मानते हैं, कितने ही शिव को, कितने ही नारायण को देव मानते हैं। अपनी इच्छानुसार कल्पना करते हैं, कुछ निश्चय नहीं है। तथा इस मत में कितने ही जटा धारण करते हैं, कितने ही चोटी रखते हैं, कितने ही मुण्डित होते हैं, कितने ही कत्थई वस्त्र पहिनते हैं; इत्यादि अनेक प्रकार से भेष धारण करके तत्त्वज्ञान के आश्रय से महन्त कहलाते हैं।

इस प्रकार सांख्यमत का निरूपण किया ....।

उनमें से सांख्यमत की बात करते हैं। सांख्यमत में पच्चीस तत्व मानते हैं,इसमें

सत्व, रजः, तमः को गुण मानते हैं। वह मिथ्या है; क्योंकि वे गुण नहीं है, बल्कि पर्यायें हैं। तथा उन सत्वादि को प्रकृति कहते हैं और उस प्रकृति से बुद्धि होती है और बुद्धि से अहंकार होता है- ऐसा वे मानते हैं; परन्तु ये सब बातें मिथ्या हैं। तथा वे सोलह मात्रा कहते हैं और रूप से अग्नि व शब्द से आकाश आदि हुआ कहते हैं वह मिथ्या है; क्योंकि यह तो गुण में से गुणी हुआ-ऐसा हुआ; परन्तु ऐसा नहीं बनता। तथा प्रकृति से अलग भोक्ता पुरूष एक है- ऐसा कहते हैं; परन्तु वह कल्पित है, क्योकि सत्वादि प्रकृति है वह आधार बिना नहीं होती और उसका आधार तो चेतन द्रव्य है। अर्थात् इसका अर्थ यह है कि-आत्मा में जो विकार होता है उसका आधार वास्तव में चेतनद्रव्य है,परन्तु कर्म नहीं,तो भी कोई कर्म के कारण विकार होना माने तो वह भी मिथ्या है-ऐसा यहाँ कहना चाहते हैं।

तथा प्रकृति से बुद्धि हुई- ऐसा कहते हैं; परन्तु बुद्धि तो ज्ञान का नाम है, वह तो जो ज्ञानगुण का धारक पदार्थ है उससे होती है। इसलिये बुद्धि प्रकृति से होती है- यह बात यथार्थ नहीं हैं। तथा प्रकृति तो अवगुण है उससे ज्ञान कैसे होगा ? बुद्धि तो ज्ञानगुण की पर्याय है वह विकार से नहीं होती। जो कोई ऐसा मानता है कि विकार करने से ज्ञान बढ़ता है तो वह सांख्यमत की तरह प्रकृति से बुद्धि होती है- ऐसा मानने जैसा है।अर्थात् वह मिथ्यादृष्टि है। इसलिये वास्तव में प्रकृति वह अवगुण है; उससे ज्ञान-बुद्धि होती है-ऐसा नहीं बनता। यदि यथार्थ रूचि से उसका निर्णय करे तो हो सकता है- ऐसा है, परन्तु रुचि करे नहीं और कहे कि हमें समझमें नहीं आता, तो वह यथार्थ नहीं है। व्यापार करने पर दुकान में हजारों चीजें हों तो उनकी याद रखता हैं; क्योंकि वहाँ रूचि है, इसी प्रकार यहाँ रुचि करे तो भलीभांति समझमें आवे ऐसा है।

देखो, वह प्रकृति से बुद्धि कहता है और फिर बुद्धि से अहंकार होता है-ऐसा कहता है; परन्तु वह यथार्थ नहीं है, क्योंकि ज्ञान तो साक्षीभूत है, उससे अहंकार नहीं होता; परन्तु परवस्तु में इष्ट-अनिष्टता मानने से अहंकार होता है। इसलिये बुद्धि से अहंकार होता है-यह मान्यता मिथ्या है। सम्यग्दृष्टि ऐसा नहीं मानता। ज्ञान से अहंकार नहीं होता- ऐसा ज्ञानी मानता है।

जैन वीतरागमार्ग के सिवाय अन्यमत खोटे हैं तो उनमें क्या विरोध आता है- यह भी जानना चाहिये। यह समझने के लिये यह अन्यमत निराकरण का अधिकार है। सांख्यमत कल्पित है यह बात यहाँ चल रही है। वह मानता है कि अहंकार से पाँच

इन्द्रियां होती है; परन्तु अहंकार से इन्द्रियां नहीं होती। अहंकार तो आत्मा की पर्याय है और इन्द्रियां तो जड़ है; इसलिये वे अहंकार से नहीं होती। भावेन्द्रियां भी आत्मा का स्वरूप नहीं है- ऐसा समयसार मे कहा है,वह तो अल्पज्ञान के उघाड़ जितना आत्मा का स्वभाव नहीं हैं- यह बताने को कहा है।

यहाँ सांख्यमत अहंकार से इन्द्रिया होती हैं- ऐसा कहता है वह यथार्थ नहीं है और बुद्धि से अहंकार होता है- ऐसा मानता है वह भी यथार्थ नहीं है; क्योंकि ज्ञान के उघाड़ और पर को अपना स्वरूप माने तो अहंकार होता है, परन्तु ज्ञान-बुद्धि तो अहंकार का कारण नहीं होता, अहंकार करे तो होता है; परन्तु उस अहंकार से पर की पर्याय होती है-ऐसा नहीं है। ''उपजे मोह विकल्प से समस्त यह संसार''-इसका अर्थ यह है कि आत्मा मोह करे तो आत्मा की पर्याय में अहंकाररूपी संसार होता है, परन्तु मोहभाव से इन्द्रियां आदि नहीं होते।

बुद्धि में से अहंकार हुआ इससे ये स्पर्शादि जानने में आने लगे-ऐसा वे कहते हैं और स्पर्शादि कोई चीज नही परन्तु अहंकार से स्पर्शादि जानने में आते हैं और अहंकार से इन्द्रियों के विषय हैं- ऐसा मानते हैं; परन्तु वह यथार्थ नहीं है। क्योंकि वीतराग कहते हैं कि स्पर्शादिक तो जगत की एक वस्तु है, आत्मा स्वयं अहंकार करे तो होता है। उन स्पर्शादिक को अपना मानना वह अहंकार है और वह अरूपी पर्याय तो आत्मा की है, उससे स्पर्शादि किस प्रकार उत्पन्न हो? अर्थात् अहंकाररूप दोष से अचेतन जड़ स्पर्शादि नहीं होते।

तथा रूपादि जो पुद्गल परमाणु के गुण है उनमें से अग्नि, आकाशादि गुणी उत्पन्न हुआ कहते हैं; परन्तु वह यथार्थ नहीं है; क्योकि अग्नि और उष्णता एक है, वर्ण,गंध आदि से परमाणु अलग नहीं, शब्द से आकाश नहीं हुआ। वस्तु में गुण है- ऐसा कहा जाता है; परन्तु गुण से वस्तु हुई-ऐसा नहीं कहा जाता । यह बात समझमे आने जैसी होने पर भी इसका निर्णय नहीं हो सकता- ऐसा जो मानता है उसको आत्मा की वास्तव में रुचि नहीं है। जहाँ रुचि होती है वहाँ तो भलीभांति परीक्षा करता है- ऐसे ही यहाँ जिसको धर्म करना होवे उसे यथार्थ परीक्षा करनी चाहिये। यदि परीक्षा किये बिना निर्णय किया हो तो वह निर्णय टिकेगा नहीं, वह मूढ़ जैसा है, उसे धर्म नहीं होता। परीक्षा किये बिना धर्म को माने तो उसे भगवान ने अज्ञानी और अंधा कहा है। इसलिये यथार्थ वस्तु स्वरूप

का निर्णय करना चाहिये।

तथा सांख्यमत वाले 'पुरूष को प्रकृति से भिन्न मानना' उसे मोक्षमार्ग कहते हैं। तो यह बात भी खोटी है, क्योंकि वे कहते हैं ऐसी कोई प्रकृति व पुरूष है ही नही। वीतराग ने कर्मरूप प्रकृति कही है, उससे आत्मा भिन्न है- यह बात सत्य है; परन्तु वे तो आत्मा की विकारी पर्यायरूप से प्रकृति कहते है- उससे भिन्न आत्मा नहीं है।

तथा वे ज्ञान से मुक्ति कहते हैं, वैसा भी नहीं है। ज्ञान के साथ जानपने की प्रतीति और ज्ञान की स्थिरतारूप क्रिया-ज्ञान में एकाग्रता द्वारा राग रहित होवे तो मुक्ति होती है; परन्तु केवल जानपने से सिद्धि नहीं होती; क्योंकि जो विकार को प्रकृति का कार्य मानता है और ज्ञान में निर्णय और स्थिरता का पुरूषार्थ नहीं करता उसको मोक्षमार्ग नही होता। प्रकृति का कर्तव्य रागादि को मानने वाला तथा कर्म का कर्तव्य रागादि को माननेवाला वे दोनो एक समान मिथ्यादृष्टि हैं। सब कर्म प्रारब्ध से होता है- ऐसा मानने वाले को तीन काल में भी रागादि को घटाने का पुरूषार्थ नहीं होता । शरीरादि की क्रिया करने से रागादिक घटने का पुरूषार्थ नहीं होता। इसलिये वे इस प्रकार मोक्षमार्ग के स्वरूप में भूल करते हैं।

अब मोक्ष के स्वरूप मे प्रकृति से पुरूष भिन्न हो उसका नाम मोक्ष कहते हैं; परन्तु उनकी यह मान्यता यथार्थ नहीं हैं,क्योंकि प्रकृति और पुरूष भिन्न ही है, तो भिन्न होवे उसे मोक्ष कहना-वह बात ही मिथ्या है। अर्थात् कर्म का और आत्मा का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है-ऐसा मानना; परन्तु कर्म के कारण से विकार होता है- ऐसा नहीं है। संसार में निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध नहीं है- ऐसा मानना भी मिथ्या हैं; क्योंकि इससे सिद्ध में निमित्त-नैमित्तक सम्बन्ध नहीं है- ऐसा सिद्ध नहीं होगा। इसलिये आत्मा और प्रकृति के निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है- ऐसा मानना चाहिये। और पुरुषार्थ से निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध तोड़ने का नाम मोक्ष है; परन्तु प्रकृति से भिन्न होना वह मोक्ष है- ऐसा नहीं हैं।

आत्मा ने स्वयं अपनी पर्याय में प्रकृति का संग किया था, पुरूषार्थ पूर्वक उसका संग तोड़ना-उसे मोक्ष कहे वह यथार्थ है, परन्तु प्रकृति से भिन्न पड़ना मोक्ष है- ऐसा नहीं है; क्योंकि प्रकृति से तो आत्मा तीनो काल भिन्न ही है; इसलिये तेरा कथन झूठा पड़ता है। स्वयं निमित्त तरफ का पर्याय सम्बन्ध छोड़ा तब निमित्त उसके कार्य सम्बन्ध रहित हुआ,इसमें तो पुरूषार्थ पूर्वक रागादिक छोड़ने का उपाय आया; परन्तु प्रकृति से भिन्न

करना इसमें पुरूषार्थ पूर्वक रागादि छोड़ने का उपाय नहीं रहता। इसलिये प्रकृति को भिन्न करना-वह मुक्ति है- यह बात यथार्थ नहीं है।

अब आत्मा में प्रकृति के संयोग से दोष होता है वह दोष आत्मा का है या आत्मा से भिन्न है? यदि वह जीव का कर्त्तव्य है-ऐसा मानेगा तो प्रकृति के कारण से इन्द्रियादि होते हैं- यह बात नहीं बनती और भिन्न है तो पुरूष उसका कर्ता नहीं रहा। तब उसको वह दोष टालने का उपदेश देना भी व्यर्थ है; इसलिये इस प्रकार मोक्षमार्ग मानना मिथ्या है।

अज्ञानी लोग कहते हैं कि भगवान तीर्थंकरदेव ने कहा है कि आत्मा कर्म के कारण से अनादि से संसार में भटकता है, इसलिये कर्म के कारण आत्मा में विकार होता है-ऐसा मानना चाहिये सो वह तो सांख्यमती जैसा है; क्योंकि दोष स्वयं ने किया है और कर्म के ऊपर डालता है वह कभी सुधरता नहीं और उसे उपदेश देना भी व्यर्थ है। वह भगवान के वचन को नहीं समझता। कोई कर्म के कारण से संसार में नहीं भटकता। कर्म के कारण संयोग मिलते हैं; परन्तु जड़कर्म जीव को दोष करावे-यह बात यथार्थ नहीं है। सांख्यमती प्रकृति को कारण कहे और जैन नाम धराकर कर्म के कारण से विकार माने- वे दोनो समान मिथ्यादृष्टि हैं।

शिवमत

.......तथा शिवमत में दो भेद हैं- नैयायिक, वैशेषिक।

नैयायिकमत

वहाँ नैयायिकमत में सोलह तत्त्व कहते हैं- प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितंडा, हेत्वाभास, छल, जाति, निग्रहस्थान।

वहाँ प्रमाण चार प्रकार के कहते हैं- प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, उपमा। तथा आत्मा, देह, अर्थ, बुद्धि इत्यादि प्रमेय कहते हैं। तथा "यह क्या है?" उसका नाम संशय है। जिसके अर्थ प्रवृत्ति हो सो प्रयोजन हैं। जिसे वादी-प्रतिवादी मानें सो दृष्टान्त है। दृष्टान्त द्वारा जिसे ठहरायें वह सिद्धान्त है। तथा अनुमानके प्रतिज्ञा आदि पाँच अंग वह अवयव हैं। संशय दूर होने पर किसी विचारसे ठीक हो सो तर्क है। पश्चात् प्रतीतिरूप जानना सो

निर्णय है। आचार्य-शिष्य में पक्ष-प्रतिपक्ष द्वारा अभ्यास सो वाद है। जाननेकी इच्छारूप कथामें जो छल-जाति आदि दूषण हो सो जल्प है। प्रतिपक्ष रहित वाद सो वितंडा है। सच्चे हेतु नहीं हैं ऐसे असिद्ध आदि भेद सहित हेत्वाभास है। छलसहित वचन सो छल है। सच्चे दूषण नहीं हैं ऐसे दूषणाभास सो जाति है। जिससे प्रतिवादी का निग्रह हो सो निग्रहस्थान है।

इस प्रकार संशयादि तत्त्व कहे हैं, सो यह कोई वस्तुस्वरूप तत्त्व तो हैं नहीं। ज्ञानका निर्णय करनेको व वाद द्वारा पांडित्य प्रगट करनेको कारणभूत विचाररूप तत्त्व कहे हैं; सो इनसे परमार्थकार्य क्या होगा? काम-क्रोधादि भावको मिटाकर निराकुल होना सो कार्य है; वह प्रयोजन तो यहाँ कुछ दिखाया नहीं है, पंडिताईकी नाना युक्तियाँ बनायीं, सो यह भी एक चातुर्य है; इसलिये यह तत्त्वभूत नहीं है।

फिर कहोगे- इनको जाने बिना प्रयोजनभूत तत्त्वोंका निर्णय नहीं कर सकते, इसलिये यह तत्त्व कहे हैं; सो ऐसी परम्परा तो व्याकरणवाले भी कहते हैं कि- व्याकरण पढ़नेसे अर्थका निर्णय होता है, व भोजनादिकके अधिकारी भी कहते हैं कि- भोजन करनेसे शरीर की स्थिरता होनेपर तत्त्वनिर्णय करने में समर्थ होते हैं; सो ऐसी युक्ति कार्यकारी नहीं है।

तथा यदि कहोगे कि- व्याकरण , भोजनादिक तो अवश्य तत्त्वज्ञानको कारण नहीं हैं, लौकिक कार्य साधनेका कारण हैं, सो जैसे यह हैं उसी प्रकार तुम्हारे कहे तत्त्व भी लौकिक (कार्य) साधने को ही कारण होते हैं। जिस प्रकार इन्द्रियादिके जाननेको प्रत्यक्षादि प्रमाण कहा, व स्थाणु-पुरूषादिमें संशयादिकका निरूपण किया। इसलिये जिनको जाननेसे अवश्य काम-क्रोधादि दूर हों, निराकुलता उत्पन्न हो, वे ही तत्त्व कार्यकारी हैं।

फिर कहोगे कि- प्रमेय तत्त्वमें आत्मादिकका निर्णय होता है सो कार्यकारी है; सो प्रमेय तो सर्व ही वस्तु है, प्रमिति का विषय नहीं है ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है; इसलिये प्रमेय तत्त्व किसलिये कहे? आत्मा आदि तत्त्व कहना थे।

तथा आत्मादिकका भी स्वरूप अन्यथा प्ररूपित किया है ऐसा पक्षपात

रहित विचार करने पर भासित होता है। जैसे आत्माके दो भेद कहते हैं- परमात्मा, जीवात्मा। वहाँ परमात्माको सर्वका कर्त्ता बतलाते हैं। वहाँ ऐसा अनुमान करते हैं कि- यह जगत कर्त्ता द्वारा उत्पन्न हुआ है, क्योंकि यह कार्य है। जो कार्य है वह कर्त्ता द्वारा उत्पन्न है जैसे-घटादिक। परन्तु यह अनुमानाभास है; क्योंकि ऐसा अनुमान्तर सम्भव है। यह सर्व जगत कर्त्ता द्वारा उत्पन्न नहीं हैं, क्योंकि इसमें अकार्यरूप पदार्थ भी हैं। जो अकार्य हैं सो कर्त्ता द्वारा उत्पन्न नहीं हैं, जैसे- सूर्य बिम्बादिक। क्योंकि अनेक पदार्थोंके समुदायरूप जगतमें कोई पदार्थ कृत्रिम हैं सो मनुष्यादिक द्वारा किये होते हैं, कोई अकृत्रिम हैं सो उनका कोई कर्त्ता नहीं है। यह प्रत्यक्षादि प्रमाण के अगोचर हैं इसलिये ईश्वरको कर्त्ता मानना मिथ्या है।

तथा जीवात्माको प्रत्येक शरीर भिन्न-भिन्न कहते हैं, सो यह सत्य है; परन्तु मुक्त होने के पश्चात् भी भिन्न ही मानना योग्य है। विशेष तो पहले कहा ही है।

इसी प्रकार अन्य तत्त्वोंको मिथ्या प्ररूपित करते हैं।

तथा प्रमाणादिकके स्वरूपकी भी अन्यथा कल्पना करते हैं वह जैन ग्रंथोंसे परीक्षा करने पर भासित होता है।

इस प्रकार नैयायिक मतमें कहे कल्पित तत्त्व जानना ....।

तथा शिवमत में दो भेद हैं- नैयायिक, वैशेषिक।

नैयायिकमत वाले सोलह तत्व मानते हैं, परन्तु ऐसा स्वरूप नहीं है। ये सब कल्पित बातें हैं। कल्पित तत्व कहकर लोगो को भ्रम में डालते हैं। वे संशयादि को तत्व कहते हैं, परन्तु वे तत्व नहीं हैं,वे तो विचार के भेद हैं। पण्डिताई की विचार की पर्याय को तत्व कहते हैं; परन्तु वह तत्व नहीं है। कदाचित् वह विचार की पर्याय है- ऐसा भी कहें; परन्तु आत्मा को समझे नहीं तो वह भी कार्यकारी नहीं है। इसलिये उनसे प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। आत्मा में आकुलता उत्पन्न होती है वह विकार, पुण्य-पाप तत्व है और जीवद्रव्य भी एक तत्व है। उसके आश्रय से पुण्य पाप का अभाव होता है। इस प्रयोजनभूत तत्व की तो बात करे नहीं और अन्य बड़ी-बड़ी बातें करे-इससे आत्मा को कुछ लाभ नही होता। प्रयोजनभूत बात कहे नहीं और अप्रयोजनभूत कथा आदि कर तो उससे कुछ सिद्ध

नहीं होता। जिस तत्व से आत्मा का प्रयोजन सिद्ध हो वह करे नहीं और इसके सिवाय पण्डिताई से जितनी बातें करे तो वे सब विकथा हैं। जिसको तत्त्व की गंध नहीं है, उपादान-निमित्त की मुख्य बात है वह बात तो करे नहीं; वह तो जैन बाड़े (सम्प्रदाय) में आने पर भी अन्यधर्मी जैसा हैं।

तथा वे कहते हैं कि इन सोलह तत्वों को जानने से प्रयोजनभूत का निर्णय होता है; परन्तु यह बात तो व्याकरण वाले (भी) कहते हैं कि व्याकरण पढ़ने से निर्णय होता है, परन्तु वह बात खोटी है। व्याकरण पढ़ा हो, परन्तु गाथा का भाव नहीं समझे तो वह निर्णय नहीं कर सकता। तथा भोजन करने से शरीर की स्थिरता होने से तत्व निर्णय होता है। यह पीने से सुनने में ठीक रहता है और तत्व निर्णय होता है- ऐसा भोजन के अधिकारी कहते हैं, इनके जैसी तुम्हारी बात हुई- वह खोटी है; इसलिये ऐसी युक्ति देना यथार्थ नहीं है। "नोआगम भाव श्रुतज्ञान"- इस वाक्य का अर्थ व्याकरण वाले को पूछा हो तो उसके भाव को समझे बिना अर्थ नहीं कर सकता। वहाँ तो आगम भाव श्रुतज्ञान सम्यग्ज्ञान को कहा गया है और नो आगम भावश्रुत ज्ञान तो सम्यग्ज्ञान पूर्वक चारित्र को कहा है। वह उसके भाव को समझे बिना अर्थ नहीं कर सकता। मात्र व्याकरण का ज्ञान करने से निर्णय नहीं होता।

तथा तू कहे कि यह तो लौकिक कार्य साधने का साधन है, तो हम भी कहते हैं कि ये तुम्हारे कहे तत्व भी लौकिक कार्य साधते हैं; परन्तु इनमें मोक्षमार्ग सधै ऐसी कोई बात नहीं आती। क्योंकि जिसमें आत्मा के स्वभाव का निर्णय होता है वही कार्यकारी है। जिसको जानने से स्वभाव का भान हो और काम-क्रोधादि का अभाव तथा आकुलता का नाश होकर शान्ति हो-वही कार्यकारी है। इसमें नव तत्व आ जाते हैं- उसे वास्तव में तत्व कहते हैं।

आकुलता पुण्य-पाप तत्व है और वह आस्रव तत्व है, इसमें निमित्त पुद्गल कर्म है वह अजीव तत्त्व है और आत्मा का त्रिकाल स्वभाव तो चैतन्यमूर्ति है वह जीव तत्व है, इसके अवलम्बन से संवर, निर्जरा और मोक्ष प्रगट होते हैं। इस प्रकार नव तत्व इसमें आ जाते है। इन नव तत्त्वों को प्रयोजनभूत कहते हैं, इनके सिवाय अन्य तत्व प्रयोजनभूत नहीं है।

तथा तू कहता है कि प्रमेय तत्व अलग तत्व है; परन्तु ऐसा नहीं है। प्रमेय तो

सम्पूर्ण जगत है; इसलिये आत्मा आदि तत्त्व कहना थे। इस कारण तू कहता है ऐसा तत्त्व का स्वरूप नहीं है।

तथा उन्होंने आत्मा आदि का स्वरूप भी अन्यथा प्ररूपित किया है- ऐसा पक्षपात रहित विचार करने से भासित होता हैं। आत्मा के दो भेद कहे हैं- एक परमात्मा और दूसरा जीवात्मा। और परमात्मा को सर्व का कर्त्ता कहते हैं। वहाँ वे यह जगत कार्यरूप है इसलिये इसका कर्त्ता परमात्मा है-ऐसा कहते है; परन्तु यह बात यथार्थ नहीं हैं; क्योकि जगत में ऐसे बहुत से कार्य है कि जिनका निमित्तकर्त्ता कोई नहीं दिखता इसलिय कोई कर्त्ता ईश्वर है- ऐसा नहीं है। स्थूल स्कंध दिखते है तो सूक्ष्म स्कंध भी परिणम रहे हैं, तो तुम उनका निमित्तकर्त्ता किसे कहोगे? इसलिये वास्तव में कोई कर्त्ता नहीं है। जगत में जो कितने ही पदार्थों का कार्य होता है उसमें निमित्तरूप मनुष्यादि दिखते हैं;, परन्तु बहुत कार्य ऐसे हैं उनमें निमित्त भी कोई नहीं दिखता। इसलिये किसी को कर्त्ता मानना सत्य नहीं है।

वैशेषिकमत

.........वैशेषिकमत में छह तत्त्व कहे हैं। द्रव्य,गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय। वहाँ द्रव्य नौ प्रकार हैं- पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा, मन। वहाँ पृथ्वी, जल, अग्नि और वायुके परमाणु भिन्न-भिन्न हैं; वे परमाणु नित्य हैं; उनसे कार्यरूप पृथ्वी आदि होते हैं सो अनित्य हैं। परन्तु ऐसा कहना प्रत्यक्षादिसे विरूद्ध है। ईंधनरूप पृथ्वी आदिके परमाणु अग्निरूप होते देखे जाते हैं, अग्नि के परमाणु राखरूप पृथ्वी होते देखे जाते हैं। जलके परमाणु मुक्ताफल (मोती) रूप पृथ्वी होते देखे जाते हैं। फिर यदि तू कहेगा- वे परमाणु चले जाते हैं, दूसरे ही परमाणु उन रूप होते हैं, सो प्रत्यक्षको असत्य ठहराता है। ऐसी कोई प्रबल युक्ति कह तो इसी प्रकार मानें, परन्तु केवल कहनेसे ही ऐसा ठहराता है। इसलिये सब परमाणुओंकी एक पुद्गलरूप मूर्तिक जाति है, वह पृथ्वी आदि अनेक अवस्थारूप परिणमित होती है।

तथा इन पृथ्वी आदिका कहीं पृथक शरीर ठहराते हैं, सो मिथ्या ही है; क्योंकि उसका कोई प्रमाण नहीं है। और पृथ्वी आदि तो परमाणुपिण्ड

हैं; इनका शरीर अन्यत्र, यह अन्यत्र- ऐसा सम्भव नहीं है इसलिये यह मिथ्या है। तथा जहाँ पदार्थ अटके नहीं ऐसी जो पोल उसे आकाश कहते हैं; क्षण, पल आदिको काल कहते हैं; सो यह दोनों ही अवस्तु हैं, यह सत्तारूप पदार्थ नहीं हैं। पदार्थोंके क्षेत्र-परिणमनादिका पूर्वापर विचार करनेके अर्थ इनकी कल्पना करते हैं तथा दिशा कुछ है ही नहीं; आकाश में खण्डकल्पना द्वारा दिशा मानते हैं। तथा आत्मा दो प्रकार से कहते हैं; सो पहले निरूपण किया ही है। तथा मन कोई पृथक पदार्थ नहीं है। भावमन तो ज्ञानरूप है सो आत्माका स्वरूप है, द्रव्यमन परमाणुओंका पिण्ड है सो शरीर का अंग है। इस प्रकार यह द्रव्य कल्पित जानना।

तथा चौबीस गुण कहते हैं- स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, शब्द, संख्या, विभाग, संयोग, परिणाम, पृथकत्व, परत्व, अपरत्व, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, धर्म, अधर्म, प्रयत्न, संस्कार, द्वेष, स्नेह , गुरूत्व, द्रव्यत्व। सो इनमें स्पर्शादिक गुण तो परमाणुओं में पाये जाते हैं; परन्तु पृथ्वीको गंधवती ही कहना, जलको शीत स्पर्शवान ही कहना इत्यादि मिथ्या हैं; क्योंकि किसी पृथ्वीमें गंधकी मुख्यता भासित नहीं होती, कोई जल उष्ण देखा जाता है- इत्यादि प्रत्यक्षादिसे विरूद्ध है। तथा शब्द को आकाशका गुण कहते हैं सो मिथ्या है; शब्द तो भींत आदिसे रूकता है, इसलिये मूर्तिक है, और आकाश अमूर्तिक सर्वव्यापी है। भींतमें आकाश रहे और शब्दगुण प्रवेश न कर सके, यह कैसे बनेगा? तथा संख्यादिक हैं सो वस्तुमें तो कुछ हैं नहीं, अन्य पदार्थकी अपेक्षा अन्य पदार्थकी हीनाधिकता जाननेको अपने ज्ञानमें संख्यादिककी कल्पना द्वारा विचार करते हैं। तथा बुद्धि आदि हैं सो आत्माका परिणमन है, वहाँ बुद्धि नाम ज्ञानका है तो आत्माका गुण है ही, और मनका नाम है तो मन तो द्रव्योंमें कहा ही था, यहाँ गुण किसलिये कहा? तथा सुखादिक हैं सो आत्मामें कदाचित् पाये जाते हैं, आत्माके लक्षणभूत तो यह गुण हैं नहीं, अव्याप्तपनेसे लक्षणाभास है। तथा स्निग्धादि पुद्गलपरमाणुमें पाये जाते हैं, सो स्निग्ध गुरूत्व इत्यादि तो स्पर्शन इन्द्रिय द्वारा जाने जाते हैं, इसलिये स्पर्शगुणमें गर्भित हुए, अलग किसलिये कहे?

तथा द्रव्यत्वगुण जलमें कहा, सो ऐसे तो अग्नि आदिमें ऊर्ध्वगमनत्वादि पाये जाते हैं। या तो सर्व कहना थे या सामान्यमें गर्भित करना थे। इस प्रकार यह गुण कहे वे भी कल्पित हैं।

तथा कर्म पाँच प्रकारके कहते हैं- उत्क्षेपण, अवक्षेपण, आकुंचन, प्रसारण, यमन; सो यह तो शरीरकी चेष्टाएँ हैं; इनको अलग कहने का अर्थ क्या? तथा इतनी ही चेष्टाएँ तो होती नहीं हैं, चेष्टाएँ तो बहुत ही प्रकारकी होती हैं। तथा इनको अलग ही तत्त्व संज्ञा कहीं; सो या तो अलग पदार्थ हों तो उन्हें अलग तत्त्व कहना था, या कामक्रोधादि मिटानेमें विशेष प्रयोजनभूत हों तो तत्त्व कहना था; सो दोनों ही नहीं है। और ऐसे ही कह देना हो तो पाषाणदिककी अनेक अवस्थाएँ होती हैं सो कहा करो, कुछ साध्य नहीं है।

तथा सामान्य दो प्रकारसे है- पर और अपर। वहाँ पर तो सत्तारूप है, अपर द्रव्यत्त्वादिरूप है। तथा जिनकी नित्य द्रव्यमें प्रवृत्ति हो वे विशेष हैं; अयुतसिद्ध सम्बन्धका नाम समवाय हैं। यह सामान्यादिक तो बहुतोंको एक प्रकार द्वारा व एक वस्तुमें भेद-कल्पना द्वारा व भेदकल्पना अपेक्षा सम्बन्ध माननेसे अपने विचारहीमें होते हैं; कोई अलग पदार्थ तो हैं नहीं। तथा इनके जाननेसे काम-क्रोधादि मिटानेरूप विशेष प्रयोजनकी भी सिद्धि नहीं है, इसलिये इनको तत्त्व किसलिये कहा? और ऐसे ही तत्त्व कहना थे तो प्रमेयत्वादि वस्तुके अनन्त धर्म हैं व सम्बन्ध, आधारादिक कारकोंके अनेक प्रकार वस्तुमें सम्भवित हैं, इसलिये या तो सर्व कहना थे या प्रयोजन जानकर कहना थे। इसलिये यह सामान्यादिक तत्त्व भी वृथा ही कहे हैं।

इस प्रकार वैशेषिक द्वारा कहे तत्त्व कल्पित जानना।

तथा वैशेषिक दो ही प्रमाण मानते हैं- प्रत्यक्ष और अनुमान। सो इनके सत्य-असत्यका निर्णय जैन न्याय ग्रन्थोंसे जानना।

तथा नैयायिक तो कहते हैं- विषय, इन्द्रिय, बुद्धि, शरीर, सुख, दुःखोंके अभावसे आत्मा की स्थिति सो मुक्ति है। और वैशेषिक कहते हैं-

चौबीस गुणोंमें बुद्धि आदि नौ गुणोंका अभाव सो मुक्ति है। यहाँ बुद्धिका अभाव कहा, सो बुद्धि नाम ज्ञानका है और ज्ञानका अधिकरणपना आत्माका लक्षण कहा था; अब ज्ञानका अभाव होनेपर लक्षण का अभाव होनेसे लक्ष्यका भी अभाव होगा, तब आत्माकी स्थिति किस प्रकार रही? और यदि बुद्धि नाम मनका है तो भावमन तो ज्ञानरूप है ही, और द्रव्यमन शरीररूप है सो मुक्त होनेपर द्रव्यमनका सम्बन्ध छूटता ही है, तो जड़ द्रव्यमनका नाम बुद्धि कैसे होगा? तथा मनवत् ही इन्द्रियाँ जानना। तथा विषयका अभाव हो, तो स्पर्शादि विषयोंका जानना मिटता है, तब ज्ञान किसका नाम ठहरेगा? और उन विषयोंका अभाव होगा तो लोकका अभाव होगा। तथा सुखका अभाव कहा, सो सुखहीके अर्थ उपाय करते हैं; उसका जब अभाव होगा तब उपादेय कैसे होगा? तथा यदि वहाँ आकुलतामय इन्द्रियजनित सुखका अभाव हुआ कहें तो यह सत्य है; क्योंकि निराकुलता लक्षण अतीन्द्रिय सुख तो वहाँ सम्पूर्ण सम्भव है, इसलिये सुखका अभाव नहीं है। तथा शरीर दुःख, द्वेषादिकका वहाँ अभाव कहते हैं सो सत्य है।

तथा शिवमतमें कर्त्ता निर्गुणईश्वर शिव है, उसे देव मानते हैं; सो उसके स्वरूपका अन्यथापना पूर्वोक्त प्रकार से जानना। तथा यहाँ भस्म, कोपीन, जटा, जनेऊ इत्यादि चिह्नों सहित भेष होते हैं सो आचारादि भेदसे चार प्रकार हैं:- शैव, पाशुपत, महाव्रती, कालमुख।सो यह रागादि सहित हैं इसलिए सुलिंग नहीं हैं।

इस प्रकार शिवमतका निरूपण किया.......।

वे छह तत्व कहते हैं। वहाँ पृथ्वी आदि को नित्य कहते हैं। पृथ्वी के, पानी के परमाणु भिन्न-भिन्न है। अर्थात् पृथ्वी के पृथ्वीरूप रहते हैं; परन्तु ऐसा नहीं है, क्योंकि पृथ्वी के परमाणु अग्निरूप हो जाते हैं, इसलिये पृथ्वी के परमाणु अलग और अग्नि के परमाणु अलग है- ऐसा नहीं है। अग्नि के परमाणु राखरूप होते देखे जाते हैं, पानी के परमाणु सीप के पेट में मोती हो जाते हैं। इसलिये मिट्टी के परमाणु और पानी के परमाणु अलग हैं- ऐसा नहीं है।

कोई जैन में आकर भी ऐसा कहता है कि दूध में से दही होता है उसमें दही के

परमाणु अन्दर अलग पड़े थे वे बाहर आये हैं। दूध के मीठे परमाणु मीठेरूप रहते हैं और जो खट्टा दिखता है, वे खट्टे परमाणु थे वह बाहर आये है, तो वह वैशेषिक मत जैसा ही है। जो जैन में जन्मकर भी अनेक प्रकार से अन्यथा मानते हैं, वे भी मिथ्यादृष्टि हैं। परमाणु की पर्याय सफेद से काली होती है, मिठास पलटकर खट्टी प्रर्याय होती है; परन्तु एक ही रूप से रहती है- ऐसा नहीं है। और वह पर्याय उसके कारण होती है, आत्मा उस पर्याय को पलटा नहीं सकता, आत्मा अपनी पर्याय को ही पलटा सकता है। इसलिये यह बात भी प्रयोजनभूत है।

पुद्गल नित्य स्वतन्त्र वस्तु होने से उसकी परिणमन शक्ति भी नित्य है; इसलिये वह उसके कारण से परिणमता है- यह प्रत्यक्ष दिखता है, और तू कहता है कि दूसरे पुद्गल आते हैं तो उसकी अवस्था होती है; परन्तु उसकी प्रबल युक्ति कहे तो हम माने। पर ऐसे का ऐसे कहे तो ऐसी मिथ्या बात नहीं चलती। इसलिये निर्णय हुआ कि परमाणु स्वयं अनेकरूप पर्याय से होता है।

तथा वे आकाश और काल को भी अन्यथारूप कहते हैं और आत्मा को दो प्रकार से कहते हैं उसका मिथ्यापना पूर्व में कहा है। वास्तव में द्रव्यमन तो जड़ है और भावमन आत्मा के ज्ञानगुण की पर्याय है-ऐसा समझना। आत्मा से भावमन कोई अलग तत्व नहीं है। इसलिये कोई अलग तत्व मानने वाला भावमन को कोई कल्पित द्रव्य मानता है इसलिये वह मिथ्यादृष्टि है।

तथा वे चौबीस गुण कहते हैं- उसमे पृथ्वी को गंधवाली कहते हैं तथा पानी को शीत स्पर्शवान कहते हैं; परन्तु वह मिथ्या है; क्योंकि इन गुणों की उनमें मुख्यता भासित नहीं होती। उनमें अन्य गुण भी हैं। इसलिये वह मिथ्या है। इसी प्रकार अन्य गुण भी अन्यथा प्रकार कहते हैं, परन्तु वे कल्पित हैं-ऐसा जानना। बुद्धि को मन कहे तो उसे तो तूने अलग द्रव्य कहा था और यदि भावमन को गुण कहता हो तो वह तो आत्मा की पर्याय है; इसलिये बुद्धि भी गुण नहीं है। तथा सुख-दुःख को गुण कहता है वे गुण नहीं हैं, किन्तु क्षणिक पर्यायें हैं। कल्पना वह कायम वस्तु नहीं है। इसलिये सुख हो या दुःख की कल्पना हो वे गुण नहीं हैं। तथा वे आत्मा में त्रिकाल नहीं रहते इसलिये लक्षणाभास है; क्योंकि गुण हो वे तो वस्तु में सदा व्यापना चाहिये। इसलिये वे गुण नहीं हैं।

इसमें द्रव्यानुयोग की बात आती है। वीतराग देव द्रव्य-गुण-पर्याय किसे कहते हैं?

और उससे विरुद्धवादी द्रव्य-गुण का स्वरूप कैसा कहते हैं? वह बताते हैं। यहाँ वे गुणों का स्वरूप कल्पित कहते हैं यह बात हुई। अब वे पंच प्रकार के कार्यों को तत्त्व कहते हैं; परन्तु संकोच होवे, विस्तार होवे या गमन होवे- ऐसी समस्त चेष्टा होती है वह तो शरीर की- जड़ की है; इसलिये कोई अलग पदार्थ नहीं है। अतः इस प्रकार अलग पंच प्रकार के कर्म हैं- ऐसा नहीं है। शरीर की चेष्टा मुझसे नहीं होती-ऐसा जानना प्रयोजनभूत है; परन्तु किस प्रकार की व कैसी होती है- यह नहीं जाने तो प्रयोजनभूत में कोई बाधा नहीं आती। इसलिये वे कर्म को पाँच प्रकार के कहें उससे कुछ साध्य नहीं है।

तथा वे सामान्य दो प्रकार है- ऐसा कहते हैं। वे सामान्य को कोई अलग वस्तु मानते हैं; परन्तु ऐसा नहीं है। क्योंकि सबको इकट्ठे बताना होवे तो उसे स्वयं समझने के लिये अभेद बताकर सामान्य अपेक्षा एक कहते हैं; परन्तु इससे कोई सामान्य (अलग) वस्तु है-ऐसा नहीं है। इसप्रकार वैशेषिकों द्वारा कथित तत्त्वों को कल्पित जानना।

तथा वे दो ही प्रमाण मानते हैं-प्रत्यक्ष और अनुमान। उनके सत्य-असत्य का निर्णय जैन के न्याय ग्रन्थों से जानना चाहिये।

तथा नैयायिक तो विषय, इन्द्रिय, बुद्धि, शरीर, सुख, दुःखों आदि के अभाव को मोक्ष कहते हैं। और वैशेषिक चौबीस गुणों में से बुद्धि आदि नौ गुणों के अभाव को मोक्ष कहते हैं; तो यह बात भी सत्य नहीं है; क्योंकि बुद्धि तो ज्ञान है और ज्ञान का अभाव होने पर आत्मा की संज्ञा का अभाव होता है; इसलिये वह मिथ्या है। और विषय का अभाव होवे तो लोक के अभाव का प्रसंग आवे। और सुख का अभाव मानने में आवे तो सुख रहित अवस्था को उपादेय कैसे माने? हाँ, आकुलतामय इन्द्रियजनित सुख का अभाव वहाँ कहो तो वह सत्य है; परन्तु मोक्ष में निराकुल अतीन्द्रिय सुख का अभाव कहना योग्य नहीं है। इस प्रकार वे मोक्ष के स्वरूप को अन्यथा मानते हैं।

मीमांसकमत

......अब मीमांसकमतका स्वरूप कहते हैं। मीमांसक दो प्रकारके हैं:- ब्रह्मवादी और कर्मवादी।

वहाँ ब्रह्मवादी तो "यह सर्व ब्रह्म है, दूसरा कोई नहीं है" ऐसा वेदान्त में अद्वैत ब्रह्मको निरूपित करते हैं; तथा "आत्मामें लय होना सो मुक्ति"

कहते हैं। इनका मिथ्यापना पहले दिखाया है सो विचारना।

तथा कर्मवादी क्रिया, आचार, यज्ञादिक कार्योंका कर्त्तव्यपना प्ररूपित करते हैं सो इन क्रियाओंमें रागादिका सद्भाव पाया जाता है, इसलिये यह कार्य कुछ भी कार्यकारी नहीं है।

तथा वहाँ 'भट्ट' और 'प्रभाकर' द्वारा की हुई दो पद्धतियाँ हैं। वहाँ भट्ट तो छह प्रमाण मानते हैं-प्रत्यक्ष, अनुमान, वेद, उपमा, अर्थापत्ति, अभाव। तथा प्रभाकर अभाव बिना पाँच ही प्रमाण मानते हैं, सो इनका सत्यासत्यपना जैन शास्त्रोंसे जानना।

तथा वहाँ षट्कर्म सहित ब्रह्मसूत्रके धारक, शुद्रके अन्नादिके त्यागी, गृहस्थाश्रम है नाम जिनका ऐसे भट्ट हैं। तथा वेदान्तमें यज्ञोपवीत रहित, विप्रअन्नादिकके ग्राही, भगवत् है नाम जिनका वे चार प्रकारके हैं- कुटीचर, बहूदक, हंस, परमहंस। सो यह कुछ त्यागसे सन्तुष्ट हुए हैं, परन्तु ज्ञान-श्रद्धानका मिथ्यापना और रागादिकका सद्भाव इनके पाया जाता है; इसलिये यह भेष कार्यकारी नहीं हैं.....।

मीमासंक के दो प्रकार हैं- (1) ब्रह्मवादी और (2) कर्मवादी

उनमें ब्रह्मवादी तो 'यह सब ब्रह्म है:- अन्य कुछ नहीं- ऐसा मानता है; परन्तु यह बात कल्पित है- ऐसा पूर्व में सिद्ध कर आये हैं। तथा कर्मवादी क्रिया, आचार और यज्ञादि कार्यो से सिद्धि मानते हैं; परन्तु उन कार्यो के करने से रागादि से रहित नहीं हुआ जाता इसलिये यह अभिप्राय भी मिथ्या है।

जैन नाम धराकर भी बहुत से ऐसा कहते हैं कि हम कर्मवादी हैं और क्रिया करते-करते आत्मा का कल्याण हो जायेगा; परन्तु यह मान्यता मीमांसक मत जैसी ही है, क्योंकि इस क्रिया से राग रहित नहीं हुआ जा सकता।

तथा वे पाँच प्रमाण मानते है उनमें भी बहुत विरूद्धता आती है। और वे बाहर से अनेक प्रकार के त्याग द्वारा सन्तुष्ट हुए है; परन्तु उनके ज्ञान-श्रद्धान का मिथ्यापना और रागादि का सद्भाव होने से उस वेष से आत्मा का कुछ कल्याण नहीं होता, इसलिये वह मिथ्या है।

कोई कहे कि अपने को मीमांसक मत को जानने की क्या आवश्यकता हैं ? एक जैन

धर्म की बात करो न! तो कहते हैं कि वीतरागमार्ग से विरूद्ध जो कुछ कथन हैं और विरूद्ध मान्यता हैं उसे भलीभांति जानकर वीतरागमार्ग एक ही सत्य है-ऐसा निर्णय करना चाहिये। अकेली अस्ति से बात करे और नास्ति को नहीं समझे तो वह अस्ति को भी नहीं समझा है। अकेली अस्ति से बात करे तो सब एक हो जाता है, प्रथक्पना नहीं रहता। आत्मा अपने से अस्तिरूप है और पर से नास्तिरूप है- ऐसा निर्णय करे तो हर एक आत्मा भिन्न-भिन्न है- ऐसा निर्णय होता है। ऐसा वीतरागमार्ग सत्य है और अन्य असत्य हैं-ऐसा यथार्थ जाने तो वीतरागमार्ग का यथार्थ निर्णय हो। इसलिये (अन्यमतादि का जानना भी) कार्यकारी है।

जैमिनीयमत

.... तथा यहीं जैमिनीयमत है; सो इस प्रकार कहते हैं:-

सर्वज्ञदेव कोई है नहीं; नित्य वेदवचन हैं उनसे यथार्थ निर्णय होता है। इसलिये पहले वेदपाठ द्वारा क्रिया में प्रवर्तना वह तो नोदना (प्रेरणा); वही है लक्षण जिसका ऐसे धर्मका साधन करना। जैसे कहते हैं कि-"स्वः कामोऽग्निं यजेत्" स्वर्गाभिलाषी अग्निको पूजे; इत्यादि निरूपण करते हैं।

यहाँ पूछते हैं- शैव, सांख्य, नैयायिकादि सभी वेद को मानते हैं, तुम भी मानते हो; तुम्हारे व उन सबके तत्त्वादि निरूपणमें परस्पर विरूद्धता पायी जाती है सो क्या कारण है? यदि वेद ही में कहीं कुछ, कहीं कुछ निरूपण किया है, तो उसकी प्रमाणता कैसे रही? और यदि मतवाले ही कहीं कुछ, कहीं कुछ निरूपण करते हैं तो तुम परस्पर झगड़-निर्णय करके एकको वेदका अनुसारी अन्यको वेदसे पराङ्मुख ठहराओ। सो हमें तो यह भासित होता है- वेदहीमें पूर्वापर विरूद्धतासहित निरूपण हैं इसलिये उसका अपनी-अपनी इच्छानुसार अर्थ ग्रहण करके अलग-अलग मतों के अधिकारी हुए हैं। परन्तु ऐसे वेद को प्रमाण कैसे करें? तथा अग्नि पूजनेसे स्वर्ग होता है, सो अग्निको मनुष्यसे उत्तम कैसे मानें? प्रत्यक्ष विरूद्ध है। तथा वह स्वर्गदाता कैसे होगी? इसी प्रकार अन्य वेदवचन प्रमाणविरूद्ध हैं। तथा वेद में ब्रह्मा कहा है, तो सर्वज्ञ क्यों नहीं मानते? इत्यादि प्रकार से जैमिनीयमत कल्पित जानना.....।

वे ऐसा कहते हैं कि सर्वज्ञदेव कोई देव है ही नहीं, वेदवचन नित्य है। अतः यथार्थ निर्णय करना चाहिये। वे वेदपाठ की क्रिया करने को धर्म का साधन मानते हैं; परन्तु वह सत्य नहीं हैं। जिसको अभी सर्वज्ञ की ही प्रतीति नहीं उसको मोक्षमार्ग तीनकाल में नही होता।

बहुत से जैन भी सर्वज्ञ को नहीं मानते वे सब जैमिनीय वालो की तरह गृहीत मिथ्यादृष्टि ही हैं। सर्वज्ञ को नहीं मानने से अनेक प्रकार की विरूद्धता आती है। इसलिये यह मत भी कल्पित जानना।

बौद्धमत

........अब बौद्धमत का स्वरूप कहते हैं:-

बौद्धमतमें चार आर्यसत्य प्ररूपित करते हैं- दुःख, आयतन, समुदाय, मार्ग। वहाँ संसारीके स्कन्धरूप वह दुःख है। वह पाँच प्रकार का है - विज्ञान वेदना, संज्ञा, संस्कार, रूप।

वहाँ रूपादिका जानना सो विज्ञान है; सुख-दुःखका अनुभव करना सो वेदना है; सोते का जागना सो संज्ञा है; पढ़ा था उसे याद करना सो संस्कार है; रूपका धारण सो रूप है। यहाँ विज्ञानादिको दुःख कहा सो मिथ्या है; दुःख तो काम-क्रोधादिक हैं, ज्ञान दुःख नहीं है। यह तो प्रत्यक्ष देखते हैं कि किसी के ज्ञान थोड़ा है और क्रोध-लोभादिक बहुत हैं सो दुःखी है; किसी के ज्ञान बहुत है काम-क्रोधादि अल्प है व नहीं हैं सो सुखी है। इसलिये विज्ञानादिक दुःख नहीं हैं।

तथा आयतन बारह कहे हैं- पाँच इन्द्रियाँ और उनके शब्दादिक पाँच विषय, एक मन और एक धर्मायतन। सो यह आयतन किस अर्थ कहे हैं? सबको क्षणिक कहते हैं, तो इनका क्या प्रयोजन है?

तथा जिससे रागादिकके गण उत्पन्न होते हैं ऐसा आत्मा और आत्मीय है नाम जिसका सो समुदाय है। वहाँ अहंरूप आत्मा और ममरूप आत्मीय जानना, परन्तु क्षणिक माननेसे इनको भी कहनेका कुछ प्रयोजन नहीं है।

तथा सर्व संस्कार क्षणिक हैं, ऐसी वासना सो मार्ग है। परन्तु बहुत काल स्थायी कितनी ही वस्तुएँ प्रत्यक्ष देखी जाती हैं। तू कहेगा- एक अवस्था नहीं रहती; सो यह हम भी मानते हैं। सूक्ष्म पर्याय क्षणस्थायी है।

तथा उसी वस्तुका नाश मानते हैं; परन्तु यह तो होता दिखाई नहीं देता, हम कैसे मानें? तथा बाल-वृद्धादि अवस्थामें एक आत्माका अस्तित्व भासित होता है; यदि एक नहीं है तो पूर्व-उत्तर कार्यका एक कर्ता कैसे मानते हैं? यदि तू कहेगा- संस्कारसे है, तो संस्कार किसके हैं? जिसके हैं वह नित्य है या क्षणिक है? नित्य है तो सर्व क्षणिक कैसे कहते हैं? क्षणिक है तो जिसका आधार ही क्षणिक है उस संस्कारकी परम्परा कैसे कहते हैं? तथा सर्व क्षणिक हुआ तब आप भी क्षणिक हुआ। तू ऐसी वासनाको मार्ग कहता है, परन्तु इस मार्गके फलको आप तो प्राप्त करता ही नहीं है, किसलिये इस मार्गमें प्रवर्तता है? तथा तेरे मतमें निरर्थक शास्त्र किसलिये बनाये? उपदेश तो कुछ कर्त्तव्य द्वारा फल प्राप्त करनेके अर्थ दिया जाता है। इस प्रकार यह मार्ग मिथ्या है।

तथा रागादिक ज्ञान संतान वासनाका उच्छेद अर्थात् निरोध उसे मोक्ष कहते हैं। परन्तु क्षणिक हुआ तब मोक्ष किसको कहता है? और रागादिकका अभाव होना तो हम भी मानते हैं; परन्तु ज्ञानादिक अपने स्वरूपका अभाव होने पर तो अपना अभाव होगा, उसका उपाय करना कैसे हितकारी होगा? हिताहित का विचार करनेवाला तो ज्ञान ही है; सो अपने अभावको ज्ञानी हित कैसे मानेगा?

तथा बौद्धमतमें दो प्रमाण मानते हैं- प्रत्यक्ष और अनुमान। इसके सत्यासत्यका निरूपण जैन शास्त्रोंसे जानना। तथा यदि ये दो ही प्रमाण हैं तो इनके शास्त्र अप्रमाण हुए, उनका निरूपण किस अर्थ किया? प्रत्यक्ष-अनुमान तो जीव आप ही कर लेंगे, तुमने शास्त्र किसलिये बनाये?

तथा वहाँ सुगतको देव मानते हैं और उसका स्वरूप नग्न व विक्रियारूप स्थापित करते हैं सो विडम्बनारूप है। तथा कमण्डल और रक्ताम्बरके धारी, पूर्वाह्नमें भोजन करनेवाले इत्यादि लिंगरूप बौद्धमतके भिक्षुक हैं; सो क्षणिकको भेष धारण करनेका क्या प्रयोजन? परन्तु महंतताके अर्थ कल्पित निरूपण करना और भेष धारण करना होता है।

इस प्रकार बौद्धों के चार प्रकार हैं- वैभाषिक, सौत्रांतिक, योगाचार,

माध्यमिक। वहाँ वैभाषिक तो ज्ञान सहित पदार्थको मानते हैं; सौत्रांतिक प्रत्यक्ष यह दिखाई देता है, यही है, इससे परे कुछ नहीं है ऐसा मानते हैं। योगाचारोंके आचारसहित बुद्धि पायी जाती हैं; तथा माध्यमिक हैं वे पदार्थके आश्रय बिना ज्ञानहीको मानते हैं। वे अपनी-अपनी कल्पना करते हैं; परन्तु विचार करनेपर कुछ ठिकानेकी बात नहीं है।

इस प्रकार बौद्धमतका निरूपण किया....।

इस बौद्धमत को मानने वालो की संख्या बहुत है, परन्तु यह मार्ग सर्वज्ञ के मार्ग से विरूद्ध मार्ग हैं, क्योंकि वे विज्ञान को दुःख कहते हैं; परन्तु यह बात मिथ्या है। ज्ञान दुःख का कारण नहीं होता। दुःख का कारण तो काम-क्रोधादि परिणाम हैं। वे बहुत जानने को उपाधि मानते हैं, परन्तु वह मिथ्या है; क्योंकि ज्ञान बहुत होवे और क्रोधादि कम होवे या नहीं होवे तो सुखी है और किसी के ज्ञान कम होवे और क्रोधादि अधिक होवे तो वह दुःखी है- यह तो प्रत्यक्ष देखते है इसलिये ज्ञान दुःख का कारण नहीं है- ऐसा निश्चित होता है।

तथा वे सबको क्षणिक मानते हैं। सब क्षणिक है-ऐसी वासना वह मार्ग है- ऐसा मानते हैं। यह बात मिथ्या है, क्योंकि वस्तु का कभी नाश नहीं होता। तथा पहले और बाद में वह आत्मा न होवे तो 'यह मैंने किया'-ऐसा नहीं रहता। इसलिये आत्मा क्षणिक नहीं है-ऐसा निर्णय करना योग्य है।

बाल-युवा और वृद्ध अवस्था में रहा हुआ आत्मा एक जानने में आता है और पहले के तथा बाद के ज्ञान में नित्यता दिखती है। यह काम शुरू किया और यह काम पूर्ण किया- ऐसी नित्यता दिखती है, उसकी संधि दिखती है; इसलिये क्षणिक मानना योग्य नहीं है। संधि का करने वाला क्षणिक नहीं हो सकता। यदि सभी अवस्थाओं में एक नहीं है तो पहले और बाद के कार्यों का एक कर्त्ता कैसे मानते हो? तू कहेगा कि 'संस्कार से ऐसा है'- तो यह संस्कार किसके हैं? आत्मा में संस्कार रहे वह नित्य है या क्षणिक? संस्कार नित्य होवे तो सब क्षणिक नहीं ठहरता और संस्कार क्षणिक है तो जिनका आधार क्षणिक है उस संस्कार की परम्परा किस प्रकार रहती है? यदि सब क्षणिक हुआ तो तू क्षणिक होता है। क्षणिक मानना-ऐसी वासना को तो तू मार्ग कहता है तो मार्ग के फल को तो तू क्षणिक होने से भोग नहीं सकता तो फिर मार्ग में किसलिये प्रवर्तता है? वासना के करने वाले का नाश हो गया तो फिर वासना को कौन भोगेगा? इसलिये आधार बिना संस्कार

की परम्परा टिकती नहीं । तथा जीव क्षणिक होने से नष्ट हो जाता है तो निरर्थक शास्त्र किसलिये बनाये? कारण कि वस्तु क्षणिक होने से अन्य काल में काम नहीं आती।

वस्तु नित्य रहे तो उपदेश का प्रयोजन है और कर्तव्य से फल पाने के लिये उपदेश है; परन्तु तू क्षणिक मानता है; इसलिये शास्त्र द्वारा मार्ग बताना निरर्थक है। इस प्रकार यह मार्ग मिथ्या है।

तथा वे राग-द्वेष और ज्ञान की पर्याय की वासना का नाश होने को मोक्ष कहते हैं। तू क्षणिक मानता है तो फिर मोक्ष किसका हुआ? हम विकारादि के अभाव को मोक्ष कहते है; परन्तु जाननहार का अभाव होना हितकारी कैसे हो? यह अहित है इसलिये छोड़ना और हित को ग्रहण करना-ऐसा ज्ञान विचार करता है। उस ज्ञान के नाश से मुक्ति कैसे माने? इसलिये ज्ञान के अभाव को मोक्ष मानना योग्य नहीं है। इस प्रकार तीनो बातें मिथ्या सिद्ध होती है।

बोद्धमत में प्रत्यक्ष और अनुमान-ऐसे दो प्रमाण मानते हैं; सो उनके सच्चे-झूठे की परीक्षा जैन न्याय शास्त्रों से जानना। यदि ये दो ही प्रमाण हैं तो उनके शास्त्र अप्रमाण ठहरे, शास्त्र से प्रमाण कहना रहा नहीं; क्योंकि वे दो प्रमाण मानते हैं। यदि शास्त्र को प्रमाण नहीं माने तो वे शास्त्र निरर्थक बनते हैं। उन शास्त्रों का निरूपण किसलिये किया? कारण कि अनुमान तो जीव करेगा, तुमने शास्त्र किसलिये बनाये?

तथा वे सुगत को देव मानते हैं और उसका नग्न या विक्रियारूप स्वरूप स्थापते हैं जो विडम्बनारूप है। आत्मा के भान बिना नग्नपना व्यर्थ है। तथा कमण्डलु रखे, लाल कपड़े पहिने और पहर बीत जाने के बाद भोजन करे-इत्यादिक लिंगरूप बोद्धमत के भिक्षुक होते है, परन्तु वस्तु क्षणिक है इसलिये वेष धारण से क्या प्रयोजन है? परन्तु महंतता के लिये वेष धारण करते हैं अथवा कल्पित निरूपण करते हैं।

इस प्रकार बौद्धमत है, उनके चार प्रकार है-वैभाषिक, सौत्रांतिक, योगाचार और माध्यमिक। उनमें वैभाषिक ज्ञान सहित पदार्थ को मानते हैं, सौतांत्रिक, प्रत्यक्ष दिखता है वही हैं, उसके सिवाय अन्य नहीं-ऐसा मानते हैं। योगाचार आचरण सहित बुद्धि को मानते है तथा माध्यमिक है वे पदार्थ के आश्रय बिना ज्ञान को ही मानते है। (इस प्रकार) वे अपनी-अपनी कल्पना करते हैं, परन्तु विचार करने पर उसमें कुछ ठिकाने की बात नहीं है।

इस प्रकार बोद्धमत का निरूपण किया।

चार्वाकमत

........अब चार्वाकमत का स्वरूप कहते हैं:-

कोई सर्वज्ञदेव, धर्म, अधर्म, मोक्ष है नहीं, पुण्य-पापका फल है नहीं, परलोक है नहीं; यह इन्द्रियगोचर जितना है वह लोक है- ऐसा चार्वाक कहता है।

सो वहाँ उससे पूछते हैं- सर्वज्ञदेव इस काल-क्षेत्र में नहीं हैं या सर्वदा सर्वत्र नहीं हैं? इस काल-क्षेत्रमें तो हम भी नहीं मानते हैं, परन्तु सर्वकाल-क्षेत्रमें नहीं हैं ऐसा जानना सर्वज्ञके बिना किसके हुआ? जो सर्व क्षेत्र-कालकी जाने वही सर्वज्ञ और नहीं जानता तो निषेध कैसे करता है?

तथा धर्म-अधर्म लोक में प्रसिद्ध हैं। यदि वे कल्पित हों तो सर्वजन-सुप्रसिद्ध कैसे होते? तथा धर्म-अधर्मरूप परिणति होती देखी जाती है, उससे वर्त्तमानहीमें सुखी-दुःखी होते हैं; इन्हें कैसे न मानें? और मोक्षका होना अनुमानमें आता है। क्रोधादिक दोष किसीके हीन हैं, किसी के अधिक हैं; तो मालूम होता है किसीके इनकी नास्ति भी होती होगी। और ज्ञानादि गुण किसीके हीन, किसीके अधिक भासित होते हैं, इसलिये मालूम होता है, किसीके सम्पूर्ण भी होते होंगे। इसप्रकार जिसके समस्त दोषकी हानि, गुणोंकी प्राप्ति हो; वही मोक्षअवस्था है।

तथा पुण्य-पापका फल भी देखते हैं। कोई उद्यम करने पर भी दरिद्री रहता है, किसीके स्वयमेव लक्ष्मी होती है; कोई शरीरका यत्न करने पर भी रोगी रहता है, किसीके बिना ही यत्न निरोगता रहती है- इत्यादि प्रत्यक्ष देखा जाता है; सो इसका कारण कोई तो होगा? जो इसका कारण वही पुण्य-पाप है।

तथा परलोक भी प्रत्यक्ष-अनुमानसे भासित होता है। व्यंतरादि हैं वे ऐसा कहते देखे जाते हैं-“मैं अमुक था सो देव हुआ हूँ।” तथा तू कहेगा-“यह तो पवन है”; सो हम तो “मैं हूँ” इत्यादि चेतनाभाव जिसके आश्रयसे पाये जाते हैं उसीको आत्मा कहते हैं, तू उसका नाम पवन कहता है। परन्तु पवन तो भींत आदिसे अटकती है, आत्मा मुँदा (बन्द)

होने पर भी अटकता नहीं है; इसलिये पवन कैसे मानें?

तथा जितना इन्द्रियगोचर है उतना ही लोक कहता है; परन्तु तेरे इन्द्रियगोचर तो थोड़े से भी योजन दूरवर्ती क्षेत्र और थोड़ा-सा अतीत-अनागत काल- ऐसे क्षेत्र-कालवर्ती भी पदार्थ नहीं हो सकते, और दूर देशकी व बहुत कालकी बातें परम्परासे सुनते ही हैं; इसलिये सबका जानना तेरे नहीं है, तू इतना ही लोक किस प्रकार कहता है?

तथा चार्वाकमतमें कहते हैं कि-पृथ्वी, अप, तेज, वायु, आकाश मिलनेसे चेतना हो आती है। सो मरने पर पृथ्वी आदि यहाँ रहे, चेतनावान पदार्थ गया सो व्यंतरादि हुआ; जो प्रत्यक्ष भिन्न-भिन्न देखे जाते हैं। तथा एक शरीरमें पृथ्वी आदि तो भिन्न-भिन्न भासित होते हैं, चेतना एक भासित होती है। यदि पृथ्वी आदिके आधारसे चेतना हो तो हाड़, रक्त, उच्छवासादिकके अलग-अलग चेतना होगी। तथा हाथ आदिको काटनेपर जिस प्रकार उसके साथ वर्णादिक रहते हैं, उसी प्रकार चेतना भी रहेगी। तथा अहंकार, बुद्धितो चेतनाके हैं, सो पृथ्वी आदिरूप शरीर तो यहाँ ही रहा, तब व्यंतरादि पर्यायमें पूर्वपर्यायका अहंपना देखा जाता है सो किस प्रकार होता है? तथा पूर्वपर्यायके गुप्त समाचार प्रगट करते हैं सो यह जानना किसके साथ गया? जिसके साथ जानना गया वही आत्मा है।

तथा चार्वाकमतमें खाना, पीना, भोग-विलास करना इत्यादि स्वच्छन्द वृत्तिका उपदेश है; परन्तु ऐसे तो जगत स्वयमेव ही प्रवर्तता है। वहाँ शास्त्रादि बनाकर क्या भला होनेका उपदेश दिया? तू कहेगा-तपश्चरण, शील, संयमादि छुड़ानेके अर्थ उपदेश दिया; तो इन कार्योंमें तो कषाय घटने से आकुलता घटती है, इसलिये यहीं सुखी होना होता है, तथा यश आदि होता है; तू इनको छुड़ाकर क्या भला करता है? विषयासक्त जीवोंको सुहाती बातें कहकर अपना व औरोंका बुरा करनेका भय नहीं है; स्वच्छन्द होकर विषय सेवनके अर्थ ऐसी झूठी युक्ति बनाता है।

इस प्रकार चार्वाकमतका निरूपण किया...।

सर्वज्ञदेव, धर्म, अधर्म, मोक्ष, परलोक और पाप-पुण्य का फल है ही नहीं-ऐसा

चार्वाकमत मानता है। इन इन्द्रियों से दिखता है वही लोक है-ऐसा कहता है।

उससे पूछते हैं कि सर्वज्ञदेव इसकाल-क्षेत्र में नहीं है या सर्वकाल-क्षेत्र में नहीं है? इसकाल क्षेत्र में तो हम भी नहीं मानते। (तथा) सर्वकाल-सर्वक्षेत्र में नहीं, (तो) ऐसा सर्वज्ञ बिना किसने जाना? जो सर्वकाल- क्षेत्र को जाने वही सर्वज्ञ है, तथा जो जानता नहीं वह किस प्रकार निषेध करता है?

तथा धर्म-अधर्म लोक में प्रसिद्ध है। यदि वे कल्पित होते तो सर्वजन प्रसिद्ध किस प्रकार होते? तथा आत्मा के धर्मरूप या अधर्मरूप परिणति होती देखते हैं। राग घटावे तो वर्तमान में सुखी देखने में आता है और राग बढ़ावे तो दुःखी होता दिखता है; उसे कैसे नहीं मानें?

तथा मोक्ष का होना अनुमान में आता है-किसी में क्रोधादि विकार कम है और किसी में ज्यादा है, इसलिये किसी जीव में क्रोधादि की नास्ति होनी चाहिये। तथा किसी में ज्ञान कम- (किसी में) अधिक दिखता है, तो किसी को पूर्ण ज्ञान हो सकता है- ऐसा अनुमान हो सकता है। सर्व दोषों की हानि और गुणों की प्राप्ति हो वही मोक्ष अवस्था है। धर्म आत्मा की शान्ति है और अधर्म आत्मा की अशान्ति है। पूर्ण आकुलता टलकर पूर्ण अनाकुल दशा होना-वह मोक्ष है।

तथा पुण्य के कारण पैसा मिलता है। किसी को उद्यम करने पर भी पैसा नहीं मिलता, कोई कम उद्यम करे तो भी बहुत पैसा मिल जाता है। इसलिये वह पुण्य के आधीन है। तथा बहुत पथ्य रखे, धीरे-धीरे चले, शरीर का यत्न करे तो भी रोगी दिखता है; इसलिये वर्तमान प्रयत्न का वह फल नहीं है। पाप का उदय हो तो रोग हुए बिना नहीं रहता। तथा किसी के बिना पुरूषार्थ से रोग मिट जाता है। एक रोगी को बहुत दवा करने पर भी नहीं मिटता, और पुण्य का उदय आने पर सहज मिट जाता है। इसलिये लक्ष्मी आदि का मिलना या नहीं मिलना तथा शरीरादि का ठीक रहना या नहीं रहना वह पुण्य-पाप के आधीन है।

असाता का उदय आने पर रोग आये बिना नहीं रहता। गरीब मनुष्य दवा का प्रयत्न नहीं करता किन्तु पुण्य का उदय आने पर बिना दवा के रोग मिट जाता है। वह सब मिटने के काल में मिटता है, उसमें पुण्य निमित्त है- ऐसा सिद्ध करना हैं। यह सब प्रत्यक्ष होता देखने में आता है; इसलिये उसमें पुण्य-पाप कारण है।

तथा पर लोक भी प्रत्यक्ष और अनुमान से भासित होता है। व्यंतर देव देखने में आते हैं। "मैं अमुक था और देव हुआ हूँ"- ऐसी वे बात करते हैं। "पूर्व में मैं यह था और देव हुआ हूँ"-यह जानपना जिसके आधार से है वह आत्मा है। तू उसको पवन मानता है, परन्तु वह बात सच्ची नहीं है। पवन के आधार से जानपना नहीं हो सकता, क्योंकि पवन जड़ है तथा पवन भींत आदि से अटक जाती है; परन्तु आत्मा अटकता नहीं है। किसी को जमीन में जीवित गाड़े तो जमीन फटे बिना जीव निकल जाता है, इसलिये उसको पवन कैसे माने?

तथा इन्द्रियगोचर वस्तु को लोक कहता है; परन्तु लोक इतना ही नहीं है। तेरी इन्द्रियों द्वारा तो थोड़े योजन के दूरवर्ती क्षेत्र के और थोड़े भूत-भविष्यत् के पदार्थ भी ख्याल में नहीं आते। पाँच वर्ष पूर्व की कोई वस्तु दिखती नहीं और पाँच मील दूर क्षेत्र की चीज दिखती नहीं। विदेश तुझे देखने में नहीं आता, अमुक वर्ष पहले मंगलवार को नौ बजे स्कूल में बैठे थे, वह काल वर्तमान मैं तो इन्द्रियगोचर नहीं है। इसलिये तेरी इन्द्रियों से जानने में आये उतने को लोक कहता है सो योग्य नहीं है।

तथा पाँच महाभूत होकर आत्मा हुआ कहता है। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश मिलने से चेतना हुई- ऐसा वे कहते हैं। अब मरने के वाद पृथ्वी आदि यहीं रहे और जानने वाला पदार्थ है वह व्यंतरादि हुआ प्रत्यक्ष भिन्न-भिन्न देखते है। शरीर यहाँ पड़ा रहता है और आत्मा चला जाता है इसलिये दोनो भिन्न देखने में आते है। इसलिये दोनो भिन्न वस्तुयें हैं।

तथा शरीर में पृथ्वी आदि पाँच अलग है और जानने वाला एक हैं। सब अंगों में देखो तो जानने वाला एक है। पेट उष्ण हुआ उसका लक्षण अलग है और आत्मा का लक्षण अलग है। पृथ्वी आदि के लक्षण अलग-अलग भासित होते हैं। और आत्मा सबमें एक है, आत्मा का सलंगपना एक है, श्वांस आदि को जानने वाला एक ही है। हड्डियों को अलग चेतना जाने और खून को अलग चेतना जाने-ऐसा नहीं बनता, जानने वाला एक ही है। इसलिये पाँच से आत्मा उत्पन्न हुआ-यह बात सत्य नहीं है।

तथा हाथ कटने पर जैसे वर्णादि उसके साथ रहते है, वैसे ही चेतना भी उसके साथ रहनी चाहिये; परन्तु ऐसा नहीं होता। इसलिये शरीर और चेतना भिन्न वस्तु है।

तथा मैं रागी हूँ, में द्वेषी हूँ-ऐसा अहंकार चेतना को होता है, शरीरादि के अंग को

अहंकार नहीं होता। मर जाने पर शरीर यहाँ पड़ा रहता है। पूर्व की बात ख्याल में आती है कि मैंने पैसे अमुक जगह गाड़े थे- ऐसा कोई व्यंतर कहता है- वह अहंकार चेतना के आधार बिना कैसे होवे ? शरीर तो यहाँ पड़ा रहता है इसलिये जिसके साथ जानपना गया वही आत्मा है।

तथा चार्वाकमत में खाने-पीने का और स्वच्छन्द वृत्ति का उपदेश है।" यह लोक अच्छा तो परभव किसने देखा"- ऐसा वे कहते हैं। अब इस प्रकार तो जगत अपने आप ही प्रवर्तता है, तब शास्त्र बनाकर उपदेश का प्रयोजन क्या है ? तू कहेगा कि तपश्चरण, शील, संयमादि छुड़ाने के लिए यह उपदेश दिया है; परन्तु इन कार्यों से तो राग घटने पर उतना सुखी होता है। ब्रह्मचर्य पालनकर राग घटावे तो उतना सुखी होता देखने में आता है। खाने-पीने के तथा भोग के परिणाम कम करे तो आकुलता कम होती है और सुखी होता देखने में आता हैं। आकुलता कम देखने में आवे उसके बदले तेरे शास्त्र मे तो आकुलता अधिक करने को कहते हैं। इसलिये तेरे शास्त्र का प्रयोजन सच्चा नहीं है।

तप के शुभभाव में धर्म है-ऐसा यहा कहना नहीं है। आत्मा के भान सहित तप करे तो शान्ति होती है और भान बिना रागकी मंदता करे तो पुण्य होता है और आकुलता कम होती है। उसके बदले पुण्य छोड़कर पाप करने को सच्चे शास्त्र कभी नहीं कहते हैं।

पुण्य से धर्म नहीं और आत्मा के आधार से धर्म है-ऐसा शास्त्र कहते हैं; परन्तु उसका यह अर्थ नहीं है कि पुण्य छोड़ंकर पाप करना। नास्तिकमत के शास्त्र तपश्चरण छोड़ने को कहते हैं वह योग्य नहीं है। कुछ संयम पाले, ब्रह्मचर्य पाले तो अन्दर में आकुलता कम होती है और बाहर में प्रतिष्ठा प्राप्त होती है।और पापी, विषयी जीवों के आकुलता बढ़ती है तथा बाहर- लोक में प्रतिष्ठा नहीं रहती; इसलिये तपश्चरण छुड़ाकर क्या भला कराते हैं? विषयी जीवों को रूचिकर बातें कहकर अपना तथा पर का बुरा करने का तुझे भय नहीं है इस कारण स्वच्छन्दी बनकर विषय सेवन के लिये झूठी युक्तियाँ बनाता है।

इस प्रकार चार्वाकमत का निरूपण किया।

अन्यमत निराकरण उपसंहार

...........इसी प्रकार अन्य अनेक मत हैं वे झूठी कल्पित युक्ति बनाकर विषय-कषायासक्त पापी जीवों द्वारा प्रगट किये गये हैं; उनके

श्रद्धानादिक द्वारा जीवोंका बुरा होता है। तथा एक जिनमत है सो ही सत्यार्थ का प्ररूपक है, सर्वज्ञ वीतरागदेव द्वारा भासित है; उसके श्रद्धानादिकसे ही जीवों का भला होता है।

ऐसे जिनमतमें जीवादि तत्त्वोंका निरूपण किया है; प्रत्यक्ष-परोक्ष दो प्रमाण कहे हैं; सर्वज्ञवीतराग अर्हंतदेव हैं; बाह्य-अभ्यंतर परिग्रहरहित निर्ग्रंथ गुरू हैं। इनका वर्णन इस ग्रंथ में आगे विशेष लिखेंगे सो जानना।

यहाँ कोई कहे- तुम्हारे राग-द्वेष है, इसलिये तुम अन्यमतका निषेध करके अपने मतको स्थापित करते हो।

उससे कहते हैं- यथार्थ वस्तुका प्ररूपण करनेमें राग-द्वेष नहीं है। कुछ अपना प्रयोजन विचारकर अन्यथा करें तो राग-द्वेष नाम पाये।

फिर वह कहता है- यदि राग-द्वेष नहीं है तो अन्यमत बुरे और जैनमत भला ऐसा किसप्रकार कहते हो? साम्यभाव हो तो सबको समान जानो, मतपक्ष किसलिये करते हो?

उससे कहते हैं- बुरेको बुरा कहते हैं, भले को भला कहते हैं; इसमें राग-द्वेष क्या किया? तथा बुरे-भले को समान जानना तो अज्ञानभाव है; साम्यभाव नहीं है।

फिर वह कहता है कि- सर्व मतोंका प्रयोजन तो एक ही है, इसलिये सबको समान जानना?

उससे कहते हैं- यदि प्रयोजन एक हो तो नाना मत किसलिये कहें? एकमतमें तो एक प्रयोजनसहित अनेक प्रकार व्याख्यान होता है, उसे अलग मत कौन कहता है? परन्तु प्रयोजन ही भिन्न-भिन्न हैं सो बतलाते है...।

इसी प्रकार अन्य अनेक मत पाप से नहीं डरने वालों ने खोटी युक्ति बनाकर प्रगट किये हैं। उनकी श्रद्धा-ज्ञान-आचरण करने से जीवों का बुरा होता है। सर्वज्ञ वीतराग द्वारा कहा हुआ मार्ग सत्य मार्ग है। एक जैनमत ही सच्चे पदार्थों को बतलाता है, उसकी श्रद्धा-ज्ञान से कल्याण होता है।

जैनमत में क्या कहा है? जीवादि तत्वों का निरूपण किया है, प्रत्यक्ष और परोक्ष-दो प्रमाण कहे हैं- उसमें सब समावेश कर दिया है। दोनो प्रमाण मान्य है। कोई सूक्ष्म नजर

से न दिखे वह आगमगम्य मान्य है। तथा सर्वज्ञ वीतराग अरहन्त देव हैं और दिगम्बर मुनि बाह्य-अभ्यंतर निर्ग्रन्थ वे गुरू हैं। इस प्रकार संक्षेप में कहा। उन सबका वर्णन आगे विशेषता से लिखूँगा वहाँ से जानना।

धर्म का मूल सर्वज्ञ है; क्योंकि सर्व दोष रहित होकर तीनलोक को जिन्होंने प्रत्यक्ष जाना है इस कारण उनका ही कहा हुआ मत सच्चा है। एक आत्मा में अनन्त गुण और उनकी अनन्त पर्यायों को वे जानते हैं। प्रत्येक वस्तु स्वतन्त्र सत् होने से उत्पाद-व्यय-ध्रोव्यरूप वर्तती है। पुरानी अवस्था का व्यय होता है, नई अवस्था उत्पन्न होती है और ध्रोव्य अंश नित्य सदृश रहता है-ऐसे सर्व पदार्थो के तीनों अंशों को एक समय में जानने वाले सर्वज्ञ हैं।

स्वामी कार्तिकेय धर्म भावना का वर्णन करते हुए कार्तिकेयानुप्रेक्षा में कहते हैं कि धर्म का मूल सर्वज्ञ है। सर्वज्ञ कौन है, कैसे है, कैसे हुए? यह प्रथम जानना चाहिये। अज्ञानी कहता है कि सर्वज्ञ ने क्रमबद्ध जाना तो पुरूषार्थ कहाँ रहा? क्रमबद्ध को जानने में सम्यग्ज्ञान का सच्चा पुरूषार्थ है। जिसने स्वतन्त्र व्यवस्थित वस्तु स्वभाव का निर्णय किया उसने ही सर्वज्ञ को जाना है।

तथा समयसार गाथा 31 में कहा है कि जो इन्द्रियों को जीतकर ज्ञानस्वभाव के द्वारा अन्य द्रव्य से अधिक-पर से पृथक् और स्व में परिपूर्ण आत्मा को जानता है, उसे ही जो निश्चयनय में स्थित साधु हैं वे वास्तव में जितेन्द्रिय कहते हैं। नित्य स्वभाव की यथार्थ रूचि से विभाव की रूचि को जीतने वाले को जितेन्द्रिय कहते हैं। यह प्रथम नम्बर की छोटी से छोटी निश्चय स्तुति है।

द्रव्येन्द्रिय, भावेन्द्रिय और इन्द्रिय के विषयों की रूचि छोड़कर जिसने आत्मा की रूचि की उसने केवली की स्तुति की है। सर्वज्ञ के गुणगान किस प्रकार होते हैं? जड़ पदार्थ जड़ में हैं, जड़ इन्द्रियाँ जड़ इन्द्रियों में है और खण्ड-खण्ड ज्ञानरूप भावेन्द्रियाँ है उनकी भी रूचि छोड़कर स्वसन्मुखता से अखण्ड ज्ञानस्वभाव की रूचि करने वाले ने भगवान की स्तुति की है। उसने केवली भगवान के गुणगान गाये हैं।

कोई कहे कि सब क्रमबद्ध ही होता है तो ज्ञानियों ने राग घटाने का और सत्य ज्ञान करने का उपदेश दिया है वह व्यर्थ हो जायेगा ?

समाधान- प्रश्न करने वाला वस्तुस्वरूप को समझता नहीं है। आत्मा उपदेश नहीं

दे सकता। जगत में भाषावर्गणा है उसके कारण शब्द निकलते हैं। जीव इच्छा करे उसके कारण भाषा नहीं निकलती। धर्मात्मा शुभराग का और इच्छा का ज्ञान भी व्यवहार से करते हैं, तब भी उनके स्वयं के ज्ञानस्वभाव की अधिकता वर्तती है। अन्य जीव अपनी योग्यता से समझता है, उपेदश के कारण नहीं समझता। इन्द्रियों की, ब्राह्म पदार्थों की और भावेन्द्रियों के अस्तित्व की रूचि छोड़कर आत्मा की रूचि करे उसीने भगवान को माना ऐसा कहा जाता है। व्यवहार से कथन आता है; परन्तु कोई आत्मा व्यवहार से उपदेश नहीं दे सकता। यदि इच्छा से भाषा निकलती होवे तो केवली के इच्छा नहीं है फिर भी वाणी किसी को किसी काल में होती है। ज्ञानी जानता है कि वाणी भाषावर्गणा से निकलती है, वहाँ रागी जीव को राग होता है। स्व-परप्रकाशक ज्ञानपर्याय स्व को जानते हुए वाणी भाषा से (भाषा वर्गणा से) निकलती है-ऐसा ज्ञानी जानता है वह ज्ञाता रहता है, पर का कर्त्ता नहीं होता।

तथा कोई कहता है कि भगवान लोकालोक, को व्यवहार से जानते हैं, इस कारण अभूतार्थ है। अतः भगवान पर को जानते ही नहीं तो यह बात खोटी है; क्योंकि स्व-परप्रकाशक परिणमन है वह तो स्व है- निश्चय है, इससे लोकालोक के छहों द्रव्यों सहित स्व-पर पदार्थ को निश्चय प्रकाशन करने वाला ज्ञान निश्चय है। स्व-पर को जानने वाला ज्ञान अपने में है। लोकालोक में तन्मय हुए बिना उसे जानता है, इसलिये पर का जानना व्यवहार कहते हैं। जानने वाला स्वभाव सबको जाने इससे पर में तथा तुझमें फेरफार होवे-ऐसा नहीं है। इसलिये पर की रूचि छोड़कर अन्तर स्वभाव की रूचि करे, तो यह बात बैठे ऐसा है और तभी सर्वज्ञ की श्रद्धा हुई कहलाती है।

एक जैनमत है वही सत्य अर्थ का प्ररूपक है। सर्वज्ञदेव द्वारा कथित सात तत्वों की श्रद्धा-ज्ञान-आचरण से भला होता है। सर्वज्ञ कथित देव-शास्त्र-गुरू का स्वरूप, आत्मा आदि सात तत्त्वों का स्वरूप सनातन दिगम्बर जैन धर्म में ही है, अन्य कहीं नही, इसे विश्वधर्म कहो, वस्तु व्यवस्था कहो, जैन धर्म कहो- एक ही बात है ।

सात तत्त्वों की श्रद्धा में उपादान-निमित्त आदि आ जाते हैं। सात में- जीव-अजीव द्रव्य है, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष पर्यायें हैं; दोनो स्वतन्त्र है। उसमे निश्चय-व्यवहार आ जाते हैं। मिथ्या अभिप्राय को छोड़कर हेय उपादेय का निर्णय करते ही सातों की श्रद्धा एकसाथ होती है। शुद्ध चैतन्य आत्मा ही उपादेय है, यह निश्चय श्रद्धा

है और पुण्य-पाप, आस्रव, बंध अहितकर है-हेय है-ऐसी श्रद्धा वह व्यवहार की श्रद्धा है। इस प्रकार निश्चय-व्यवहार दोनों एकसाथ आ जाते हैं। तत्त्वार्थसूत्र कथित 'तत्वार्थश्रद्धानं' है वह निश्चय सम्यग्दर्शन है; परन्तु व्यवहार सम्यग्दर्शन नहीं। मोक्षशास्त्र में मोक्षमार्ग यांने वीतराग भगवान का कथन है। इस कारण उस सूत्र में निश्चय सम्यग्दर्शन की बात है। और जिसको निश्चय श्रद्धा होती है, वहाँ राग अथवा व्यवहार हेय है-ऐसी श्रद्धा भी उसमें आ जाती है। जीव ज्ञायकभाव है- ऐसी श्रद्धा करने से संवर-निर्जरा की श्रद्धा आ जाती है और आस्रव-बंध की अपने में नास्तिरूप की श्रद्धा भी आ जाती है। इस प्रकार जीव उपादेय है और आंस्रव, बंध हेय है- ऐसी श्रद्धा आ जाती है। इस प्रकार सात तत्त्वों की श्रद्धा-ज्ञान-आचरण करने से जीव का भला होता है।

जैनमत में जीवादि सात तत्व कहे हैं, एक ही तत्व नहीं कहा। प्रत्यक्ष परोक्षज्ञान-दोनों को प्रमाणज्ञान कहा है। प्रत्यक्ष ज्ञान सच्चा और परोक्ष ज्ञान खोटा-ऐसा नहीं हैं। मति-श्रुतज्ञान परोक्ष होने पर भी सच्चे ज्ञान हैं। जैसा तत्त्वार्थों का निर्णय सर्वज्ञ-वीतराग के ज्ञान में है वैसा ही सत्य निर्णय अल्पज्ञानी के ज्ञान में भी (सम्यग्ज्ञान में भी) है।

अष्टसहस्त्री मे कहा है कि केवलज्ञान और श्रुतज्ञान में प्रत्यक्ष परोक्ष का अन्तर है अन्य अन्तर नहीं। दोनो सच्चे ज्ञान हैं। सर्वज्ञ वीतराग अरहन्त देव हैं। जिनके अठारह दोष रहित केवलदर्शन और केवलज्ञान प्रगट हो गये हैं वे सच्चे देव हैं। तथा गुरू हैं वे ब्राह्म-अभ्यंतर चोबीस प्रकार के परिग्रहों से रहित निर्ग्रन्थ मुनि हैं। अन्दर परिग्रह छूट गया है और ब्राह्म में परिग्रह रह गया है ऐसा माने तो वह मूढ़ है। जो तीन चौकड़ी कषाय का नाश करके प्रतिक्षण छठवें-सातवें गुणस्थान में झूलते हैं और ब्राह्म में जिनके मोर पिच्छी और कमण्डलु मात्र है वैसे मुनि को चारित्रवंत गुरू कहते हैं। वस्त्र पात्र रखे उसे गूरू मानने वाला मिथ्यादृष्टि है। वह गृहीत याने नया पकड़ा हुआ-ग्रहण किया हुआ तीव्र मिथ्यात्व है। जैसा माता ने जन्म दिया वैसा नग्न होवे, पाँच इन्द्रियों के विषयो से रहित होकर निरंतर अतीन्द्रिय आनन्द का अनूभव करते होवें वे चारित्रवंत गुरू हैं। उन सबका वर्णन इस ग्रन्थ मे आगे विशेषरूप से लिखूँगा, वहाँ से जानना।

प्रश्नः- तुमको राग-द्वेष है इसलिये तुम अन्यमतों का निषेध करके अपने मत की स्थापना करते है ? तुम अपने मत को सच्चा कहकर पर को मिथ्या कहते हो। इसमें तुमको राग-द्वेष है। सात तत्त्वों के कहने वाले सर्वज्ञ को सच्चा कहते हो इसलिये तुमको

राग है और अन्यमत को मिथ्या कहते हो इसलिये द्वेष है। तुम अन्यमतों का निषेध करके अपने मत की स्थापना करते हो यह तो पक्षपात है?

उत्तरः- वस्तु का जैसा स्वरूप है वैसा प्रतिपादन करने मे राग-द्वेष नहीं है; परन्तु मान बढ़ाने के लिये और अपमान घटाने के लिये प्रयोजन विचारकर अन्यथा प्ररूपण करे तो राग-द्वेष नाम पावे।

जैसी वस्तु है वैसी कहना,मानना और जानना,उसमें राग-द्वेष अथवा पक्ष नहीं है। जैसे लोक मे खोटे रूपये को जरा भी नहीं चलाते, वैसे ही देव-शास्त्र-गुरू, निश्चय-व्यवहार, उपादान-निमित्त का सत्यस्वरूप जैसा है वैसा कहने मे राग-द्वेष नहीं है व पक्षपात नहीं है; बल्कि सच्ची दृढ़ता है। सर्वज्ञ स्वभाव-वस्तुस्वभाव का निर्णय करके स्वभाव सन्मुखता की रूचि को आगे करके जो क्रमबद्धपर्याय के स्वरूप को मानता है वह सच्चा है,शेष सब खोटे हैं-ऐसा मानने में राग-द्वेष नहीं है; बल्कि यथार्थता है अर्थात वीतरागता-स्वतन्त्रता है। एक वस्तु में वस्तुपने को निपजाने वाली परस्पर विरूद्ध दो शक्तियों का एक साथ प्रकाशित होना वह अनेकान्त है। इस प्रकार अनेकान्त की व्याख्या अमृतचन्द्राचार्य ने समयसार के परिशिष्ट में की है। आत्मा द्रव्यपने नित्य है और पर्यायपने अनित्य है; स्वरूप से है पररूप से नहीं, वीतरागी श्रद्धा-ज्ञान-लीनता से ही धर्म होता है और मिथ्याश्रद्धा-अज्ञान और राग से धर्म नहीं होता इसका नाम अनेकान्त है।

सभी पर्यायें क्रमबद्ध है और कोई पर्याय अक्रम नहीं-यह अनेकान्त है। अथवा एक द्रव्य मे अनन्त गुण अक्रम है और पर्यायें क्रमसर है- यह अनेकान्त है। इस प्रकार सच्चा समझना चाहिये। इसलिये उसमें राग द्वेष नहीं है। किन्तु कोई अपना मानादि कषायों के पोषण का प्रयोजन विचारकर अन्यथा प्ररूपण करे तो राग-द्वेष नाम पावे।।

श्रीमद् राजचन्द्रजी ने "मोक्षमार्गप्रकाशक" को आदि से अन्त तक पढ़ने की प्रेरणा दी है, क्योंकि यह यथार्थ वस्तुस्वरूप बताता है।

प्रश्नः- यदि राग-द्वेष नहीं है तो अन्य के देव-शास्त्र-गुरू सच्चे नहीं हैं उनके द्वारा कथित तत्त्व सच्चे नहीं हैं और भगवान जिनेन्द्रदेव द्वारा कथित शास्त्र और तत्त्व सच्चे हैं-ऐसा क्यों कहते हो? तुम्हे साम्यभाव है तो यह सच्चा है और वह भी सच्चा है- ऐसा कहो। मत पक्ष किसलिये करते हो?

उत्तरः- जैसा स्वरूप है वैसा कहने में राग-द्वेष नहीं है। बुरे को बुरा और भले को

भला कहने मे राग-द्वेष नहीं है। मल और कस्तूरी को एक समान मानना वह मूढ़भाव है साम्यभाव नहीं। उसी प्रकार बुरे और भले को समान गिनना अज्ञानभाव है, परन्तु साम्यभाव नहीं।

श्रीमद् राजचन्द्रजी ने समदर्शिता का अर्थ किया है कि सुदेव को सुदेव माने और स्थापे, कुदेव को कुदेव माने और उत्थापे। इस प्रकार जैसा है वैसा कहना समदर्शिता है और उसमे राग-द्वेष नहीं है।

वर्तमान मे भी लोग कहते है कि लोक में सभी के धर्मो को सत्य मानकर उनका समन्वय करो अथवा थोड़ा-थोड़ा झुको तो समाधान होगा; परन्तु यह समभाव नहीं बल्कि विषमभाव है-मूढ़ता है। सर्वज्ञ के सिवाय सबके मत एकान्त मिथ्यादृष्टि है। बुरे को बुरा और भले को भला कहने में राग-द्वेष नहीं है। बुरे-भले का मिश्रण करना- यह अज्ञानभाव है। जैसे एक शेर (किलो) दूध में थोड़ा सा जहर डालो तो वह दूध नहीं, किन्तु जहर है; वैसे ही इस न्याय में जरा भी अन्तर पड़े तो सोलह आने खोटा है। परमाणुरूप से समानता होने पर भी मल और हलुआ खाने में समानता नहीं मानता, वैसे ही धर्म में सबको समान नहीं मानना चाहिये। निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध में, उपादान निमित्त में जरा भी भूल करे तो सारी भूल है। बुरे-भले को समान जानना, वह साम्यभाव नहीं है। हम तो वस्तुस्वरूप जैसा है वैसा कहते है, इससे राग-द्वेष नहीं है। व्यक्ति अपने कारण से परिभ्रमण करता है, उसमें किसी की जवाबदारी नहीं है; परन्तु जैसा स्वरूप है वैसा कहना चाहिये।

प्रश्नः- सभी मतो का प्रयोजन तो एक ही है, सबको मोक्ष करना है- इस कारण सबको समान जानना।

उत्तरः- प्रयोजन एक होवे तो अलग-अलग मत किसलिये कहते हो? जितने मत कहे उनका प्रयोजन एक नहीं हो सकता। किसी व्यक्ति के साथ विरोध नहीं है, परन्तु दूसरे का अभिप्राय अपनी भूल टालने के लिये जानना चाहिये।

सर्वज्ञ के सिवाय सभी मत मिथ्या है। यदि सबका प्रयोजन एक होवे तो अलग-अलग मत किसलिये कहते हो? सच्चे आचार्यो की बात में अन्तर नहीं है। षटखण्डागम, समयसार आदि के अथवा चार अनुयोगो के रचयिता आचार्यों के कथन में अन्तर नहीं हैं।

यहाँ कोई प्रश्न करे कि -कुन्दकुन्दाचार्य और समन्तभद्र आचार्य के कथन में अन्तर है। कुन्दकुन्दाचार्य ने अकेले उपादान से बात की है जबकि समन्तभद्र आयार्य ने उपादान-

निमित्त दोनो की बात की है?

समाधान यह है कि- समन्तभद्राचार्य ने उपादान की दृष्टिपूर्वक निमित्त का ज्ञान कराया है और कुन्दकुन्दाचार्य दृष्टि प्रधान कथन करते हैं; परन्तु समन्तभद्र आचार्य का कथन कुन्दकुन्दाचार्य से अलग नहीं है, दोनो का प्रयोजन एक ही है।

एक मत में एक ही प्रयोजन सहित अनेक प्रकार के व्याख्यान होवें उन्हें अलग मत नहीं कहते। व्याख्यान अनेक प्रकार के होते हैं। द्रव्यानुयोग, चरणानुयोग करणानुयोग और प्रथमानुयोग-ऐसे चार अनुयोग हैं। प्रत्येक की कथन पद्धति अलग-अलग है। तथापि प्रयोजन तो सबमें एक ही (वीतरागभाव ही) है। एक अनुयोग व्यवहार को स्थापे और दूसरा निश्चय को स्थापे-ऐसा नहीं होता; एक वीतरागता को स्थापे और दूसरा पुण्य को स्थापे-ऐसा नहीं बनता। चारों में वीतरागता का एक ही प्रयोजन है। (चारों ने) स्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान और आचरण को एक ही प्रकार से स्थापित किया है। व्याख्यान का ढ़ंग अलग-अलग होता है, परन्तु प्रयोजन में अन्तर नहीं है। यदि प्रयोजन में अन्तर होवे तो अलग-अलग मत कहें-यह यहाँ बताते है।

अन्यमतोंसे जैनमतकी तुलना

......जैनमतमें एक वीतरागभावके पोषणका प्रयोजन है; सो कथाओंमें, लोकादिकके निरूपणमें, आचरणमें, व तत्त्वोंमें जहाँ-तहाँ वीतरागताकी ही पुष्टि की है। तथा अन्यमतों में सरागभावके पोषणका प्रयोजन है; क्योंकि कल्पित रचना कषायी जीव ही करते हैं और अनेक युक्तियाँ बनाकर कषायभावहीका पोषण करते हैं। जैसे- अद्वैत ब्रह्मवादी सर्वको ब्रह्म मानने द्वारा, सांख्यमती सर्व कार्य प्रकृतिका मानकर अपनेको शुद्ध अकर्त्ता मानने द्वारा और शिवमती तत्त्व जाननेहीसे सिद्धि होना मानने द्वारा, मीमांसक कषायजनित आचरणको धर्म मानने द्वारा, बौद्ध क्षणिक मानने द्वारा, चार्वाक परलोकादि न मानने द्वारा-विषयभोगादिरूप कषायकार्योंमें स्वच्छन्द होनेका ही पोषण करते हैं। यद्यपि किसी स्थानपर कोई कषाय घटानेका भी निरूपण करते हैं; तो उस छलसे अन्य किसी कषायका पोषण करते हैं। जिस प्रकार- गृहकार्य छोड़कर परमेश्वरका भजन करना ठहराया और परमेश्वरका स्वरूप सरागी ठहराकर उनके आश्रयसे अपने विषय-कषायका

पोषण करते हैं; तथा जैनधर्ममें देव-गुरू-धर्मादिकका स्वरूप वीतराग ही निरूपण करके केवल वीतरागताहीका पोषण करते हैं- सो यह प्रगट है।

हम क्या कहें? अन्यमती भर्तृहरिने भी वैराग्य प्रकरणमें ऐसा कहा है:-

एको रागिषु राजते प्रियतमादेहार्द्धधारी हरो,
नीरागेषु जिनो विमुक्तललनासङ्गो न यस्मात्परः।
दुर्वारस्मरवाणपन्नगविषव्यासक्तमुग्धो जनः,
शेषः कामविडंबितो हि विषयान् भोक्तुं न मोक्तुं क्षमः।। 1 ।।

इसमें सरागियोंमें महादेवको प्रधान कहा और वीतरागियोंमें जिनदेवको प्रधान कहा है। तथा सरागभाव और वीतरागभावों में परस्पर प्रतिपक्षीपना है। यह दोनों भले नहीं हैं; परन्तु इनमें एक ही हितकारी है और वह वीतरागभाव ही है; जिसके होनेसे तत्काल आकुलता मिटनेसे स्तुति.योग्य होता है। जिससे आगामी भला होना केवल हम ही नहीं कहते, किन्तु सभी मतवाले कहते हैं। सरागभाव होनेपर तत्काल आकुलता होती है, निंदनीक होता है, और आगामी बुरा होना भासित होता है। इसलिये जिसमें वीतरागभावका प्रयोजन है ऐसा जैनमत ही इष्ट है। जिनमें सरागभावके प्रयोजन प्रगट किये हैं ऐसे अन्यमत अनिष्ट हैं इन्हें समान कैसे मानें?

तथा वह कहते हैं कि- यह तो सच है; परन्तु अन्यमतकी निन्दा करनेसे अन्यमती दुःखी होंगे, विरोध उत्पन्न होगा; इसलिये निन्दा किसलिये करें?

वहाँ कहते हैं कि- हम कषायसे निन्दा करें व औरोंको दुःख उपजायें तो हम पापी ही हैं; परन्तु अन्यमतके श्रद्धानादिसे जीवोंके अतत्त्वश्रद्धान दृढ़ हो, जिससे संसारमें जीव दुःखी होंगे, इसलिये करूणाभावसे यथार्थ निरूपण किया है। कोई बिना दोष दुःख पाता हो, विरोध उत्पन्न करे तो हम क्या करें? जैसे- मदिराकी निन्दा करनेसे कलाल दुःखी हो, कुशीलकी निन्दा करने से वेश्यादिक दुःख पायें, और खोटा-खरा पहिचाननेकी परीक्षा बतलानेसे ठग दुःखी हो तो क्या करें? इसी प्रकार यदि पापियोंके भयसे धर्मोपदेश न दें तो जीवों का भला कैसे होगा? ऐसा तो कोई उपदेश है नहीं जिससे सभी चैन पायें? तथा वे विरोध उत्पन्न करते हैं; सो विरोध तो

परस्पर करे तो होता है; परन्तु हम लड़ेंगे नहीं, वे आप ही उपशांत हो जायेंगे। हमें तो अपने परिणामों का फल होगा।

तथा कोई कहे- प्रयोजनभूत जीवादिक तत्त्वोंका अन्यथा श्रद्धान करनेसे मिथ्यादर्शनादिक होते हैं, अन्य मतोंका श्रद्धान करनेसे किसप्रकार मिथ्यादर्शनादिक होंगे?

समाधानः अन्यमतोमें विपरीत युक्ति बनाकर, जीवादिक तत्त्वोंका स्वरूप यथार्थ भासित न हो यही उपाय किया है; सो किसलिये किया है? जीवादि तत्त्वोंका यथार्थ स्वरूप भासित हो तो वीतरागभाव होनेपर ही महंतपना भासित हो; परन्तु जो वीतरागी नहीं हैं और अपनी महंतता चाहते हैं, उन्होंने सरागभाव होनेपर भी महंतता मनानेके अर्थ कल्पित युक्ति द्वारा अन्यथा निरूपण किया है। वे अद्वैतब्रह्मादिकके निरूपण द्वारा जीव-अजीवके और स्वच्छन्दवृत्तिके पोषण द्वारा आस्रव-संवरादिकके और सकषायीवत् व अचेतनवत् मोक्ष कहने द्वारा मोक्षके अयथार्थ श्रद्धानका पोषण करते हैं; इसलिये अन्यमतोंका अन्यथापना प्रगट किया है। इनका अन्यथापना भासित हो तो तत्त्वश्रद्धानमें रुचिवान हो, और उनकी युक्तिसे भ्रम उत्पन्न न हो।

इस प्रकार अन्यमतों का निरूपण किया.....

जैनमत में अर्थात् सर्वज्ञ की वाणी और मुनियों की वाणी में कहा है कि राग रहित, शरीर रहित स्वभाव का अवलंबन ले, उसकी रूचि कर, उसका ज्ञान कर और उसमें स्थिरता कर। ऐसा एक ही प्रयोजन सिद्ध किया है। अपूर्ण दशा में शुभभाव होवें उसकी पहिचान कराते हैं; परन्तु वह प्रयोजन नहीं है, बल्कि वीतरागता प्रगट करना ही प्रयोजन है।

तथा पुराण आदि का प्रयोजन स्वभाव को पहिचानकर वीतरागता प्रगट करना है। वहाँ राग अथवा संयोग का अवलंबन लेने का प्रयोजन सिद्ध नहीं किया है।

करणानुयोग में लोकादिक का निरूपण है, तथा पहले से चौंदहवें गुणस्थान तक के परिणाम कहे है। ग्यारहवें गुणस्थान से जीव गिर जाता है- ऐसा कहा है, वहाँ उस कमजोर पर्याय का ज्ञान कराकर कहा कि तू कमजोर पर्याय मत करना, बल्कि विशेष पुरूषार्थ करना-ऐसा कहा है। ज्ञानावरणीय कर्म ने ज्ञान को आवृत किया- ऐसा निमित्त से कहा

है, परन्तु वहाँ हीन दशा तेरे कारण से कर्म के लक्ष्य से हुई है- ऐसा बताकर हीन दशा टालने का और पुरूषार्थ करके पूर्णदशा प्रगट कराने का हेतु है। व्याख्यान अनेक प्रकार से हैं; किन्तु प्रयोजन तो आत्मा की श्रद्धा-ज्ञान और रमणता कराना ही है, अन्य कुछ प्रयोजन नहीं।

वीतरागमत में वीतरागभाव का पोषण है-यह बात चल रही है। आत्मा का स्वभाव सच्चिदानन्द स्वरूप है। जहाँ पुण्य-पाप से धर्म मनाया होवे- वैसा वस्तु स्वरूप सच्चा नहीं है। दया, दानादि के भाव आकुलता है और मूल स्वभाव अनाकुल आनन्दमूर्ति है। उसके बदले कहे कि पर की भक्ति के राग से धर्म होगा- ऐसा कहने वाले ने आत्मा का अवलम्बन लिवाया नहीं है; परन्तु राग का अवलम्बन लिवाया है तो वह वस्तु स्वरूप नहीं है। स्वभाव का अवलम्बन कराया होवे और राग का अवलम्बन छुड़ाया होवे तो वह मार्ग कहलाता है; इससे विरूद्ध कहे वह सच्चा मार्ग नहीं है। तथा इस मार्ग के कहने वाले वीतरागी देव होते हैं। उनकी वाणी में ऐसा आता है कि शुभाशुभ राग छोड़कर अन्दर में जा! लाख बात की होवे तो भी सबका प्रयोजन वीतरागता एक ही है।

प्रथमानुयोग में कथा में शुभभाव से देव पद मिला- ऐसा कहा हो, तो भी उन निमित्तों में अटकाने का हेतु नहीं है। आत्मा का स्वभाव आनन्दकन्द है, उसकी श्रद्धा करके वीतरागता प्रगट कराने का हेतु है। भक्ति आदि की बात की होवे, वहाँ भी अशुभ से हटाकर और फिर शुभ से भी हटाकर शुद्ध में लाने का हेतु है।

तथा करणानुयोग में लोकादिक का निरूपण किया हो कि विकार के कारण जीव का चौदह ब्रह्माण्ड में भटकना हुआ है, निमित्तरूप से कर्म की बात की होवे, नरक के दुःख तथा स्वर्ग के सुख की बात की होवे; परन्तु वह सब बताकर ऐसा कहना है कि "पुण्य-पाप के फल में चार गति है, उसमें धर्म नहीं"। पुण्य-पाप रहित स्वभाव में श्रद्धा-ज्ञान-आचरण से धर्म और मोक्ष होता है- ऐसा कहने का हेतु है।

चरणानुयोग की विधि में यह खाना और यह नहीं खाना- ऐसा कहा होवे तो भी वीतरागता का हेतु है। निमित्त को सुधारने का अथवा राग में अटकाने का हेतु नहीं है। श्रावक को दान-पूजादि करना- ऐसा कहा है, वहाँ अशुभ से हटाकर शुभ में लाकर उसमें भी रूकने को नहीं कहा; परन्तु स्वभाव के लक्ष्य से इन सबका अभाव करने को कहा है। उस राग को घटाने वाला आत्मा है; इसलिये आत्मा राग रहित है। उसकी श्रद्धा-ज्ञान

करके अन्तर लीनता करने को कहा हैं। मुनि के निर्दोष आहार की विधि बताई- यह सब राग घटाने के लिये है, राग बढ़ाने के लिये नहीं।

अब द्रव्यानुयोग की बात करते हैं। वहाँ नव तत्त्वों की बात की है, वहाँ भी नौ के भेद का लक्ष्य छोड़कर आत्म सन्मुखता कराने का हेतु है। राग की वृद्धि करना- यह वीतरागदेव अथवा उनकी वाणी का प्रयोजन नहीं है।

भगवान तीर्थंकर जन्मते हैं तब एकावतारी इन्द्र भी नाचता है । बत्तीस लाख विमानों का राजा,बहुत देवों का स्वामी भी भगवान के समक्ष नाचता है। वहाँ हेतु जड़ की क्रिया का नहीं है, अन्तर में ज्ञानानन्द की दृष्टि हुई है; (और राग आने पर) भगवान इस भव से मोक्ष जायेगें- ऐसा बहुमान लाकर उनके सामने भक्ति करता है, किन्तु वहाँ भी शुभराग को रखने का हेतु नहीं है। तथा भगवान के समीप कहे कि "हमको मुक्ति देना" तो भी समझता है कि भगवान मुझे मुक्ति देने वाले नहीं हैं। भगवान तो कहते हैं कि तेरे पास तेरा ज्ञान और वीतरागता पड़ी हुई है। तेरी मुक्ति हमारे पास नहीं है। तथा किसी कथन में निमित्त व शुभराग की अपेक्षा कराई होवे तो वहाँ अशुभराग टालने के लिये वह कथन है; परन्तु शुभराग में अटकने के लिये नहीं। तथा वीतरागी देव-गुरू-शास्त्र ऐसा कहते हैं कि तुम भगवान परमात्मा हो, तुम अपने सन्मुख देखो, हमारे सामने मत देखो। हमारी भक्ति से तेरी मुक्ति होगी-ऐसा प्रयोजन वीतरागी देवादिक के कथनो का नहीं होता।

इस प्रकार चारों अनुयोगों की कथन पद्धति के प्रकार भिन्न-भिन्न होने पर भी वीतरागी श्रद्धा-ज्ञान और आचरण करना चारों का-यह एक ही प्रयोजन है। चरणानुयोग और करणानुयोग में निमित्त प्रधान कथन, द्रव्यानुयोग में उपादान प्रधान कथन और प्रथमानुयोग में पुण्य-पाप के फल का कथन होता है; परन्तु चारों अनुयोगों का प्रयोजन तो, आत्मा ज्ञाता-दृष्टा है उसकी श्रद्धा-ज्ञान और आचरण करना ही है; क्योंकि राग में से अथवा पर्याय में से वीतरागी पर्याय नहीं आती। कोई भी अनुयोग लो, पर उसमें प्रयोजन तो वीतरागता है। निमित्त की, राग की, व्यवहार की और पर्याय की उपेक्षा तथा द्रव्यस्वभाव की अपेक्षा करना- यह वीतरागता है। सम्यग्दर्शन वीतरागभाव है। वीतरागी सम्यग्दर्शन, वीतरागी ज्ञान और वीतरागी आचरण यह एक ही ध्येय है।

चरणानुयोग में संयोग छोड़ने की बात नहीं है; परन्तु संयोग का लक्ष्य छोड़, शुभाशुभ राग आता है उसका लक्ष्य छोड़ और जिसमें से वीतरागता प्रगटती है- ऐसे द्रव्यस्वभाव की

अपेक्षा कर! इस प्रकार वहाँ एक वीतरागता का ही प्रयोजन बताया हैं

कोई कहे कि जीव को भव्य-अभव्य की खबर नहीं पड़ती, विशेष ज्ञानी जांन सकता है ?

उसका समाधान- यह बात मिथ्या है। भव्य-अभव्य का निर्णय हो सकता है। जिसका वीर्य भव्य-अभव्य का निर्णय करने में काम नहीं करता वह जीव अनन्त संसार काटने में वीर्य को नहीं लगा सकेगा। स्वभाव का भान होने पर किसी से पूछना नहीं पड़ता, स्वयं उसका निर्णय कर सकता है।

तथा कोई कहे कि दया-दानादि के परिणामों से संसार का अभाव होता है, तो यह बात मिथ्या है। जहाँ तक पुण्य-पाप की रूचि छोड़कर स्वभाव की रूचि न करे वहाँ तक सच्चा वैराग्य नहीं होता। बाह्य पदार्थ के त्याग की बात नहीं, शुभाशुभ राग की रूचि छोड़कर स्वभाव की रूचि करे तो वैरागी है। जो जीव व्यवहार का आदर करता है वह वैरागी नहीं है। निमित्त मैं नहीं, राग मेरा स्वभाव नहीं; मैं तो ज्ञान स्वभावी हूँ- ऐसी श्रद्धा-ज्ञान करने वाले को भव की शंका नहीं रहती। जिसको वीतरागी निःसंदेहता हुई है उसको भव की शंका नहीं रहती।

मैं ज्ञायक हूँ, चैतन्य हूँ, राग आता है वह औदयिकभाव है; राग से लाभ नहीं, स्वभाव से लाभ होता है- ऐसा प्रयोजन चारो अनुयोगों में है। यदि प्रयोजन में अन्तर पड़ता है तो वह सर्वज्ञ का कथन नहीं है। इस जगत में केवलज्ञानी है-ऐसा निर्णय करने वाला निमित्त और राग की उपेक्षा करता है और स्वभाव की अपेक्षा करता है। स्वभाव में भव नहीं और भव के भाव का आदर नहीं- ऐसे स्वभाव की दृष्टि करना- यह एक ही प्रयोजन है। स्वभाव सन्मुख ले जाकर राग घटाने का प्रयोजन हैं, भले ही कथन पर द्रव्य और राग से छूटने की अपेक्षा किया हो; परन्तु हेतु वीतरागता है।

त्रिलोकनाथ के पंथ में वीतरागता का प्रयोजन है। शुद्ध चैतन्य स्वभाव का आदर करने पर वह उपादेय हुआ वहाँ राग हेय हो जाता है। जो शास्त्र निमित्त से या राग से धर्म बताते हैं वे वीतराग के शास्त्र नहीं हैं। शास्त्र में दो नयों का कथन है। निश्चय से शुद्ध आत्मा का ज्ञान होता है, व्यवहार से पर्याय में राग का ज्ञान होता है- इस प्रकार दोनों नयों से प्रमाण ज्ञान होता है। व्यवहारनय का प्रयोजन ज्ञान करने का है। कथन शैली अनेक प्रकार की होती है। ज्ञानावरणी कर्म ने ज्ञान को रोका-ऐसा कथन आता है; परन्तु

उसका अर्थ क्या? स्वयं अपने कारण से ज्ञान को हीन करे तो ज्ञानावरणी कर्म को निमित्त कहा जाता है; परन्तु कर्म के कारण ज्ञान रूका- ऐसा प्रयोजन करणानुयोग में नहीं हैं। यदि ऐसा होवे तो दो द्रव्य एक हो जावें। किसी भी अनुयोग का कथन हो और कथन करने वाले मुनि हों या पण्डित हों, तो भी प्रयोजन एक ही है और अज्ञानी का प्रयोजन अलग-अलग होता है।

सर्वज्ञ भगवान के चारो अनुयोगों में वीतरागभाव के पोषण का प्रयोजन है, वह किस प्रकार प्रगट होता है? ज्ञानस्वभाव के अवलम्बन से वह प्रगट होता है। निमित्त और व्यवहार की उपेक्षा करो और स्वभाव की अपेक्षा करो- इसके सिवाय शास्त्र में से अन्य प्रयोजन निकालने वाला अन्यमत है। चरणानुयोग में बाह्य त्याग की प्रधानता से कथन होता है, वहाँ भी प्रयोजन वीतरागता का है। वास्तव में स्वभाव के अवलम्बन से राग छूट जाता है, तब व्यवहार से बाह्य पदार्थ छोड़ने पर राग छूटता है- ऐसा कथन आता है; परन्तु बाह्य पदार्थ के कारण राग छूटता है- ऐसा कहना नहीं है।

वीतरागभाव कब होता है? संदेह रहित होवे तो वीतराग भाव प्रगट होता है। जिसको भव्य-अभव्य का संदेह रहता है वह मिथ्यादृष्टि है। मिथ्यात्व बड़ी कषाय है, उससे कर्मों का स्थिति-अनुभाग बंधता है। मैं भव्य होऊँगा या अभव्य होऊँगा? अथवा अपना अनन्त संसार भगवान ने देखा होगा तो? ऐसा मानने वाला संशय मिथ्यादृष्टि है, उसको वीतरागभाव प्रगट नहीं होता।

वीतरागभाव में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तीनों आते हैं। वह एक ही मोक्षमार्ग है। स्वभाव सन्मुख होकर वीतरागता करने का और राग से दूर होने का एक ही प्रयोजन है। राग से और निमित्त से दूर होना-यह नास्ति का कथन है। जो राग हुआ उसे क्या दूर करना? स्वभाव की श्रद्धा करने पर भ्रान्ति उत्पन्न नहीं होती और स्थिरता करने पर राग उत्पन्न नहीं होता, तथा परद्रव्य तो दूर ही है अर्थात् उससे दूर होना नहीं है। (यह वस्तुस्थिति है)

तथा जीव को अनध्यवसाय दोष होवे तो निर्धाररहितपना है। निमित्त से धर्म होता होगा या उपादान से धर्म होता होगा? निश्चय से धर्म होता होगा या व्यवहार से होता होगा? इसमें अपने को खबर नहीं पड़ती, जो होवे वह ठीक-यह अनध्यवसाय दोष है। संशय, विपरीतता और अनध्यवसाय रहित होकर ज्ञानस्वभाव की सन्मुखता करके, राग

का नाश करके वीतरागता प्रगट करना ही प्रयोजन है।

कथाओं में प्रयोजन पुण्य-पाप का फल बताकर उसमें रोकने का नहीं है, बल्कि स्वभाव सन्मुख ले जाने का है। कथा में अंजन चोर को निःशंकित अंग के कारण सम्यग्दृष्टि कहा है। अब वहाँ निःशंकित अंग याने व्यवहार अंग के कारण सम्यग्दर्शन हुआ-ऐसा कहने का हेतु नहीं है; परन्तु उसने भविष्य में शुद्ध स्वभाव के अवलम्बन से सम्यग्दर्शन पाया है, उसका आरोप व्यवहार में आया है और व्यवहार का आरोप व्यवहार के एक अंग-निःशंकित अंग में किया है। अनारोपदृष्टि हुई तो आरोप आया। निःशंकित अंग तो राग है। जीव राग से सम्यग्दर्शन पाता है-ऐसा कहने का हेतु नहीं है। कथा का अर्थ समझना चाहिये। बाह्य प्रभावना आदि शुभराग है, शुभराग करते-करते धर्म होगा-ऐसा कहने का प्रयोजन नहीं है। स्वभाव के अवलम्बन से धर्म प्रगट करे तो पूर्व के शुभराग पर आरोप आता है। तात्पर्य यह है कि राग और निमित्त की उपेक्षा कराकर स्वभाव की अपेक्षा कराना वह कथा का हेतु है। इस प्रकार हेतु नहीं समझने वाले को तो कथा बांचना भी नहीं आती।

करणानुयोग में लोक के निरूपण में भी वीतरागभाव का प्रयोजन है। लोक का वांचन करने से विकल्प उत्पन्न होवें वे आदरणीय नहीं हैं; क्योंकि लोकालोक ज्ञान का ज्ञेय है-इससे करणानुयोग में भी भेद में रूकाने का ध्येय नहीं हैं, स्वभाव का अनुभव कराने का प्रयोजन है।

किसी ने एक व्यक्ति को तमाचा मारा, उससे पूछा कि तुमने क्रोध क्यों किया? उसने जवाब दिया कि तुम्हें गोम्मटसार का अभ्यास नहीं है, मोहनीयकर्म का उदय आने से गुस्सा आता है- ऐसा गोम्मटसार में लिखा है। देखो, गोम्मटसार का अभ्यास करके ऐसे अर्थ निकालता है, वह शास्त्र के अर्थ को नहीं समझता।

तथा गोम्मटसार में कथन है कि संज्वलन कषाय का मंद उदय होवे तो सातवाँ गुणस्थान प्रगटता है और तीव्र उदय होवे तो छठवाँ गुणस्थान प्रगट होता है; वहाँ तो निमित्त बताने का हेतु है। यदि कर्म के कारण विकार होता होवे तो विकार रहित होने का प्रसंग कभी आयेगा ही नहीं। वहाँ भी एक निःसंशयभाव, स्वाधीनभाव, निर्णयात्मकभाव, अविपरीतभाव कराने का प्रयोजन है।

तथा मार्गणा में भव्य-अभव्यत्व- ऐसे भेद बतावे तो वहाँ संशय कराने का प्रयोजन

नहीं है। मैं भव्य होऊँगा या अभव्य होऊँगा- ऐसा संशय कराने का हेतु नहीं है। परन्तु मैं भव्य हूँ, अल्प राग-द्वेष पर्याय में हैं वे अल्पकाल में टल जायेंगें। इस प्रकार निर्भय स्वभाव का भान कराने का हेतु है। स्वयं भव्य है या अभव्य- ऐसे संदेह वाले को केवली भगवान और उनकी वाणी का निर्णय करने की ताकत नहीं होती। ऐसी शंका करने वाला मोटा भाषण करे तो भी व्यर्थ है। चारों अनुयोगों का हेतु निःसंशयभाव कराने का है, क्योंकि निःसंशयभाव के बिना धर्म नहीं होता।

तथा कोई कहे कि 'णमो लोए सव्व साहूणं'' में सभी मतों के साधुओं को नमस्कार किया है, क्योंकि इसमें दिगम्बर अथवा श्वेताम्बर के साधु ऐसा कुछ कहा नहीं हैं?

समाधानः- देखो अज्ञानी की दलील! चिदानन्द आत्मा अनन्त गुणों का पिण्ड है, उसके अवलम्बन से शुद्ध उपयोग प्रगट होता है। निमित्त और राग में से शुद्ध उपयोग नहीं आता ऐसे भान वाले विशेष स्वरूप स्थिरता करे वह एक ही शुद्ध उपयोगी साधु हैं उनको ही नमस्कार किया है।

गोम्मटसार में भव्य-अभव्य आदि मार्गणास्थान बताये हैं, उसका प्रयोजन यह है कि राग की दृष्टि छोड़ और स्वभाव की दृष्टि कर। ज्ञान की पर्याय आदि मार्गणास्थान में आते हैं, परन्तु वहाँ भेद में रोकने का प्रयोजन नहीं है। वीतरागता कहाँ से आयेगी? भेद में से आयेगी? नहीं, शक्ति में से वीतरागता आयेगी-ऐसी प्रतीति कर! यह प्रयोजन है।

कोई कहे कि पुद्गल कर्म की ऐसी महाशक्ति है कि केवलज्ञानावरणी कर्म केवलज्ञान को रोक देता है, तो यह मिथ्या बात है; क्योंकि कर्म ज्ञान को नहीं रोकता। स्वयं अपने कारण ज्ञान को रोकता है तो केवलज्ञानावरणी कर्म निमित्त कहलाता है; परन्तु कर्म के कारण ज्ञान रूकता है-ऐसा करणानुयोग का प्रयोजन नहीं है। निमित्त की रूचि छोड़कर स्वभाव की रूचि करने का प्रयोजन है। जैसा कर्म आता है वैसा राग करना पड़ता है-ऐसा अर्थ करने वाले के तो कषाय पोषण का प्रयोजन हुआ, परन्तु वीतरागता का प्रयोजन नहीं रहा।

गोम्मटसार की टीका में कथन आता है कि कर्म आत्मा को विकार कराता है, तो वहाँ प्रयोजन यह है कि जीव राग करे तो कर्म निमित्त कहलाता है; इसलिये निमित्त की उपेक्षा करके स्वभाव की रूचि कर। पर के कारण तू पराधीन होता है- ऐसा प्रयोजन किसी अनुयोग में नहीं हैं। अमुक गुणस्थान में अमुक प्रकृति बंधती है, संक्रमण होता है

या उदय में आता है- ऐसा कहा हो, उन सबका प्रयोजन निमित्त का लक्ष्य छोड़कर स्वभाव का लक्ष्य कराने का है।

अब चरणानुयोग का प्रयोजन कहते है :-

अभी कोई कहते हैं कि निश्चय की बातें सुनकर लोग शुभभाव छोड़ देंगें?

उत्तर :- भाई! यह सब अज्ञानी की दलील है। अज्ञानी लोग बाहर के त्याग में रूक गये हैं। उनका समय अनाज को साफ करने में चला जाता है। तथा वे आत्मा के भान बिना सामायिक मानते हैं। सामायिक पाँचवें गुणस्थान में है। चौथे के बिना पाँचवां गुणस्थान कहाँ से आयेगा? इसलिये जड़ की क्रिया जड़ से होती है-ऐसा मानकर शुभराग की रूचि छोड़कर स्वभाव की श्रद्धा करना ही चरणानुयोग का प्रयोजन है। उसके बदले शुभराग में अटक जाये उसे प्रयोजन भासता नहीं है। शुभराग में और बाह्य पदार्थों की तपास में समय चला जाये तो आत्मा का निर्णय करने का समय नहीं रहता। चरणानुयोग में पर के ग्रहण-त्याग करनेका प्रयोजन नहीं है। पर के ग्रहण-त्याग की बुद्धि मिथ्यात्व है। ऐसा आहार ले तो परिणाम सुधर जाते हैं- यह प्रयोजन चरणानुयोग का नहीं है। चरणानुयोग में शुद्ध स्वरूप की दृष्टि कराने के लिये शुभराग की प्रधानता से कथन है; परन्तु वहाँ शुभराग में अटकाने का प्रयोजन नहीं है। स्वभाव की सामर्थ्यता, विभाव की विपरीतता और संयोग की प्रथक्ता बताने का प्रयोजन है।

चौथे काल और पाँचवें काल में- सब में एक ही प्रयोजन है। कैसा भी संयोग हो, क्षेत्र हो, काल हो; परन्तु प्रयोजन वीतरागता एक ही है। स्वभाव की सामर्थ्यता, विभाव की विपरीतता और संयोग की प्रथक्ता न समझे तो वह चरणानुयोग के कथन को नहीं समझता। शास्त्र में कथन आता है कि चलते रास्ते में जीव होवे तो पैर ऊँचा लेकर चलना-तो वहाँ आत्मा पैर ऊँचा कर सकता है- यह बताने का प्रयोजन है? नहीं, प्रमाद नहीं करने का प्रयोजन है। अर्थात् आत्मा स्वभाव की दृष्टि करके वीतरागता प्रगट करे -यह प्रयोजन है।

द्रव्यानुयोग का प्रयोजन सात तत्त्वों को बताकर वीतरागता का है।

समयसार, तत्वार्थसूत्र आदि में छह द्रव्यों आदि के निरूपण में वीतरागभाव का प्रयोजन है। सात तत्वों की बात करे अथवा सात में जीव-अजीव दो की बात करे अथवा एक जीव की बात करे-तो वहाँ भी एक वीतरागभाव कीं ही प्रयोजन है। उसमें कथन

आता है कि चारित्रमोहनीय के कारण असंयमभाव है, वहाँ हेतु यह है कि स्वभाव के कारण असंयमभाव नहीं है। द्रव्यस्वभाव में विकार नहीं है, कर्म के लक्ष्य से विकार होता है-ऐसा बताना है। यदि कर्म के कारण विकार होता होवे तो अपने को भ्रान्ति और विकार टालने का प्रसंग नहीं रहता और वीतरागभाव का प्रयोजन भी नहीं रहता।

इस प्रकार चारो अनुयोगों में वीतरागभाव का ही पोषण किया है। जबकि अन्यमत में ऐसा नहीं है। दिगम्बर जैन दर्शन सिवाय दूसरे सब अन्यमत है। वहाँ वीतरागता का पोषण नहीं है- यह बात अब करेंगे।

यहाँ शिष्य का प्रश्न यह है कि सभी धर्मों का प्रयोजन एक है, सबको मोक्ष में जाना है और सब मोक्ष के लिये प्रयत्न करते हैं। इसलिये सबको समान मानना चाहिये?

उत्तर इस प्रकार है कि यदि प्रयोजन एक कहोगे तो सभी मत अलग-अलग नहीं होने चाहिये। किसी भी संयोग में, क्षेत्र में, काल में और भाव में हो तो भी आत्मा ज्ञानानन्द है। उसकी रूचि कराने का प्रयोजन होना चाहिये। (लेकिन वहाँ अन्यमत में ऐसा नहीं है जबकि) चारों अनुयोगों का एक ही सार है। कथा में हेतु वीतरागता का है। आदि पुराण में त्रैपन क्रियायें कही है, परन्तु वहाँ क्रिया में रूकाने का हेतु नहीं है। हेतु यह है कि व्यवहार, निमित्त और राग की उपेक्षा करके स्वभाव की अपेक्षा कर। तथा करणानुयोग में निमित्त प्रधान कथन भले हो, परन्तु वहाँ भेद बताकर अभेद स्वभाव की श्रद्धा कराने का हेतु है। चरणानुयोग में शुभराग बताकर भी राग रहित स्वभाव बताना है और द्रव्यानुयोग मे भी वीतरागता का हेतु है, राग में खड़ा रखने का हेतु नहीं है। इस प्रकार जैन मार्ग है। इसके सिवाय सभी अन्यमत है।

वीतरागमार्ग सिवाय अन्यमत में व्यवहार से धर्म होता है, राग से धर्म होता है- ऐसा पोषण किया है। भैया! "दया, दान करो तो बेड़ा पार हो जायेगा"- ऐसी अन्यमत की प्ररूपणा है, यह जैनमत की प्ररूपणा नहीं है। मिथ्यादृष्टि-कषायवंत जीवो ने तर्क बताकर कल्पित रचना की है। जो दिगम्बर के नाम से अथवा आचार्यों के नाम से शास्त्र का विपरीत अर्थ करते हैं वे भी कषाय का ही पोषण करते हैं। अपनी कल्पना से शास्त्र लिखना चाहते है और व्यवहार के अभाव से धर्म होता है- इस बात को नहीं समझते। असद्भूत उपचार नय वर्तमान राग को विषय करता है और असद्भूत अनुपचार-नय भविष्य में राग होगा उसको विषय करता है- इस प्रकार जो विपरीत अर्थ लिखता है वह

भविष्य में राग की भावना वाला मिथ्यादृष्टि है, उसके नय नहीं होते। सच्चा अर्थ नहीं आवे और खोटे शास्त्र लिख दे अथवा निमित्त से कार्य होता है- ऐसा मानले वह कषाय भाव को ही पोषता है।

अन्यमत विपरीत कथन करते हैं। आत्मा प्रभु है, उसकी शक्ति में परमात्मपद पड़ा हुआ है। उसकी श्रद्धा से परमात्मा हुआ जाता है- इस बात की उन्हें खबर नहीं है और विपरीत मोर्ग चलाते हैं। उसका प्रयोजन वीतरागी स्वभाव तरफ झुकाने का नहीं हैं, परन्तु रागी देव की कल्पना करके राग की तरफ झुकाने का है। वे पर से प्रेम छोड़ने को नहीं कहकर पर का प्रेम कराते हैं। देव का स्वरूप रागी ठहराते हैं- इस प्रकार कल्पित तत्व बताकर परसन्मुखता के विकारभाव का पोषण किया है। भगवान की कृपा से भक्त तिर जायेंगे- ऐसा मानने वाले ने भगवान को रागी माना है; परन्तु भगवान ऐसे नहीं होते, भगवान तो वीतरागी और सर्वज्ञ होते हैं। तथा वे कहते हैं कि शरीर को दुःखी नहीं करना, नारायण को नाराज नहीं करना अर्थात् शरीर को दुःख नहीं देना और खाना-पीना- ऐसा वे कहते हैं। वास्तव में तो पुण्य-पाप के परिणाम से अन्दर का वास्तविक नारायण नाराज होता है, परन्तु वैसा वे नहीं समझते। इस प्रकार अनेक युक्तियाँ बनाकर कल्पित रचना करके कषायभाव को ही पोषते हैं।

जैसेकि अद्वैत ब्रह्मवादी एक ही आत्मा मानने वाला है वह सबको समान मानकर भोग भोगने को कहता हैं; चाहे कैसे भी पदार्थ खाने में बाधा नहीं है- ऐसा मानता है।उसने पर विषयों का लक्ष्य कराकर उनकी रूचि और अनुभव कराकर विषयों के कार्यों में रोका है। आत्मा ध्येय है उसे चूककर पर विषयों और राग का अनुभव करने को कहकर स्वच्छन्दता का पोषण किया है। उसने स्व को विषय नहीं कराया, बल्कि पर को विषय कराया है। भ्रान्ति-रागद्वेष में रूककर धर्म होगा- ऐसा कहकर स्वच्छन्दता कराई है। निम्त्ति की तरफ के झुकाव में रूकना वह विषय है। सत्पुरूष के झुकाव में रूकना वह पुण्य है। पुण्य में हित मनाकर पर सन्मुखता कराना वह विषय भोग है। इस प्रकार अद्वैत ब्रह्मवादी विषय-भोगादिरूप राग द्वेष के कार्यों में स्वच्छन्दी होने का ही पोषण करता है।

सांख्यमत सर्व कार्य प्रकृति के मानता है और आत्मा को अकर्त्ता मानता है। विकार स्वयं करे और (दोष) प्रकृति पर डाले वह स्वच्छन्दी है,उसे आत्मधर्म की खबर नहीं है। जैन में कहे कि कर्म के कारण राग होता है तो वैसा मानने वाले भी सांख्यमती जैसे हैं।

उनने कषाय के कार्यों में रोक दिया है,पर तरफ का लक्ष्य छुड़ाया नहीं है।

निमित्त की उपेक्षा नही करना- ऐसा जैन में कहे तो वह भी पर की रूचि वाला है और विषय-कषाय को पोषता है। जिसने पर की उपेक्षा नहीं की और आत्मा की अपेक्षा नहीं की वह यथार्थ प्रयोजन को पहिचानता ही नहीं। निमित्त के कारण कार्य मानता है, गुरू अपने को मोक्ष देंगे- ऐसा मानता है। मनुष्यपना अनन्तबार मिला, सत्पुरूष का समागम भी अनन्तबार मिला फिर भी स्वयं पहिचान नहीं की-इस कारण परिभ्रमण खड़ा है।

जैसे सोना लेने वाले को सोने का निर्णय करना चाहिये; वैसे ही धर्म करने वाले को यथार्थ निर्णय करना चाहिये। वीतराग की वाणी किसे कहते हैं? वीतरागता का पोषण करे और राग को पोषण न करे- वह वीतराग की वाणी है।

यहाँ सांख्यमत वाले राग-द्वेष स्वयं करते हैं तो भी दोष प्रकृति पर डालकर स्वच्छन्दी बनकर विषय कषायों का पोषण करते हैं।

'शिवमत' वाले तत्व को जानने से सिद्धि होना मानते हैं, परन्तु काम-क्रोध स्वभाव में नहीं-इसकी उन्हें खबर नहीं है। वे भी स्वच्छन्दी होने का पोषण करते हैं।

'मीमांसक' यज्ञ करने को कहते हैं। धी होमने से अच्छी वर्षा होती है, अनाज ठीक पकता है,लोगों का निर्वाह होता है और उनके आशीर्वाद मिलते हैं-ऐसा मानते हैं। इस प्रकार क्रियाकाण्ड में धर्म मानकर विषय-कषाय का पोषण करते है।

'बोद्ध' वस्तु को क्षणिक मानते हैं। उनके नित्य स्वभाव सन्मुख झुकना रहता नहीं। धर्म का फल क्षणिक हैं और आत्मा क्षणिक ठहरने से उनके मत में धर्म का फल भोगना नहीं रहता। उनको अकषायी आत्मा की रुचि और प्रयोजन नहीं है इस कारण स्वच्छन्दी होने का पोषण करते है।

'चार्वाक' परलोक नहीं मानते हैं। नरकादि का वर्णन डर बताने के लिये किया है- ऐसा कहते हैं। वे किसी गति आदि को नहीं मानते। वर्तमान मे खाना-पीना, मोज करना- ऐसा मानकर भोगो का पोषण करते है। उन्हें आत्मा के कल्याण की खबर नहीं है इसलिये वे मात्र स्वच्छन्दी हैं।

यद्यपि अन्यमती किसी जगह कोई कषाय घटाने की बात करते हैं तथापि अन्य जगह अन्य कषाय का पोषण करते हैं। सन्यासी होओ, परमेश्वर का भजन करो- ऐसा कहा, परन्तु परमेश्वर को रागी ठहराया, स्त्री वाला ठहराया, कर्त्ता-हर्त्ता और नाशक

ठहराया। इस प्रकार वहाँ भी राग में जोड़ते हैं। जो जीव पाप करते हैं उन्हें भगवान नरक में ले जाते है- ऐसा कहकर भगवान को रागी द्वेषी ठहराते हैं। अब रागी परमेश्वर की भक्ति करे तो स्वयं परमेश्वर की अपेक्षा नीचा हुआ। तथा रागी देव के भजन में राग की पुष्टि का प्रयोजन है। एक जगह कषाय छुड़ाते हैं, स्त्री, पुत्रादिक को छुड़ाते हैं और दूसरी जगह अथवा दूसरे प्रकार से कषाय का पोषण कराते हैं। किसी जगह ब्रह्मचर्य आदि पालने को कहते हैं तथा कहीं राग करने को भी करते हैं। पुत्र नहीं होवे तो गति नहीं होगी ऐसा बताते हैं- यह अज्ञान है। साधु को भोजन दे तो कल्याण होगा। भगवान को लड्डू दे-चढ़ाये तो बैकुंठ मे लड्डू मिलेंगे ऐसा मानता है। तब तो, बैकुंठ मे यह के यह भोग विलास रहे, यह की यह पराधीनता रही।

जैनधर्म में देव तो पूर्ण वीतरागी सर्वज्ञ हैं और गुरू तो निर्ग्रन्थ हैं। देह की क्रिया और पंचमहाव्रत की क्रिया वह गुरूपद नहीं है। अट्ठाईस मूलगुणों का पालन तो आस्रव है और अन्दर अकषायी परिणति प्रगटी है वह गुरूपना है। जो निमित्त से अथवा राग में धर्म न माने और अकेली आत्मा की शान्ति का वेदन करे वह गुरू है। तथा वीतरागता धर्म है। कषाय मंदता वह शुद्धि है और उस शुद्धि से समकित होता है- ऐसा मानने वाला अज्ञानी है; क्योंकि वह राग की मंदता से धर्म मानता है इसलिये मिथ्यादृष्टि है। सबकी उपेक्षा करके अकेले आत्मा की अपेक्षा करना वह धर्म है। राग की उत्पत्ति न होना और शांति की उत्पत्ति होना वह अहिंसा है। इस प्रकार जैन धर्म में देव-गुरू-धर्मादि का स्वरूप केवल वीतरागता का ही पोषण करना है। व्यवहार करते-करते धर्म होगा ऐसा जैनधर्म नहीं है। सम्यग्दर्शन वीतराग स्वरूप है, सम्यग्ज्ञान वीतराग स्वरूप है और सम्यक्चारित्र भी वीतराग स्वरूप है। अकेले आत्मा की विकल्प रहित श्रद्धा-ज्ञान-रमणता करना वह जैनधर्म है। अपूर्ण दशा में राग आता है उसका ज्ञान कराते हैं; परन्तु वह राग जैनधर्म नहीं है। जैनधर्म अकेले वीतरागभाव का पोषण करता है। जैन धर्म में अकेले चिदानन्द स्वभावी अखण्ड आत्मा की प्रतीति और लीनता करने को कहा है। निमित्त और राग का ज्ञान कराया है; परन्तु उसका पोषण नहीं कराया। अप्रयोजनभूत कम-अधिक जाने उसका सवाल नहीं है; परन्तु प्रयोजनभूत को तो जानना चाहिये।

वीतरागी देव ही निस्पृह होकर बात कर सकता है। हम तेरे से भिन्न परद्रव्य हैं,तेरा द्रव्य हमारे पास नहीं, तेरा द्रव्य तेरे पास है। इस प्रकार वे प्रत्येक द्रव्य की स्वतन्त्रता का

वर्णन करते हैं। हम तुझे देंगे और हमारे पास से तू ले ऐसा तू पराधीन नहीं है। जबकि रागी देव और गुरू कहते है कि हमारी भक्ति से तेरा कल्याण होगा- इस प्रकार भक्ति में कषाय का पोषण किया है; परन्तु स्वभाव की सन्मुखता नही कराई है।

जिसने सभी आत्मा शक्ति अपेक्षा भगवान है ऐसा नहीं जाना वह अपनी दशा को अपनी ओर नहीं झुका सकता। जो रागी-द्वेषी हो वह अन्य को धर्म में अथवा मोक्ष मे निमित्त नहीं हो सकता। प्रत्येक आत्मा परिपूर्ण है। तू अपनी भूल से भटका है अपनी भूल को मिटा दे तो तू परिपूर्ण होगा- ऐसा वीतराग देव कहते हैं। जो देव ऐसा कहते हैं कि हमारी कृपा से तेरा कल्याण होगा तो वह मिथ्या है। जितना ज्ञान करना चाहे, जितना वीर्य प्रगट करना चाहे, जितनी स्थिरता प्रगट करना चाहे वह सब तेरे पास है। तेरे मे गुण भरे पड़े हैं; वर्तमान भूल है उसको तेरे स्वभाव के आश्रय से तोड़ और वीतरागता व आनन्द प्रगट कर-ऐसा कहने वाले देव सच्चे हैं।

कोई कहे कि तेरी ज्ञान और आनन्द दशा हमारे कारण है, तो इस मान्यता मे जब तक उस पर्याय को पर का संयोग नहीं होगा तब तक सभी पर्यायें लटकती रहेंगी; इसलिये यह बात खोटी है। पर्याय द्रव्य बिना नहीं होती- यह बात बराबर है। प्रत्येक परमाणु जड़ प्रभु है और आत्मा चेतन प्रभु है। जड़ परिपूर्ण जड़ेश्वर है; परन्तु वह अपनी अस्ति को नहीं जानता, उसे जानने वाला आत्मा है। आत्मा स्वयं ज्ञान और आनन्द से भरा हुआ प्रभु है उसकी श्रद्धा-ज्ञान करे तो वीतरागता प्रगट होती है । इस प्रकार जो कहे वह देव-शास्त्र-गुरू सच्चे हैं।

अन्यमतों ने चिदानन्द की शक्ति नहीं ठहराई, परन्तु प्रभु की कृपा से मुक्ति ठहराई है। इस कारण वह खोटी बात सच्ची नहीं है। इससे उन्होने विषय-कषाय का पोषण किया है।

जैन दर्शन मे प्रत्येक कथन का हेतु वीतरागता प्रगट कराने का है। 'परमात्मपुराण' में ऐसा वर्णन किया ह। कि आत्मा में अनन्त गुण हैं। ज्ञान, दर्शन, अस्तित्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, स्वच्छत्व, विभुत्व, प्रभुत्व इत्यादि शक्तियाँ है और उन गुणों की अपनी परिणति अपने में व्याप्य-व्यापकरूप से रहे, राग छोड़कर अपनी परिणति गुणों में एकाकार होवे उसे आनन्दरूप पुत्र जन्मता है।

आत्मा स्वयं राजा है। उसके गुण उसकी प्रजा है। अभव्य को ज्ञान की परिणति नहीं कही, क्योंकि आत्मा ज्ञान स्वरूप है उसकी वर्तमान पर्याय गुण को परणे वही ज्ञान

परिणति है। अभव्य को आत्मा का भान नहीं है। ज्ञान ज्ञानरूप से परिणमें और अभेद हो उसमें से आनन्द प्रगटता है, इसकी उसे खबर नहीं है। जैसे पुत्र जन्म के समय उत्साह लाकर प्रीतिभोज करता है वैसे ही यहाँ कहते हैं कि अनन्त गुणों की परिणति में एकाग्र होना वह होंश है। चारित्र गुण राग के साथ एकाकार हो वह उसका सच्चा स्वरूप नहीं है; चारित्रगुण रागरहित परिणति को परिणमें वह यथार्थ है। जैसे नर और नारी के अंग एकाकार होने पर पुत्र का जन्म होता है। वैसे ही प्रत्येक आत्मा शक्ति वाला है, इसलिये राजा हुआ, गुण पुरूष (नर) है उसकी वर्तमान परिणति नारी है। नर और नारी एकरूप हुए और पुत्र का जन्म हुआ-ऐसा दृष्टान्त दिया है; परन्तु उसमें वीतरागता का पोषण है। वर्तमान पर्याय गुण में एकाग्र हो वह धर्म है। रागके साथ एकाग्र होना वह ब्राह्मण का शुद्र के साथ परिणय करने जैसा है। अपनी अवस्था गुण की तरफ एकाग्र होवे- उसे उपादेय माने और पर की तरफ के राग को हेय माने ऐसा वीतराग का प्रयोजन है।

तथा वहीं नवरसों का वर्णन किया है-हास्यरस, करूणारस, अद्‌भुतरस आदि का वर्णन किया है। ज्ञान साकार है और दर्शन निराकार है। ज्ञान अनन्त पदार्थों को भेद पाड़कर जानता है और दर्शन अभेदपने देखता है। देखो, एक आत्मा मे ऐसी अद्‌भुतता! इस प्रकार अद्‌भुत रस का वर्णन किया है। इन दो गुणो मे ऐसी विचित्रता यह आत्मा का अद्‌भुतरस है। इस प्रकार प्रत्येक गुण मे अद्‌भुतरस है ऐसा परमात्मपुराण मे वर्णन किया है। दूसरे का पुराण शुरू करने की अपेक्षा तू अपना पुराण शुरू कर। तू पुराण पुरूष है उसकी बात है।

यहाँ कहते हैं कि अन्यमत मे जरा राग घटाने का कहा हो वहाँ जिसकी भक्ति करने को कहा है वह रागी पुरूष है।

जैनमत मे भगवान निर्दोष, संत निर्दोष, उनका कथन निर्दोष- इस प्रकार सब निर्दोष है। संतो को जरा राग बाकी है उसका ज्ञान कराया है। सर्वज्ञ वीतराग देव हैं वे कुछ देते नहीं। भगवान की नैवेद्य से पूजा करते है वह अशुभभाव मिटाने और अनाहारी पद पाने के लिये है, भगवान तो निस्पृह है। निर्दोष मुनि वीतरागी है। उनके आहार की वृत्ति निस्पृहपने होती है। आहार लिया है इसलिये श्रावक का काम कर देना चाहिये और कर्मकाण्ड करने पड़ेंगे-ऐसा अज्ञानी कहता है; परन्तु जैनमत मे ऐसा नहीं है। निर्ग्रन्थ गुरू निस्पृही होते हैं। तथा धर्म का स्वरूप भी वीतरागता है। मोक्ष होने के पश्चात् भगवान

वापस नहीं आते। जैसे बीज जल जाने पर फिर उगता नहीं है, वैसे ही अज्ञान राग-द्वेष टल जाने पर भगवान रागी नहीं होते हैं। अन्यमत वाले भगवान का अवतार मानते हैं, वे मोक्ष होने के पश्चात् भी उनको रागी ठहराते हैं- वह सत्य नहीं है। जैन मत में तो जहाँ हो वहाँ वीतरागता बताते हैं। पर्याय में चाहे जितने काल विकार किया होवे तो भी विकार ने स्वभाव का नुकसान नहीं किया- ऐसे स्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान-स्थिरता करे तो विकार का नाश हुए बिना रहे नहीं। इस प्रकार सर्वत्र वीतरागता की बात जैन कहते हैं- यह बात सर्वत्र प्रगट हैं। इसके समर्थन में अन्य मत के दृष्टान्त देते है।

भर्तृहरि ऐसा कहते हैं कि जैन वीतरागी है। शासन चलेगा या नहीं-यह देखने के लिये भगवान नहीं रुकते, कारण कि भगवान वीतरागी हैं। इस प्रकार जैन दर्शन में वीतरागता का पोषण है।

इसी ग्रन्थ में जैनमत का सच्चापना और प्राचीनपना अन्य मत के आधार से भी बतायेंगे।

अन्यमती भर्तृहरि ने भी वैराग्य प्रकरण में ऐसा कहा है कि रागी पुरूषों में एक महादेव शोभता है कि जिसने अपनी प्रियतमा को आधे शरीर में धारण कर रखा है। तथा वीतरागियों में जिनदेव शोभते हैं कि जिनके समान स्त्रियों का संग छोड़ने वाला अन्य कोई नहीं है। शेष सब लोग तो दुर्निवार कामदेव के बाणरूप सर्पों के विष से मूर्छित हुए हैं जो काम की विडम्बना से न तो विषयों को भलीभांति भोग सकते हैं और न छोड़ ही सकते हैं।

इस प्रकार वहाँ सरागियों में महादेव और वीतरागियों में जिनदेव को प्रधान कहा है।

राग से हित मानना वह सराग भाव है। एक द्रव्य से दूसरे द्रव्य को लाभ मानना वह सराग भाव है दोनो भले नहीं है। अशुद्धता और शुद्धता के प्रतिपक्षपना है। ज्ञान होना और राग होना-दो विरोधी भाव है। स्वभाव और विभाव में प्रतिपक्षीपना है- दोनो हितकारी नहीं है; परन्तु वीतरागभाव (स्वभाव) एक ही उपादेय (हितकारी) है जिसके निमित से तत्काल आकुलता घटकर आत्मा स्तुति योग्य होता है। राग-द्वेष के परिणाम हितकर नहीं,किन्तु स्वभाव हितकर है- ऐसा निर्णय करे तो शान्ति प्रगट होती है। शास्त्रों में अन्य चाहे जितनी बात की हो परन्तु एक स्वभाव की ही बात वीतराग ने की है। अशुद्ध परिणाम जितने घटें उतनी वर्तमान शान्ति है और उससे आगामी (काल में) भला होता है। राग की धारा से (वर्तमान और) भविष्य में शान्ति नहीं होती। राग होते ही तत्काल आकुलता

होती है। कैसा भी राग होवे तो भी वह निन्दनीक है।

एक वीतरागभाव हितकारी है, राग हितकारी नहीं। राग अथवा व्यवहार अपूर्ण दशा में आता हैं; परन्तु वह हितकारी नहीं है। राग रहित आत्मा की श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र जो वीतरागभाव है वह स्तुति करने योग्य है और उससे अपना भला होता है और अन्य द्वारा स्तुति करने योग्य होता है मिथ्या-भ्रान्ति और राग टलने से (जीव) वर्तमान में सुखी होता है और भविष्य में सुख होता है- ऐसा अन्यमत वाले भी कहते हैं।

दया, दानादि के भाव तत्काल आकुलता वाले हैं। रागभाव निंदनीक है। उस राग को हितकर मानना वह चारित्र का दोष नहीं, परन्तु मिथ्यात्व का दोष है। स्वभाव की अनाकुल दृष्टि-ज्ञान और रमणता वर्तमान में सुखरूप है और भविष्य में सुखरूप है तथा स्तुति करने योग्य है। तथा रागभाव वर्तमान में दुःखरूप है और भविष्य में दुःखरूप है तथा निंदनीक है। इसलिये जिसमें वीतराग भाव का ही प्रयोजन प्रगट किया है- ऐसा जैनमत ही इष्ट है; परन्तु जिनमें सराग भाव का प्रयोजन प्रगट किया है ऐसे अन्यमत इष्ट नहीं है। अतः दोनो को समान कैसे माने- इसप्रकारः-

1. विकारभाव मिटने से वर्तमान में शान्ति होती है,
2. भविष्य में भी शान्ति होती है,
3. लोक में पूज्य बनते है। और

1. रागवाला वर्तमान में दुःखी है,
2. भविष्य में दुःखी है,
3. उसकी लोक में निन्दा होती है।

सत्पुरूषों के प्रति होने वाला राग भी दुःखदायक है। ऐसा राग होवे तो ठीक, ऐसे निमित्त होवे तो ठीक-ऐसी रुचि दुःख का कारण है। राग की रूचि घटने पर स्वभाव की रूचि हो और अस्थिरता घटने पर स्वभाव में स्थिरता होती है। इसप्रकार जैनमत में एक वीतरागभाव का ही प्रयोजन है, इसलिये जैनमत इष्ट है।

जैनधर्म पाकर भी विकार की रूचि करे यह महान आश्चर्य है-जल में आग लगने के समान है। इसलिये वीतरागीभाव ही इष्ट है; परन्तु जिनमें सरागीभाव का प्रयोजन प्रगट किया है-ऐसे अन्यमत अनिष्ट हैं, अतः दोनो को समान कैसे माना जाये?

प्रश्न :- यह तो सच है, परन्तु अन्यमतों की निन्दा करने से अन्यमति दुःख पायेंगे

और दूसरों के साथ विरोध होगा इसलिये निन्दा किसलिये करते हो?

समाधान- हमारे अभिप्राय में हमारी प्रतिष्ठा और पूजा का भाव होवे और पर की निन्दा करने का भाव होवे अथवा अन्य को दुःख उत्पन्न कराने का भाव होवे तो हम पापी ही हैं। परन्तु वीतराग सिवाय अन्य मतों की श्रद्धा से जीवों का अतत्त्व श्रद्धान दृढ़ होता है और वे संसार में दुःखी होते हैं। इसलिये करूणाभाव द्वारा अन्य जीवों के हित के लिये यह बात करते हैं। यथार्थ मार्ग का जैसा है वैसा निरूपण करते हैं, अन्य को दुःख उत्पन्न कराने का हेतु नहीं है। हमको करूणा का विकल्प उठा है इस कारण सत्य बात करते हैं, फिर भी कोई दोष बिना दुःख पावे, विरोध उपजावे तो हम क्या करें?

जैसे शराब बेचने वाले की दुकान अच्छी चलती होवे तो शराब का निषेध करने से उसको दुःख होता है। खराब चारित्र की निन्दा करे, परस्त्री गमन अच्छा नहीं- ऐसा कहने से वैश्यादि को दुःख लगता है, उसमें हम क्या करें? सच्चे रूपये को बजाकर लेना, छाप देखकर लेना- इत्यादि प्रकार से खरे-खोटे की परीक्षा बताने से ठग दुःख पावे तो उसमें हम क्या करें?

इसी प्रकार पापियों के भय से धर्मोपदेश न दें तो जीवों को भला कैसे हो? हमको विकल्प उठा है और उपदेश न देवें तो जीवों का भला कैसे हो? बीड़ी के विरोध की बात चलती होवे तो बीड़ी पीने वाले को बुरा लगता है। ब्रह्मचर्य की बात चलती होवे तो कुशील वाले को दुःख लगता है। पापियों के भय से धर्मोपदेश न दें तो जीवो का भला कैसे हो? सबको अच्छा लगे ऐसा तो कोई उपदेश ही नहीं हैं।

अब सत्य कहने पर विरोध उपजता है- ऐसा कहते हो; परन्तु विरोध तो परस्पर में झगड़ा करने पर होता है, परन्तु हम लड़ेंगे नहीं। हमको तो हमारी करूणाबुद्धि का फल है। हम तो करूणाभाव द्वारा यथार्थ निरूपण करते हैं। हम दूसरे के साथ लड़ते नहीं हैं- इस कारण वे अपने आप ही शान्त हो जायेंगे। हमें तो अपने परिणाम का फल होगा।

प्रश्न:- प्रयोजनभूत जीवादि तत्त्वों की अयथार्थ श्रद्धा करने से मिथ्यादर्शन-मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र होता है, परन्तु अन्यमतों का श्रद्धान करने से मिथ्यादर्शन कैसे होता है।

उत्तर:- वीतराग देव सिवाय अन्यमत में विपरीत युक्ति कही है, नवतत्त्व सच्चे नहीं भासे वैसा उपाय किया है। क्योंकि यदि जीवादि तत्त्वों को यथार्थ बतावे तो वीतराग भाव होने पर ही महंतपना भासित हो। यह जीव है, यह अजीव है-दोनो स्वतन्त्र है।

पुण्य-पाप मलिन है, स्वभाव के आश्रय से मुक्ति होती है। मुक्ति पाने वाले को अवतार नहीं रहता। वह फिर जगत में नहीं आता- ऐसा यथार्थ कहे तो वीतरागता होने पर ही पूज्यपना आता है; परन्तु जो वीतरागी नहीं और महंतता चाहते हैं वे राग और मिथ्याभाव होने पर भी अपनी महंतता मनाने के लिये कल्पित युक्तियों द्वारा अन्यथा कहते हैं।

अद्वैत ब्रह्मवादी एक आत्मा कहकर जीव और अजीव पदार्थों को उड़ाते हैं। सबको एक मानते हैं, कुछ भी खाओ और भोगो-ऐसा कहते हैं। इस प्रकार जीव-अजीव की विपरीत मान्यतारूप प्ररूपणा करके भगवान की भक्ति कही वह स्वच्छन्द पोषण के लिये कही है। राग करते-करते धर्म होगा- ऐसा कहकर संवर-निर्जरा से विरुद्ध कहा है और भगवान मोक्ष जाने के बाद वापस अवतरित होते हैं अथवा वहाँ ज्ञान का अभाव हो जाता है- ऐसा मानते हैं, वह मोक्ष से विपरीत तत्व कहते हैं, (क्योकि) सरागभाव का पोषण करना हैं। मोक्ष पद प्राप्त जीव अवतार लेते हैं- ऐसा कहकर (उन्हे) सकषाय ठहराया और वहाँ ज्ञान नहीं होता- ऐसा कहकर मोक्ष प्राप्त जीवों को अचेतन ठहराया। इस प्रकार नव तत्वों के अयथार्थ श्रद्धान का पोषण करते हैं।

इस प्रकार अन्यमत का अयथार्थपना प्रगट किया है। यदि उनका अन्यथापना भासित होवे तो तत्व श्रद्धा में रूचिवान होवे और उनकी युक्तियों से भ्रम पैदा नहीं होवें।

इस प्रकार अन्यमतों का निरूपण किया।

जैन सम्प्रदाय में आकर कहे कि केवलज्ञान अभूतार्थ है इसलिये भगवान लोकालोक को नहीं जानते, तो यह बात खोटी है। भगवान लोकालोक को बराबर जानते हैं। लोकालोक सम्बन्धी का ज्ञान निश्चय है- ऐसा मानने पर अज्ञानी की मानी हुई सारे बातें झूठी ठहरती हैं।

कोई ऐसी दलील करे कि हमारे ज्ञान में ऐसा आया है कि तुम मीठालालजी हो, यदि ऐसा न होतो पलट जाओ अन्यथा हमारे ज्ञान में जैसा भासा वैसा तुम्हें रहना पड़ेगा?

समाधानः- तुम्हारा ज्ञान निश्चय है उसमें मेरा ज्ञेय निमित है, ज्ञेय के आधीन ज्ञान नहीं है और ज्ञान के आधीन ज्ञेय नहीं है। ज्ञान तो जैसी सच्ची वस्तु है वैसी उसे जानता है। वहाँ ज्ञान ज्ञान के कारण से है और ज्ञेय ज्ञेय के कारण से है- दोनो एक दूसरे के आधीन नहीं है। ज्ञान की यथार्थता ऐसी है कि जैसा ज्ञेय है वैसे ज्ञान जानता है। सर्वज्ञ ने देखा इसलिये लोक का परिणमन होता है- ऐसा नहीं। लोक सर्वज्ञ के आधीन नहीं हैं

और सर्वज्ञ का ज्ञान जैसे ज्ञेय हैं वैसे जानता है; परन्तु उस ज्ञेय के कारण ज्ञान नहीं है, ज्ञान के कारण ज्ञेय को परिणमना पड़ता है- ऐसा नहीं है।

'अन्यमतकेग्रन्थोद्धरणोंसे जैनधर्म की समीचीनता और प्राचीनता

अब अन्यमतों के शास्त्रोंकी ही साक्षी से जिनमतकी समीचनता व प्राचीनता प्रगट करते है :-

''बड़ा योगवासिष्ठ'' छत्तीस हजार श्लोक प्रमाण है, उसके प्रथम वैराग्य-प्रकरणमें अहंकारनिषेध अध्यायमें वसिष्ठ और रामके संवादमें ऐसा कहा है :-

रामोवाच-नाहं रामो न मे वांछा भावेषु च न में मनः।
शांतिमास्थातुमिच्छामि स्वात्मन्येव जिनो यथा।। 1 ।।

इसमें रामजीने जिन समान होनेकी इच्छा की, इसलिये रामजीसे जिनदेवका उत्तमपना प्रगट हुआ और प्राचीनतापना प्रगट हुआ ।

तथा ''दक्षिणामूर्ति-सहस्रनाम'' में कहा है :-

शिवोवाच-जैनमार्गरतो जैन जिन क्रोधो जितामयः।

यहाँ भगवत् का नाम जैनमार्गमें रत और जैन कहा, सो इसमें जैनमार्ग की प्रधानता व प्राचीनता प्रगट हुई ।

तथा ''वैशम्पायनसहस्रनाम'' में कहा है :-

कालनेमिर्महावीरः शूरः शौरिजिनेश्वरः।

यहाँ भगवान का नाम जिनेश्वर कहा, इसलिये जिनेश्वर भगवान हैं।

तथा दुर्वासा; ऋषिकृत ''महिम्निस्तोत्र'' में ऐसा कहा है :-

तत्त दर्शनमुख्यशक्तिरिति च त्वं ब्रह्मकर्मेश्वरी ।
कर्त्तार्हन् पुरूषो हरिश्च सविता बुद्धः शिवस्त्वं गुरूः।। 1 ।।

यहाँ-''अरहंत तुम हो'' इस प्रकार भगवंतकी स्तुति की, इसलिये अरहंतके भगवानपना प्रगट हुआ।

तथा ''हनुमन्नाटक'' में ऐसा कहा है :-

यं शैवाः समुपासते शिव इति ब्रह्मेति बेदान्तिनः
बौद्धा बुद्ध इति प्रमाणपटवः कर्त्तेति नैयायिकाः।
अर्हन्नित्यथ जैनशासनरतः कर्मेति मीमांसकाः।

सोऽयं वो विदधातु वांछितफलं त्रैलोक्यनाथः प्रभु।। 1 ।।

यहाँ छहों मतोंमें एक ईश्वर कहा वहाँ अरहन्तदेवके भी ईश्वरपना प्रगट किया।

यहाँ कोई कहे-जिस प्रकार यहाँ सर्व मतोंमें एक ईश्वर कहा, उसी प्रकार तुम भी मानो।

उससे कहते हैं-तुमने यह कहा है, हमने तो नहीं कहा; इसलिए तुम्हारे मतमें अरहन्तके ईश्वरपना सिद्ध हुआ। हमारे मतमें भी इसी प्रकार कहें तो हम भी शिवादिकको ईश्वर मानें। जैसे-कोई व्यापारी सच्चे रत्न दिखाये, कोई झूठे रत्न दिखाये; वहाँ झूठे रत्नोंवाला तो रत्नोंका समान मूल्य लेनेके अर्थ समान कहता है, सच्चे रत्नवाला कैसे समान माने? उसी प्रकार जैनी सच्चे देवादिका निरूपण करता है, अन्यमती झूठे निरूपित करता है; वहाँ अन्यमती अपनी समान महिमाके अर्थ सर्वको समान कहता है, परन्तु जैनी कैसे माने?

तथा "रूद्रयामलतंत्र" में भवानी सहस्रनाममें ऐसा कहा है :-

कुण्डासना जगद्धात्री बुद्धमाता जिनेश्वरी।
जिनमाता जिनेन्द्रा च शारदा हंसवाहिनी ।। 1 ।।

यहाँ भवानीके नाम जिनेश्वरी इत्यादि कहे, इसलिये जिनका उत्तमपना प्रगट किया।

तथा "गणेश पुराण" में ऐसा कहा है -"जैनं पशुपतं सांख्यं।

तथा "व्यासकृत सूत्र" में ऐसा कहा हैः-

जैना एकस्मिन्नेव वस्तुनि उभयं प्ररूपयन्ति स्याद्वादिनः।

इत्यादि उनके शास्त्रोंमें जैन निरूपण है, इसलिये जैनमतका प्राचीनपना भासित होता है।

तथा "भागवत" के पंचमस्कंधमें ऋषभावतारका वर्णन है। वहाँ उन्हें करूणामय तृष्णादि रहित, ध्यानमुद्राधारी, सर्वाश्रम द्वारा पूजित कहा है; उनके अनुसार अर्हत राजाने प्रवृत्ति की ऐसा कहते हैं । सो जिस प्रकार राम-कृष्णादि अवतारोंके अनुसार अन्यमत हैं, उसी प्रकार ऋषभावतारके अनुसार जैनमत है; इस प्रकार तुम्हारे मत ही द्वारा जैनमत प्रमाण हुआ।

यहाँ इतना विचार और करना चाहिये- कृष्णादि अवतारों के अनुसार विषय-कषायों की प्रवृत्ति होती है; ऋषभावतारके अनुसार वीतराग साम्यभावकी प्रवृत्ति होती है। यहाँ

दोनों प्रवृत्तियोंको समान माननेसे धर्म-अधर्मका विशेष नहीं रहेगा और विशेष माननेसे जो भली हो वह अंगीकार करना।

तथा "दशावतार चरित्र" में- "बद्धवापद्मासनं यो नयनयुगमिदं न्यस्य नासाग्रदेशे" इत्यादि बुद्धावतारका स्वरूप अरहंतदेव समान लिखा है; सो ऐसा स्वरूप पूज्य है तो अरहंतदेव पूज्य सहज ही हुए।

तथा "काशीखंड" में देवदास राजाको सम्बोधकर राज्य छुड़ाया; वहाँ नारायण तो विनयकीर्ति यति हुआ, लक्ष्मीको विनयश्री आर्यिका की; गरूड़को श्रावक किया- ऐसा कथन है। सो जहाँ सम्बोधन करना हुआ वहाँ जैनी भेष बनाया; इसलिए जैन हितकारी प्राचीन प्रतिभासित होते हैं।

तथा " प्रभास पुराण" में ऐसा कहा है :-

भवस्य पश्चिमे भागे वामनेन तपः कृतम् ।
तेनैव तपसाकृष्टः शिवः प्रत्यक्षतां गतः ।। 1 ।।
पद्मासनमासीनः श्याममूर्तिर्दिगम्बरः ।
नेमिनाथः शिवेत्येवं नाम चक्रेअस्य वामनः ।। 2 ।।
कलिकाले महाघोरे सर्व पापप्रणाशकः ।
दर्शनात्स्पर्शनादेव कोटियज्ञफलप्रदः ।। 3 ।।

यहाँ वामन को पद्मासन दिगम्बर नेमिनाथका दर्शन हुआ कहा है; उसीका नाम शिव कहा है। तथा उसके दर्शनादिकसे कोटियज्ञका फल कहा है सो ऐसा नेमिनाथका स्वरूप तो जैनी प्रत्यक्ष मानते हैं; सो प्रमाण ठहरा।

तथा "प्रभास पुराण " में कहा है :-

रैवताद्रौ जिनो नेमिर्युगादिर्विमलाचले।
ऋषीणामाश्रमादेव मुक्तिमार्गस्य कारणम्।। 1 ।।

यहाँ नेमिनाथको जिनसंज्ञा कही, उनके स्थानको ऋषिका आश्रम मुक्तिका कारण कहा और युगादिके स्थानको भी ऐसा ही कहा; इसलिये उत्तम पूज्य ठहरे ।

तथा "नगर पुराण" में भवावतार रहस्यमें ऐसा कहा है :-

अकारादिहकारन्तमूर्द्धाधोरेफसंयुतम् ।
नादविन्दुकलाक्रान्तं चन्द्रमण्डलसिन्नभम्।। 1 ।।

एतद्देवि परं तत्त्वं यो विजनातितत्त्वतः।
संसारबन्धनं छित्वा स गच्छेत्परमां गतिम्।। 2 ।।

यहाँ 'अर्हं' ऐसे पदको परमतत्त्व कहा है । उसके जाननेसे परमगतिकी प्राप्ति कही; सो 'अर्हं' पद जैनमत उक्त है ।

तथा "नगर पुराण" में कहा है :-

दशभिर्भोजितैर्विप्रै यत्फलं जायते कृते।
मुनरर्हत्सुभक्तस्य तत्फलं जायते कलौ।। 1 ।।

यहाँ कृतयुगमें दस ब्राह्मणोंको भोजन करानेका जितना फल कहा, उतना फल कलियुगमें अर्हंतभक्तमुनिको भोजन करानेका कहा है; इसलिये जैनमुनि उत्तम ठहरे ।

तथा "मनुस्मृति" में कहा है :-

कुलादितीजं सर्वेषां प्रथमो विमलवाहनः।
चक्षुष्मान् यशस्वी वाभिचन्द्रोअथ प्रसेनजित् ।। 1 ।।
मरूदेवी च नाभिश्च भरते कुल सत्तमाः ।
अष्टमो मरूदेव्यां तु नाभेजति उरक्रम ।। 2 ।।
दर्शयन् वर्त्म वीराणां सुरासुरनमस्कृतः।
नीतित्रितयकर्त्ता यो युगादौ प्रथमौ जिनः ।। 3 ।।

यहाँ विकलवाहनादिक मनु कहे, सो जैनमें कुलकरोंके नाम कहे हैं और यहाँ प्रथमजिन युग के आदिमें मार्गका दर्शक तथा सुरासुर द्वारा पूजित कहा; सो इसी प्रकार है तो जैनमत युगके आदिहीसे है, और प्रमाणभूत कैसे न कहें ?

तथा ऋग्वेदमें ऐसा कहा है :-

ओऽम् त्रैलोक्य प्रतिष्ठिान् चतुर्विंशतितीर्थंकरान् ऋषभाद्यान् वर्द्धमानान्तान् सिद्धान् शरणं प्रपद्ये। ओऽम पवित्र नग्नमुपविस्पृसामहे एषां नग्नं येषां जातं येषां वीरं सुवीर ....इत्यादि।

तथा यजुर्वेद ऐसा कहा है :-

ओऽम् नमो अर्हतो ऋषभाय।

तथा ऐसा कहा है :-

ओऽम ऋषभपवित्रं पुरूहूतमध्वज्ञं यज्ञेषु नग्नं परमं माहसंस्तुतं वरं शत्रुं

जयंतं पशुरिद्र-माहतिरिति स्वाहा। ओऽम् त्रातारमिंद्रं ऋषभं वदन्ति। अमृतारमिंद्रं हवे सुगतं सुपार्श्वमिंद्रं हवे शक्रमर्जितं तद्वर्द्धमानपुरूहूतमिंद्रंमाहरिति स्वाहा। ओऽम् नग्नं सधीरं दिग्वाससं ब्रह्मगर्भ सनातनं उपैमि वीरं पुरूषर्हंतमादित्यवर्ण तमसः परस्तात स्वाहा। ओऽम् स्वस्तिन इन्द्रो वृद्धश्रवा स्वस्तिनः पूषा विश्वदेदाः स्वस्तिनस्ताक्ष्यों अरिष्टनेमि स्वस्तिनो वृहसपतिर्दधातु। दीर्घायुस्त्वायुवलायुर्वा शुभाजातायु। ओऽम रक्ष रक्ष अरिष्टनेमिः स्वाहा। वामदेव शान्त्यर्थ- मनुविधीयते सोऽस्माकं अरिष्टनेमिः स्वाहा।

सो यहाँ जैन तीर्थंकरोंके जो नाम हैं उनके पूजनादि कहे। तथा यहाँ यह भासित हुआ कि- इनके पीछे वेदरचना हुई ।

इस प्रकार अन्यमतके ग्रन्थोंकी साक्षीसे भी जिनमतकी उत्तमता और प्राचीनता दृढ़ हुई। तथा जिनमतको देखनेसे वे मत कल्पित ही भासित होते हैं; इसलिये जो अपने हितका इच्छुक हो वह पक्षपात छोड़कर सच्चे जैनधर्मको अंगीकार करो ।

तथा अन्यमतोंमें पूर्वापर विरोध भासित होता है। पहले अवतारमें वेदका उद्धार किया, वहाँ यज्ञादिकमें हिंसादिका पोषण किया और बुद्धावतारमें यज्ञके निंदक होकर हिंसादिकका निषेध किया। वृषभावतारमें वीतराग संयमका मार्ग दिखाया और कृष्णावतारमें परस्त्री रमणादि विषयकषायादिकका मार्ग दिखाया। अब यह संसारी किसका कहा करे? किसके अनुसार प्रवर्ते? और इन सब अवतारोंको एक बतलाते हैं, परन्तु एक भी कदाचित् किसी प्रकार कदाचित् किसी प्रकार कहते हैं व प्रवर्त्तते हैं; तो इसे उनके कहनेकी वह प्रवर्त्तनेकी प्रतीति कैसे आये?

तथा कहीं क्रोधादिकषायोंका व विषयोंका निषेध करते हैं, कहीं लड़नेका व विषयादि सेवनका उपदेश देते हैं; वहाँ प्रारब्ध बतलाते हैं। सो बिना क्रोधादि हुए अपने आप लड़ना आदि कार्य हों तो यह भी मानें परन्तु वह तो होते नहीं हैं। तथा लड़ना आदि कार्य करने पर भी क्रोधादि हुए न मानें, तो अलग क्रोधादि कौन हैं जिनका निषेध किया? इसलिये ऐसा नहीं बनता, पूर्वापर विरोध है। गीतामें वीतरागता बतलाकर लड़नेका उपदेश दिया, सो यह प्रत्यक्ष विरोध भासित होता है। तथा ऋषीश्वरादिकों द्वारा श्राप दिया बतलाते हैं; सो ऐसा क्रोध करने पर निंद्यपना कैसे नहीं हुआ? इत्यादि जानना।

तथा ' अपुत्रस्य गतिर्नास्ति' ऐसा भी कहते हैं और 'भारत' में ऐसा भी कहा है :-

अनेकानि सहस्राणि कुमार ब्रह्मचारिणाम्।
दिवं गतानि राजेन्द्र अकृत्वा कुलसन्ततिम्।। 1 ।।

यहाँ कुमार ब्रह्मचारियोंको स्वर्ग गये बतलाया; सो यह परस्पर विरोध है ।

तथा "ऋषीश्वरभारत" में ऐसा कहा है :-

मद्यमांसाशनं रात्रौ भोजन कन्दभक्षणम्।
ये कुर्वन्तिवृथास्तेषां तीर्थयात्रां जापस्तपः।। 1 ।।
वृथा एकादशी प्राक्ता वृथा जागरणं हरे।
वृथा च पौष्करी यात्रा कृत्स्नं चान्द्रायणं वृथा।। 2 ।।
चातुर्मास्ये तु सम्प्राप्ते रात्रिभोज्यं करोति यः।
तस्य शुद्धिर्न विद्येत् चान्द्रायणशतैरपि।। 3 ।।

इसमें मद्य-मांसादिकका व रात्रिभोजन व चौमासेमें विशेषरूपसे रात्रिभोजनका व कन्दफल-भक्षणका निषेध किया; तथा बड़े पुरूषोंको मद्य-मांसादिका सेवन करना कहते हैं, व्रतादिमें रात्रिभोजन व कन्दादि भक्षण स्थापित करते हैं; इस प्रकार विरूद्ध निरूपण करते हैं।

इसी प्रकार अनेक पूर्वापर विरूद्ध वचन अन्यमतके शास्त्रोंमें हैं सो क्या किया जाये? कहीं तो पूर्व परम्परा जानकर विश्वास करानेके अर्थ यथार्थ कहा और कहीं विषय-कषाय का पोषण करनेके अर्थ अन्यथा कहा; सो जहाँ पूर्वापर विरोध हो उनके वचन प्रमाण कैसे करें?

अनयमतोंमें जो क्षमा, शील, सन्तोषादिकका पोषण करनेवाले वचन हैं वे तो जैनमत में पाये जाते हैं, और विपरीत वचन हैं वे उनके कल्पित हैं। जिनमतानुसार वचनोंके विश्वाससे उनके विपरीत वचनके भी श्रद्धानादिक होजाते हैं, इसलिये अन्यमतका कोई अंग भला देखकर भी वहाँ श्रद्धानादिक नहीं करना। जिस प्रकार विषमिश्रित भोजन हितकारी नहीं है, उसी प्रकार जानना।

तथा यदि कोई उत्तमधर्मका अंग जिनमतमें न पाया जाये और अन्यमतमें पाया जाये, अथवा किसी निषिद्ध धर्मका अंग जिनमतमें पाया जाये और अन्यत्र न पाया जाये तो अन्यमतका आदर करो; परन्तु ऐसा सर्वथा होता ही नहीं; क्योंकि सर्वज्ञके ज्ञानमें कुछ छिपा नहीं है। इसलिये अन्यमतोंके श्रद्धानादिक छोड़कर जिनमतके दृढ़ श्रद्धानादिक करना।

श्वेताम्बरमत विचार

.......तथा कालदोषसे कषायी जीवों द्वारा जिनमतमें भी कल्पित रचना की है। सो बतलाते हैं:-

श्वेताम्बर मतवाले किसीने सूत्र बनाये उन्हें गणधरके बनाये कहते हैं। सो उनसे पूछते हैं- गणधरने आचारांगादिक बनाये हैं सो तुम्हारे वर्त्तमानमें पाये जाते हैं इतने प्रमाणसहित बनाये थे या बहुत प्रमाणसहित बनाये थे? यदि इतने प्रमाणसहित ही बनाये थे तो तुम्हारे शास्त्रोंमें आचारांगादिकके पदोंका प्रमाण अठारह हजार आदि कहा है, सो उनकी विधि मिला दो।

पदका प्रमाण क्या? यदि विभक्तिके अंतको पद कहोगे तो कहे हुए प्रमाणसे बहुत पद हो जायेंगे, और यदि प्रमाण पद कहोगे तो उस एक पदके साधिक (किंचित् अधिक) इक्यावन करोड़ श्लोक हैं। सो यह तो बहुत छोटे शास्त्र हैं, इसलिए बनता नहीं हैं। तथा आचारांगादिकसे दशवैकालिकादिका प्रमाण कम कहा है, और तुम्हारे अधिक है, सो किस प्रकार बनता है?

फिर कहोगे-"आचारांगादिक बड़े थे; कालदोष जानकर उन्हींमेंसे कितने ही सूत्र निकालकर यह शास्त्र बनाये हैं।" तब प्रथम तो टूटक ग्रन्थ प्रमाण नहीं है। तथा ऐसा नियम है कि-बड़ा ग्रन्थ बनाये तो उसमें सर्व वर्णन विस्तार सहित करते हैं और छोटा ग्रन्थ बनाये तो वहाँ संक्षिप्त वर्णन करते हैं, परन्तु सम्बन्ध टूटता नहीं है और किसी बड़े ग्रन्थमेंसे थोड़ासा कथन निकाल लें तो वहाँ सम्बन्ध नहीं मिलेगा- कथन का अनुक्रम टूट जायेगा; परन्तु तुम्हारे सूत्रों में तो कथादिक का भी सम्बन्ध मिलता भासित होता है- टूटकपना भासित नहीं होता।

तथा अन्य कवियोंसे गणधर की बुद्धि तो अधिक होगी, उनके बनाये ग्रन्थोंमें थोड़े शब्दोंमें बहुत अर्थ होना चाहिये; परन्तु अन्य कवियों जैसी भी गम्भीरता नहीं है।

तथा जो ग्रन्थ बनाये वह अपना नाम ऐसा नहीं रखता कि- "अमुक कहता है," "मैं कहता हूँ" ऐसा कहता है; परन्तु तुम्हारे सूत्रों में

"हे गौतम!" व "गौतम कहते हैं" ऐसे वचन हैं। परन्तु ऐसे वचन तो तभी सम्भव हैं जब और कोई कर्त्ता हो। इसलिये यह सूत्र गणधरकृत नहीं हैं, औरके बनाये गये हैं। गणधर के नामसे कल्पित-रचनाको प्रमाण कराना चाहते हैं; परन्तु विवेकी तो परीक्षा करके मानते हैं, कहा ही तो नहीं मानते।

तथा वे ऐसा भी कहते हैं कि- गणधर सूत्रोंके अनुसार कोई दशपूर्वधारी हुए हैं, उन्होंने यह सूत्र बनाये हैं। वहाँ पूछते हैं कि -यदि नये ग्रन्थ बनाये हैं तो नया नाम रखना था, अंगादिकके नाम किसलिये रखे? जैसे- कोई बड़े साहूकारकी कोठीके नामसे अपना साहूकारा प्रगट करे-ऐसा यह कार्य हुआ। सच्चेको तो जिस प्रकार दिगम्बरमें ग्रन्थोंके और नाम रखे तथा अनुसारी पूर्व ग्रन्थोंका कहा; उसी प्रकार कहना योग्य था। अंगादिकके नाम रखकर गणधरकृतका भ्रम किसलिये उत्पन्न किया? इसलिये गणधरके, पूर्वधारीके वचन नहीं हैं। तथा इन सूत्रोंमें विश्वास करने के अर्थ जो जिनमत अनुसार कथन है वह तो सत्य है ही; दिगम्बर भी उसी प्रकार कहते हैं।

तथा जो कल्पित रचना की है, उसमें पूर्वापर विरूद्धपना व प्रत्यक्षादि प्रमाण में विरूद्धपना भासित होता है वही बतलाते हैं......।

श्री भगवान महावीर के पश्चात् छह सौ वर्ष तक तो दिगम्बर जैनधर्म एक ही था। फिर दुष्काल पड़ा तब कुछ मुनियों ने शिथिल होकर कल्पित शास्त्र बनाये। भगवान के पश्चात् छह सौ तीन के साल में श्वेताम्बर मूर्तिपूजक हुए और तत्पश्चात् पन्द्रह सौ तीस में उनमें से स्थानकवासी सम्प्रदाय निकाला। वे सब गृहीत मिथ्यादृष्टि हैं और उनके मानने वाले भी समकिती नहीं है, बल्कि गृहीत और अगृहीत-दोनो प्रकार के मिथ्यात्व वाले है।

जैनमत में भी कालदोष से कषायी जीवों ने अर्थात् मिथ्यादृष्टि जीवों ने कल्पित शास्त्रों की रचना की है- वह यहाँ कहते है:-

यह अधिकार तो शान्ति से मध्यस्थपने सुनने योग्य है।

श्वेताम्बरमत वाले किसी ने सूत्र बनाये, श्वेताम्बरमत वाले कहते हैं कि ये शास्त्र

गणधर द्वारा रचित हैं, तो हम उनसे पूछते हैं कि- ये वर्तमान में जो शास्त्र हैं उतने प्रमाण में ही गणधर ने बनाये हो तो आचारांग के अठारह हजार आदि पद कहे हैं उनका वर्तमान शास्त्रों से मेल मिला दो; परन्तु इतने श्लोक अथवा पद तो मिलते नहीं हैं। इसलिये ये शास्त्र गणधर द्वारा रचित न होकर किसी के द्वारा कल्पित रचे हुए हैं।

तुम कहोगे कि आचारांगादिक तो बड़े थे, परन्तु कालदोष जानकर कितने ही सूत्र निकालकर ये शास्त्र बनाये हैं। सो ऐसा कहना भी यथार्थ नहीं है; क्योंकि टूटक (खण्डित) ग्रन्थ प्रमाण नहीं है। तथा ऐसा नियम है कि बड़ा ग्रन्थ बनावे तो सब वर्णन विस्तार पूर्वक करे और यदि छोटा ग्रन्थ बनावे तो संक्षेप वर्णन करे; परन्तु सम्बन्ध नहीं टूटना चाहिये। तथा यदि बड़े ग्रन्थ में से थोड़ा बहुत निकाल दिया होवे तो सम्बन्ध मिलता नहीं है और कथन का क्रम टूट जाता है। परन्तु तुम्हारे सूत्रों में कथादिक का भी सम्बन्ध मिलता आता है और टूटकपना भासित नहीं होता। तथा इन ग्रन्थों में अन्य कवियों जैसी भी गम्भीरता नहीं दिखती । गणधरादि द्वारा रचित ग्रन्थ हैं तो इनमे बहुत गम्भीरता होनी चाहिये और थोड़े शब्दों में बहुत अर्थ आ जाना चाहिये; परन्तु ऐसा तो दिखता नहीं; इसलिये यह ग्रन्थ कल्पित समझना ।

तथा जो ग्रन्थ बनाते हैं वह अपना नाम इसप्रकार तो नहीं धरते कि "अमुक कहता है", परन्तु "मैं कहता हूँ" ऐसा कहे; अब तुम्हारे शास्त्रों में "हे गौत्तम" अथवा "गौत्तम कहता है"- ऐसा वचन है; परन्तु यह तो यदि अन्य किसी ने किये हों तो ऐसा कहा जाये। इसलिये ये सूत्र गणधर कृत नहीं है, बल्कि अन्य द्वारा रचित है। इसप्रकार गणधर के नाम से कल्पितता को सच्चा करना चाहते हैं, परन्तु विवेकी तो परीक्षा करेगा, ऐसे-वैसे नहीं मान लेगा।

तथा वे कहते हैं कि- किसी दस पूर्वधारी ने यह सूत्र बनाये हैं, उन्होंने गणधर आदि अनुसार शास्त्र रचे हैं, तो यह बात भी कल्पित है। यदि उन्होंने रचे हैं तो अंगादिक का नाम नहीं देना था। यह तो जैसे कोई साहूकार के नाम से हुण्डी लिखे उस जैसा हुआ। सच्चा तो तब कहलाये कि जैसे दिगम्बर आचार्यों ने शास्त्र रचे वे अंगादि अनुसार नहीं रचे हैं, उन सब में ग्रन्थकर्त्ता का नाम सब आचार्यों ने अपना अलग-अलग रखा, किसी शास्त्र का नाम अंगादिक का नहीं रखा और ग्रन्थों का नाम भी अलग-अलग रखा। तथा इसीप्रकार गणधरदेव द्वारा रचित है-ऐसा भी नहीं कहा। इसलिये इसप्रकार अंगादिक का

नाम देने से तो लोग भ्रम में पड़ जाते है-ऐसा करना योग्य नहीं है। इसलिये निश्चित होता हैं कि ये गणधरदेव अथवा पूर्वधारी के वचन नहीं है। सत्य जिस प्रकार हैं उसी प्रकार सत्य को समझना चहिये।

तथा इन सूत्रों में विश्वास दिलाने के लिये जो जिनमतानुसार कथन है वह तो सत्य है और दिगम्बर भी ऐसा ही कहते हैं। परन्तु जो कल्पित रचना की है उसमें तो पूर्वापर विरुद्धता आती है और वह प्रत्यक्ष प्रमाण से भी विरूद्ध लगता है। वह अब यहाँ कहते हैं-

अन्यलिंग से मुक्ति का निषेध

.....अन्यलिंगीके व गृहस्थके व स्त्रीके व चाण्डालादि शूद्रों के साक्षात् मुक्तिकी प्राप्ति होना मानते हैं, सो बनता नहीं है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रकी एकता मोक्षमा़र्ग है; परन्तु वे सम्यग्दर्शनका स्वरूप तो ऐसा कहते है :-

अरहन्तो महादेवो जावज्जीवं सुसाहणो गुरूणो।
जिणपण्णत्तं तत्तं ए सम्मतं मए गहियं।। 1 ।।

सो अन्यलिंगीके अरहन्तदेव, साधु-गुरू जिनप्रणीततत्त्वका मानना किस प्रकार सम्भव है? जब सम्यक्त्व भी न होगा तो मोक्ष कैसे होगा?

यदि कहोगे- अंतरङ्गमें श्रद्धान होनेसे उनके सम्यक्त्व होता है; सो विपरीत लिंग धारककी प्रशंसादिक करने पर भी सम्यक्त्व को अतिचार कहा है, तो सच्चा श्रद्धान होनेके पश्चात् आप विपरीत लिंगका धारक कैसे रहेगा? श्रद्धान होने के पश्चात् महाव्रतादि अंगीकार करने पर सम्यक्चरित्र होता है, वह अन्यलिंगमें किसप्रकार बनेगा? यदि अन्य लिंग में भी सम्यक्चारित्र होता है तो जैनलिंग अन्यलिंग समान हुआ, इसलिए अन्यलिंकीको मोक्ष कहना मिथ्या है..... ।

तथा श्वेताम्बरमत में अन्यलिंगी को-गृहस्थ कौ, स्त्री को और चाण्डालादिक को साक्षात मोक्ष की प्राप्ति होना मानतें हैं; परन्तु यह बात खोटी है, क्योंकि साक्षात् मोक्ष की प्राप्ति तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की प्राप्ति होने पर ही होती हैं; परन्तु इन तीनों की एकता अन्यलिंगी आदि को नहीं होती। इसलियें उनको साक्षात मोक्ष नहीं होता। यहाँ "साक्षात्" शब्द पर वज़न है। तथा अन्यमती को तो सम्यक्त्व भी नहीं होता, क्योंकि उन्हें अरहन्त देव-निर्ग्रन्थगुरू तथा जिनप्रणीत सच्चे धर्म की मान्यता नहीं होती। इस कारण

अन्यमती को साक्षात् मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती।

कोई ऐसा कहे कि इन्हें अन्तरंग श्रद्धा है इसलिये सम्यक्त्व होता है, तो यह बात भी यथार्थ नहीं हैं; क्योकि शास्त्र में तो अन्यलिंगी बाबा आदि की प्रशंसा करने पर भी सम्यक्त्व में अतिचार लगता है-ऐसा कहा है। तो फिर जिसको सच्ची श्रद्धा हुई है उसको विपरीत लिंग किस प्रकार होगा? तात्पर्य यह है कि अन्यलिंगी को सम्यक्त्व नहीं होता और जिसको सम्यक्त्व नहीं है उसको सच्चा चारित्र तो हीता ही नहीं । तथा पंचमहाव्रत धारण किये बिना भी चारित्र नहीं होता। मात्र श्रद्धान से ही सम्यक्चारित्र नही होता। तथा यदि अन्यलिंग में सम्यक्चारित्र होवे तो जैनलिंग और अन्यलिंग में कुछ अन्तर नही रहेगा। इस कारण अन्यलिंग से मोक्ष हो-ऐसा कहना योग्य नहीं है। और जो अन्यमती को (अन्यलिंगी को) मोक्ष होना कहते हैं वे शास्त्र भी कल्पित हैं-ऐसा समझना।

गोम्मटसार में कथन है कि-किसी अनादि मिथ्यादृष्टि जीव के उपशम सम्यक्त्व प्राप्त होकर मुनिपना आता है, वह किसको? (जिसको) पहले बाह्य में नग्न दिगम्बर दशा हुई हो वह जीव उपशम सम्यक्त्व प्राप्त करके मुनिपना पाता है- ऐसी बात वहाँ की है। अतः जिनलिंग धारण किये बिना अथवा महाव्रत अंगीकार किये बिना सम्यक्चारित्र नहीं होता।

कोई कहे कि-वस्त्र सहित सातवाँ गुणस्थान आ जाता है। तो यह बात मिथ्या है; क्योंकि वस्त्र छोड़ने का राग पंचम गुणस्थानवर्ती के होता है। नग्न दिगम्बर दशा बिना मुनिपना नहीं आता। बाह्य लिंग धारण करे इसलिये मुनिपना आता है-यह वहाँ कहना नहीं है; परन्तु जिसको सातवाँ गुणस्थान आना है उसको जिनलिंग होता ही है-ऐसा नियम है। तथापि जिनलिंग से मुनिपना नहीं आता। नग्नदशा मे मुनिपना नहीं है; परन्तु अकषाय दशा वाले मुनि को नग्नदशा होनी चाहिये।

मन-वचन-काया से और कृत-कारित-अनुमोदन से-ऐसे नवकोटि से परिग्रह आदि का त्याग होना चाहियें। इस प्रकार जिनलिंग और पंच महाव्रत बिना मुनिपना नहीं हो सकता। तथापि अन्यमत में अथवा अन्य वेष में मुनिपना मानना-वह गृहीत मिथ्यादर्शन हैं।

अब गृहस्थ लिंग से भी साक्षात् मोक्ष नहीं होता- यह कहते हैं।

गृहस्थमुक्ति निषेध

......तथा गृहस्थ को मोक्ष कहते हैं; सो हिंसादिक सर्व सावद्ययोगका त्याग करने पर सम्यक्चारित्र होता है, तब सर्व सावद्ययोगका त्याग करने पर गृहस्थपना कैसे सम्भव है ? यदि कहोगे-अंतरंग त्याग हुआ है, तो यहाँ तो तीनों योग द्वारा त्याग करते हैं, तो काय द्वारा त्याग कैसे हुआ ? तथा बाह्य परिग्रहादिक रखने पर भी महाव्रत होते हैं; सो महाव्रतोंमें तो बाह्य त्याग करनेकी ही प्रतिज्ञा करते हैं, त्याग किये बिना महाव्रत नहीं होते। महाव्रत बिना छट्टा आदि गुणस्थान नहीं होता; तो फिर मोक्ष कैसे होगा ? इसलिए गृहस्थको मोक्ष कहना मिथ्यावचन है......।

श्वेताम्बर में गृहस्थ को मोक्ष कहते हैं; परन्तु चारित्र बिना मोक्ष नहीं होता। और चारित्र तो सर्व हिंसादि सावद्ययोग का त्याग होने पर होता है और गृहस्थ के तो उनका सर्व त्याग होता नहीं। वे भरतचक्रवर्ती को गृहस्थदशा में कांचभवन में केवलज्ञान हुआ कहते हैं; परन्तु ये सब बातें कल्पित हैं। मरूदेवी को हाथी के ओहदे पर केवलज्ञान हुआ कहते हैं; परन्तु चारित्र बिना किसी का मोक्ष होता ही नहीं। यहाँ कहोगें कि अन्तरंग में त्याग हुआ है, तो यह बात भी यथार्थ नहीं हैं; क्योकि मन-वचन-काया, करना, कराना और करते हुए को अनुमोदन करना नहीं-ऐसे नौ-नौ कोटि से सर्व सावद्ययोग का प्रत्याख्यान होता है। तो गृहस्थ को काया से त्याग किस प्रकार हुआ ? बाह्य परिग्रह रखने पर महाव्रत नहीं होते, क्योंकि महाव्रतों में तो बाहर का त्याग कहा है। अब महाव्रतों के बिना छठवाँ आदि गुणस्थान भी नहीं होता, तो फिर मोक्ष तो कहाँ से होगा ? इसलिये गृहस्थ लिंग से मोक्ष कहना मिथ्या बात है।

कोई प्रश्न करे कि इन लिंगो की माथाकूट को जाने दो हमें तो आत्मा का अनुभव करने दो ?

समाधानः- भाई! यह माथाकूट नहीं है। मुनिदशा के समय बाह्यलिंग कैसा होता है-यह जानना चाहिये। बाह्यलिंग वह मुनिपना नहीं हैं,परन्तु मुनिपनें के समय बाह्य नग्नलिंग होता है। इसलिये अन्य लिंग की बात सच्ची नहीं हैं।

स्त्री मुक्तिका निषेध

........तथा स्त्रीको मोक्ष कहते हैं; सो जिससे सप्तम नरक गमनयोग्य पाप न हो सके, उससे मोक्ष का कारण शुद्धभाव कैसे होगा? क्योंकि जिसके भाव दृढ़ हों, वहीं उत्कृष्ट पाप व धर्म उत्पन्न कर सकता है। तथा स्त्रीके निःशंक एकान्तमें ध्यान धरना और सर्व परिग्रहादिकका त्याग करना सम्भव नहीं है।

यदि कहोगे- एक समयमें पुरूषवेदी व स्त्रीवेदी व नपुंसकवेदीको सिद्धि होना सिद्धान्तमें कही है, इसलिये स्त्रीको मोक्ष मानते हैं। परन्तु यहाँ वह भाववेदी है या द्रव्यवेदी है? यदि भाववेदी है तो हम मानते ही हैं; तथा द्रव्यवेदी है तो पुरूष-स्त्रीवेदी तो लोकमें प्रचुर दिखायी देते हैं, और नपुंसक तो कोई विरले दिखते हैं; तो एक समयमें मोक्ष जाने वाले इतने नपुंसक कैसे सम्भव हैं? इसलिये द्रव्यवेदीकी अपेक्षा कथन नहीं बनता।

तथा यदि कहोगे- नववें गुणस्थान तक वेद कहे हैं; सो भी भाववेदकी अपेक्षा ही कथन है। द्रव्यवेदकी अपेक्षा हो तो चौदहवें गुणस्थानपर्यन्त वेदका सद्भाव कहना सम्भव हो।

इसलिये स्त्रीको मोक्षका कहना मिथ्या है.......।

तथा वे स्त्रीलिंग से मोक्ष कहते हैं। यह बात भी खोटी है क्योंकि :-

1. जिसके भाव दृढ़ हो वही उत्कृष्ट पाप अथवा उत्कृष्ट धर्म उत्पन्न कर सकता है; परन्तु स्त्री कै ऐसे दृढ़ भाव नही होते। और
2. स्त्री को एकान्त में निशंकध्यान धरना तथा सर्व परिग्रह आदि का त्याग करना संभवित नहीं हैं। अर्थात् नग्नदशा संभव नहीं है। इसलिये भी उसको मोक्ष नहीं होता।

तुम कहोगे कि एकसमय में एक सौ आठ पुरूष,बीस स्त्री और दस नपुंसक वेद वाले मोक्ष जाते हैं-ऐसा तो शास्त्र में कहा है, इसलिये हम स्त्री को मोक्ष होना कहते हैं? तो यह बात भी यथार्थ नहीं है, क्योंकि वहाँ द्रव्यवेद की बात नहीं; परन्तु भाववेद की बात है। द्रव्यवेद तो पुरूष का ही होता है; परन्तु उसे स्त्री अथवा नपुंसक भाववेद का उदय होता है और उसे वह तोड़ देता है-ऐसे जीव को मोक्ष होता हैं।

अढ़ाईद्वीप में स्त्री-पुरूष तो बहुत दिखते हैं; परन्तु नपुंसक की संख्या बहुत थोड़ी है। यदि एक समय में दस नपुंसक द्रव्यवेदी मोक्ष जाते हों तो नपुंसकों की संख्या बहुत होना चाहिये और उनमें भी सम्यक्त्वी बहुत होने चाहिये। तथा उनमें भी चारित्र धारण करने वाले बहुत होवे तभी दस नपुंसक मोक्ष जाये; परन्तु इतनी संख्या तो नहीं है। इसलिये वहाँ द्रव्यवेद की बात नहीं, बल्कि भाववेद की बात है- ऐसा समझना ।

नौवें गुणस्थान तक वेद का उदय कहा है वह भी भाववेद की अपेक्षा कहा है- ऐसा समझना। यदि द्रव्यवेद की अपेक्षा से बात हो तो चौदहवें गुणस्थान तक द्रव्यवेद का उदय रहता है। इसलिये द्रव्य स्त्रीवेद से मोक्ष मानना ठीक नहीं है। द्रव्यवेदी स्त्री और नपुंसक को चारित्र संभवित नहीं है तो फिर उनका मोक्ष कहाँ से हो?

पण्डितजी ने यथार्थ न्याय से बात डाली है; परन्तु मध्यस्थ होकर भलीभांति विचार करे तो यही बात सत्य है- ऐसा निर्णय हुए बिना नहीं रहे। लोगों ने कल्पना से विपरीत मान रखा है।

धवल में 93 वाँ सूत्र है-उसमें "संजद" शब्द के लियें बहुत चर्चा चली थी और बहुत से तो शब्द निकाल देने के पक्ष में थे; परन्तु वहाँ जो कथन चला है वह भाववेद की अपेक्षा से है; क्योंकि वह अधिकार चौदह मार्गणाओं का है और वे जीव की मार्गणायें हैं। इसलिये वहाँ भाववेद की बात है। उस अपेक्षा से वहाँ 'संजद' शब्द सही है, उसमें विरोध नहीं आता। द्रव्यलिंग की बात हो तो विरोध आवे; परन्तु ऐसा नहीं है। द्रव्यवेद स्त्री का हो और भाववेद पुरूष का हो तो भी उसकी मुक्ति नहीं होती; क्योंकि वहाँ अपने परिणामों में ही ऐसी शिथिलता है, द्रव्यलिंग के कारण से है- ऐसा नहीं हैं। द्रव्य स्त्रीवेद वालें जीव के इतना वीर्य (बल) होता ही नहीं- ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। इसलिये स्त्री को मोक्ष कहना मिथ्या है।

शुद्रमुक्तिका निषेध

तथा शूद्रोंको मोक्ष कहते हैं; परन्तु चाण्डालादिकको गृहस्थ सन्मानादिकपूर्वक दानादिक कैसे देंगे? लोकविरूद्ध होता है। तथा नीच कुलवालोंके उत्तम परिणाम नहीं हो सकते। तथा नीच गोत्रकर्मका उदय तो पंचम गुणस्थानपर्यन्त ही है; ऊपरके गुणस्थान चढ़े बिना मोक्ष कैसे होगा? यदि कहोगे-संयम धारण करने के पश्चात् उसके उच्च गोत्रका उदय कहते हैं; तो संयम

धारण करने-न करनेकी अपेक्षासे उच्च-नीच गोत्रका उदय ठहरा। ऐसा होनेसे असंयमी मनुष्य, तीर्थंकर, क्षत्रियादिकको भी नीच गोत्रका उदय ठहरेगा। यदि उनके कुल अपेक्षा उच्च गोत्रका उदय कहोगे तो चाण्डालादिकके भी कुल अपेक्षा ही नीच गोत्रका कहो। उसका सद्भाव तुम्हारे सूत्रोंमें भी पंचम गुणस्थानपर्यन्त ही कहा है। सो कल्पित कहनेमें पूर्वापर विरोध होगा ही होगा; इसलिये शूद्रोंको मोक्ष कहना मिथ्या है.....।

अब श्वेताम्बरमत वाले शुद्रों को भी मोक्ष कहते हैं; परन्तु उनको मोक्ष नहीं होता, क्योंकि पहले तो चाण्डालादिक का उत्तम कुल वाले पुरूष सन्मानादि किस प्रकार करेंगे? और दान आदि किस प्रकार देंगे? और यदि दें तो लोकविरूद्ध होगा। तथा दूसरी बात यह है कि नीच कुल वाले के उत्तम परिणाम नहीं हो सकते; क्योंकि उसकी योग्यता ही ऐसी होती है। और नीच गोत्र का उदय तो पाँचवें गुणस्थान तक ही होता है। अतः उसको मुनिपना नही होता। फिर भी हरकेशी चाण्डाल को मुनि हुआ कहते हैं।

नीच गोत्र वाले को मोक्ष नहीं होता। इसमें वे तर्क करते हैं कि नीच गोत्र वाले के संयम धारण करने के पश्चात् उच्च गोत्र हो जाता है, तो यह बात भी यथार्थ नहीं हैं; क्योंकि संयम की अपेक्षा से उच्च-नीच गोत्रपना नहीं हैं; कारण कि ऐसा माने तो तीर्थंकर क्षत्रियादि असंयमी हो वहाँ तक उनके भी नीचगोत्र ठहरेगा और कुल अपेक्षा से नीचगोत्र कहोगे तो चाण्डालादिक के कुल अपेक्षा से नीच गोत्र कहों। तुम्हारे शास्त्रों में भी नीचगोत्र का सद्भाव पाँचवें गुणस्थान तक ही कहा है। इस प्रकार कल्पित कहने से तो पूर्वापर विरोध आयेगा। इस प्रकार शुद्र को मोक्ष कहना भी योग्य नहीं है।

इस प्रकार अन्यमती,गृहस्थ,स्त्री तथा चाण्डालादि को मोक्ष कहने का प्रयोजन तो यह लगता है कि-

1. सबको भला मनवाना,
2. मोक्ष की लालच देना और
3. कल्पितमत की प्रवृति कराना।

सबको मोक्ष कहने में इन तीन प्रकार का प्रयोजन लगता है; परन्तु विचार करने पर यह सब मिथ्या लगता है।

अछेरों का निराकरण

.....तथा उनके शास्त्रोंमें "अछेरा" कहते हैं। वहाँ कहते हैं- हुण्डावसर्पिणीके निमित्तसे हुए हैं, इनको छेड़ना नहीं। सो कालदोषसे कितनी ही बातें होती हैं, परन्तु प्रमाणविरूद्धतो नहीं होती। यदि प्रमाणविरूद्धभी हों तो आकाशके फूल, गधेके सींग इत्यादिका होना भी बनेगा; सो सम्भव नहीं है। वे अछेरा कहते हैं सो प्रमाणविरूद्ध हैं। किसलिये? सो कहते हैं:-

वर्द्धमान जिन कुछ काल ब्राह्मणीके गर्भमें रहे, फिर क्षत्रियाणीके गर्भमें बढ़े- ऐसा कहते हैं। सो किसीका गर्भ किसीके रख देना प्रत्यक्ष भाम्सित नहीं होता, अनुमानादिकमें नहीं आता। तथा तीर्थंकरके हुआ कहें तो गर्भकल्याणक किसी के घर हुआ, जन्मकल्याणक किसीके घर हुआ। कुछ दिन रत्नवृष्टि आदि किसी के घर हुए, कुछ दिन किसीके घर हुए। सोलह स्वप्न किसीको आये, पुत्र किसीके हुआ, इत्यादि असंभव भासित होता है। तथा माताएँ तो दो हुईं और पिता तो एक ब्राह्मण ही रहा। जन्मकल्याणादिमें उसका सन्मान नहीं किया, अन्य कल्पित पिताका सन्मान किया। इसप्रकार तीर्थंकर के दो पिता का कहना महाविपरीत भासित होता है। सर्वोत्कृष्ट पद धारकके लिए ऐसे वचन सुनना भी योग्य नहीं है।

तथा तीर्थंकर के भी ऐसी अवस्था हुई तो सर्वत्र ही अन्य स्त्रीका गर्भ अन्य स्त्रीको रख देना ठहरेगा। तो जैसे वैष्णव अनेक प्रकारसे पुत्र-पुत्रीका उत्पन्न होना बतलाते हैं वैसा यह कार्य हुआ। सो ऐसे निकृष्ट कालमें जब ऐसा नहीं होता तब वहाँ होना कैसे सम्भव है? इसलिये यह मिथ्या है।

तथा मल्लि तीर्थंकरको कन्या कहते हैं। परन्तु मुनि, देवादिककी सभामें स्त्रीका स्थिति करना, उपदेश देना सम्भव नहीं है; व स्त्रीपर्याय हीन है सो उत्कृष्ट तीर्थंकर पदधारीके नहीं बनती। तथा तीर्थंकरके नग्न लिंग ही कहते हैं, सो स्त्रीके नग्नपना संभव नहीं है। इत्यादि विचार करनेसे असंभव भासित होता है।

तथा हरिक्षेत्रके भोगभूमियाको नरकमें गया कहते हैं। सो अन्य वर्णनमें तो भोगभूमियाको देवगति, देवायुहीका बन्ध कहते हैं, नरक कैसे गया?

सिद्धान्तमें तो अनन्तकालमें जो बात हो वह भी कहते हैं। जैसे- तीसरे नरकपर्यन्त तीर्थंकर प्रकृतिका सत्व कहा, भोगभूमियाके नरकायु गतिका बन्ध नहीं कहा। सो केवली भूलते तो नहीं हैं; इसलिये यह मिथ्या है।

इस प्रकार सर्व अछेरे असम्भव जानना।

तथा वे कहते हैं- इनको छेड़ना नहीं; सो झूठ कहनेवाला इसीप्रकार कहता है।

तथा यदि कहोगे- दिगम्बरमें जिस प्रकार तीर्थंकरके पुत्री, चक्रवर्तीका मानभंग इत्यादि कार्य कालदोषसे हुआ कहते हैं; उसी प्रकार यह भी हुए। परन्तु यह कार्य तो प्रमाणविरूद्ध नहीं है, अन्यके होते थे सो महन्तोंके हुए; इसलिये कालदोष कहा है। गर्भहरणादि कार्य प्रत्यक्ष-अनुमानादिसे विरूद्ध हैं, उनका होना कैसे सम्भव है?

तथा अन्य भी बहुत ही कथन प्रमाणविरूद्ध कहते हैं। जैसे कहते हैं- सर्वार्थसिद्धिके देव मनहीसे प्रश्न करते हैं, केवली मनहीसे उत्तर देते हैं; परन्तु सामान्य जीवके मनकी बात मनःपर्ययज्ञानीके बिना जान नहीं सकता, तो केवलीके मनकी सर्वार्थसिद्धिके देव किस प्रकार जानेंगे? तथा केवलीके भावमनका तो अभाव है, द्रव्यमन जड़-आकाँरमात्र है, उत्तर किसने दिया? इसलिये यह मिथ्या है।

इसप्रकार अनेक प्रमाणविरूद्ध कथन किये हैं, इसलिये उनके आगम कल्पित जानना.....।

इनके शास्त्रों में "अछेरा" कहते हैं । तथा कहते हैं कि इस हुण्डावसर्पिणी काल के निमित से ये हुए हैं, इन्हें छेड़ना नहीं चाहिये। यदि विचार करे तो इनकी खोट भासित हुए बिना रहे नहीं। कालदोष से बहुत बातें होती हैं; परन्तु प्रमाण विरूद्ध कुछ नहीं होता। और ऐसा होवे तो आकाश के फूल और गधे के सींग भी होवे; परन्तु ऐसा हुआ सुनते नहीं हैं। इसलिये वे जो 'अछेरा' कहते हैं वे प्रमाण विरूद्ध हैं। वे प्रमाण विरूद्ध क्यों है ? यह अब बाद में कहेंगें।

श्रीमद् राजचन्द ने इस 'मोक्षमार्गप्रकाशक' को सत्श्रुत कहा है; क्योंकि इसमें सब बात न्याय से और यथायोग्य कही है। प्रमाण सहित बात है इसलिये इस पर भलीभांति

विचार करना चाहिये।

वे कहते हैं कि वर्धमान जिन कितने ही काल ब्राह्मणी के गर्भ में रहे और फिर क्षत्रियाणी के गर्भ में वृद्धिगत हुए । यह बात खोटी है; क्योंकि गर्भ कल्याणक किसी के यहाँ हुआ और जन्म कल्याणक अन्यत्र हुआ, सोलह स्वप्न किसी को आये और जन्म किसी अन्य के यहाँ हुआ। तब मातायें दो हुई और पिता एक हुआ-यह सब कल्पना है।

तीर्थंकर को दो पिता कहना-यह महाविपरीत है। सर्वोत्कृष्ट पद के धारक पुरूष के लिये ऐसे वचन सुनना भी योग्य नहीं है। यह तो वैष्णव कहते हैं वैसा कार्य हुआ। इस पंचमकाल में भी ऐसा नहीं बनता तो चौथे काल में उत्कृष्ट पुरूष के ऐसा बने-वह प्रमाणभूत नहीं है। इसलिये ये सब कथन मिथ्या हैं।

तथा वे मल्लि तीर्थंकर को कन्या कहते हैं; परन्तु मुनि व देवादिक की सभा में स्त्री की स्थिति करना, उपदेश देना-यह संभवित नहीं है। अर्थात् ऐसा कभी नहीं बनता। संभवित का अर्थ शंका वाली बात है-ऐसा नहीं है। तथा स्त्रीपर्याय तो हीन है जो तीर्थंकर के नहीं होती और उसके नग्नपना होता ही नहीं। इसलिये इस प्रकार विचार करने पर यह भी असंभव भासित होता है।

हरिक्षेत्र के भोगभूमिया को नरक गया कहते हैं; परन्तु शास्त्र में भोगभूमिया को देवगति-देवायु का ही बंध होना कहा है- तो वह नरक किसप्रकार गया ? सिद्धान्त में तो अनन्त काल में भी जो बात होती हो वह भी कहते हैं, इसमें नरक का बंध नहीं कहा। और केवलज्ञानी तो भूलते नहीं हैं। इसलिये ऐसा मानना मिथ्या है। इस प्रकार सभी अछेरे कल्पित हैं। श्वेताम्बर शास्त्र में कर्म प्रकृति की बात आती है वहाँ भी भोगभूमिया को नरक जाना नहीं कहा है।

तथा वे कहते हैं कि "इन अछेरों को छेड़ना नहीं"- इसका अर्थ ऐसा हुआ कि खोटा तो ऐसा ही कहता है। यदि तुम ऐसा कहोगे कि-"दिगम्बर मत में जैसे तीर्थंकर के पुत्री और चक्रवर्ती का मान भंग होना आदि काल दोष के कारण हुए कहते हैं, उसी प्रकार ये भी हुए; परन्तु वे कार्य तो प्रमाण विरूद्ध नहीं हैं, वे तो अन्य को भी होते हैं; परन्तु गर्भ हरण आदि कार्य तो प्रत्यक्ष-अनुमानादि प्रमाण से विरूद्ध हैं। इसलिये ऐसे कार्य महान पुरूषों के होना संभवित नहीं है।

तथा अन्य भी बहुत कथन परस्पर विरूद्ध हैं। जैसे कि सर्वार्थसिद्धि के देव मन से

ही प्रश्न करते हैं और केवली भगवान मन से ही जवाब देते हैं-ऐसा भगवतीसूत्र में कहते हैं; परन्तु भगवान के भावमन होता ही नहीं, इसलिये मन से जवाब दें ऐसा बनता ही नहीं। केवली के भावमन नहीं है; अतः उनके मन की बात देव जाने- ऐसा भी नहीं बनता इसलिये ये सब बातें कल्पित हैं- ऐसा जानना

श्वेताम्बर मत कथित देव-गुरू-धर्म का अन्यथा स्वरूप

.......तथा वे श्वेताम्बर मतवाले देव-गुरू-धर्मका स्वरूप अन्यथा निरूपित करते हैं:-

देवका अन्यथा स्वरूप

वहाँ केवलीके क्षुधादिक दोष कहते हैं सो यह देवका स्वरूप अन्यथा है, कारण कि क्षुधादिक दोष होने से आकुलता होगी तब अनन्तसुख किस प्रकार बनेगा? फिर यदि कहोगे शरीरको क्षुधा लगती है, आत्मा तद्रूप नहीं होता; तो क्षुधादिकका उपाय आहारादिक किसलिये ग्रहण किया कहते हो? क्षुधादिसे पीड़ित हो तभी आहार ग्रहण करेगा। फिर कहोगे-जिसप्रकार कर्मोदयसे विहार होता है उसी प्रकार आहार ग्रहण होता है। सो विहार तो विहायोगति प्रकृतिके उदयसे होता है और पीड़ाका उपाय नहीं है तथा वह बिना इच्छा भी किसी जीवके होता देखा जाता है। तथा आहार है वह प्रकृति-उदयसे नहीं है, क्षुधासे पीड़ित होने पर ही ग्रहण करता है। तथा आत्मा पवनादिको प्रेरित करे तभी निगलना होता है, इसलिये विहारवत् आहार नहीं है।

यदि कहोगे- सातावेदनीयके उदयसे आहार ग्रहण होता है, सो भी बनता नहीं है। यदि जीव क्षुधादिसे पीड़ित हो, पश्चात् आहारादिक ग्रहणसे सुख माने, उसके आहारादिक साताके उदयसे कहे जाते हैं। आहारादिका ग्रहण सातावेदनीयके उदयसे स्वयमेव हो ऐसा तो है नहीं; यदि ऐसा हो तो सातावेदनीयका मुख्य उदय देवोंके है, वे निरन्तर आहार क्यों नहीं करते? तथा महामुनि उपवासादि करें उनके साताका भी उदय और निरन्तर भोजन करनेवालोंको असाताका भी उदय सम्भव है।

इसलिये जिसप्रकार बिना इच्छा विहायोगति उदयके विहार सम्भव है,

उसी प्रकार बिना इच्छा केवल सातावेदनीयहीके उदय से आहारका ग्रहण सम्भव नहीं हैं........।

श्वेताम्बरमत वाले देव-गुरू-धर्म का स्वरूप भी अन्यथा कहते हैं उनमें से देव के अन्यथा स्वरूप की बात करते हैं:-

केवली के क्षुधादिक दोष कहते हैं- यह देव का अन्यथा स्वरूप है। क्योंकि यदि केवली के क्षुधदिक दीष होवे तो वहाँ आकुलता होवे, तो फिर अनन्तसुख किस प्रकार हुआ? उनके क्षुधादिक की आकुलता नहीं हैं इसलिये उसके उपायरूप आहारादि भी नहीं होता।

कोई ऐसा कहे कि जैसे कर्मोदय से विहार होता है, वैसे ही आहार का भी ग्रहण होता है; परन्तु यह बात मिथ्या है। केवली के विहार विहायोगति के निमित से इच्छा बिना होता है और यहाँ भी इच्छा बिना यह क्रिया किसी जीव का होना संभव है; परन्तु आहारादि तो इच्छा के निमित बिना नहीं होते। इसलिये विहार आदि की तरह आहार की क्रिया मानना सही नहीं है।

श्वास लेने में इच्छा का निमित होता है, अर्थात् आहार गले के नीचे उतरता है। आत्मा, पवनादि में निमित है, क्योंकि खाने की वहाँ इच्छा होती है-ऐसा यहाँ बताना है; परन्तु इच्छा की प्रेरणा से पवनादिक चलते हैं- ऐसा नहीं है। विहार तो इच्छा बिना भी होता हैं; परन्तु इच्छा के निमित बिना आहार की क्रिया नहीं होती-इतना कहना है। यहाँ ऐसा सिद्धान्त है कि जो जीव क्षुधादि से पीड़ित हो और फिर आहारादि के ग्रहण से सुख माने उसके आहारादिक सातावेदनीय के निमित से हुए कहलाते हैं; परन्तु जिसको आकुलता नहीं और ऐसे सुख की कल्पना नहीं- ऐसे केवली के आहारादि नहीं होते।

तथा यदि सातावेदनीय के कारण से आहार आता होवे तो सातावेदनीय का मुख्य उदय तो देवों के होता है। तो वे निरन्तर आहार क्यों नहीं करते? तथा मुनियों के सातावेदनीय का उदय होता है; परन्तु वे उपवासादि करते हैं। तथा निरन्तर भोजन करने वाले के असाता का उदय भी होता है। इसलिये जैसे इच्छा बिना शरीरादि की क्रिया होती है वैसे इच्छा बिना आहारादि की क्रिया हो-ऐसा नहीं होता। इसलिये केवली के आहार नहीं होता।

.... फिर वे कहते हैं-सिद्धान्तमें केवलीके क्षुधादिक ग्यारह परीषह कहे हैं, इसलिये उनके क्षुधाका सद्भाव है। तथा आहारादिक बिना उसकी उपशांतता कैसी होगी? इसलिये उनके आहारादि मानते हैं।

समाधानः- कर्मप्रकृतियोंका उदय मन्द-तीव्र भेदसहित होता है। वहाँ अति मन्द उदय होनेसे उस उदयजनित कार्यकी व्यक्तता भासित नहीं होती; इसलिए मुख्यरूपसे अभाव कहा जाता है, तारतम्यमें सद्भाव कहा जाता है। जैसे-नववें गुणस्थानमें वेदादिकका उदय मन्द है, वहाँ मैथुनादि क्रिया व्यक्त नहीं है; इसलिये वहाँ ब्रह्मचर्य ही कहा है। तारतम्यमें मैथुनादिकका सद्भाव कहा जाता है। उसी प्रकार केवलीके असाताका उदय अतिमन्द है; क्योंकि एक-एक कांडकमें अनन्तवें भाग-अनुभाग रहते हैं, ऐसे बहुत अनुभागकांडकोसे व गुणसंक्रमणादिसे सत्तामें असातावेदनीयका अनुभाग अत्यन्त मन्द हुआ है, उसके उदयमें ऐसी क्षुधा व्यक्त नहीं होती जो शरीरको क्षीण करे। और मोहके अभावसे क्षुधादिकजनित दुःख भी नहीं है; इसलिये क्षुधादिकका अभाव कहा जाता है और तारतम्यमें उसका सद्भाव कहा जाता है......।

अब वे कहते हैं कि शास्त्र में केवली के क्षुधादि ग्यारह परीषह तो कहे है- इस कारण उनके क्षुधा का सद्भाव संभव है और आहार लिये बिना क्षुधा किस प्रकार मिटेगी? इसलिये हम केवली के आहार मानते हैं?

उसका समाधानः- कर्म प्रकृति का उदय किसी समय तीव्र और किसी समय मंद भी होता है। जहाँ बहुत मंद उदय होता है वहाँ बाहर उसकी प्रगटता दिखती नहीं है; परन्तु सूक्ष्मता की अपेक्षा उसका उदय होता अवश्य है। जैसे नौवें गुणस्थान में वेद का मंद उदय है, वहाँ बाहर मैथून आदि नहीं होते- इस कारण वहाँ ब्रह्मचर्य कहा है; परन्तु वहाँ सूक्ष्म परिणाम है इस कारण वेद का सद्भाव कहा है। उसी प्रकार केवली के असाता का उदय अत्यन्त मंद होता है। उससे ऐसी व्यक्त क्षुधा नहीं होती कि जो शरीर को क्षीण करे। उनके तो परमौदारिक स्फटिक जैसा शरीर होता है और मोह नहीं होता- इसकारण दुःख भी नहीं है। इसलिये उनके क्षुधा नहीं है- ऐसा कहते हैं। और तारतम्यता की अपेक्षा क्षुधादिक परीषह कहे हैं।

.......तथा तूने कहा-आहारादिक बिना उसकी उपशांतता कैसे होगी? परन्तु आहारादिकसे उपशांत होने योग्य क्षुधा लगे तो मन्द उदय कैसे रहा? देव, भोगभूमिया आदिकके किंचित् मन्द उदय होनेपर भी बहुत काल

पश्चात् किंचित आहार ग्रहण होता है तो इनके अतिमन्द उदय हुआ है, इसलिये इनके आहारका अभाव सम्भव है।

फिर वह कहता है- देव, भोगभूमियोंका तो शरीर ही वैसा है कि जिन्हें भूख थोड़ी और बहुत काल पश्चात् लगती है, उनका तो शरीर कर्मभूमिका औदारिक है; इसलिये इनका शरीर आहार बिना देशेन्यून कोटिपूर्व पर्यन्त उत्कृष्टरूपसे कैसे रहता है?

समाधानः देवादिकका भी शरीर वैसा है; सो कर्मके ही निमित्तसे है। यहाँ केवलज्ञान होनेपर ऐसा ही कर्मका उदय हुआ, जिससे शरीर ऐसा हुआ कि उसको भूख प्रगट होती ही नहीं। जिस प्रकार केवलज्ञान होनेसे पूर्व केश, नख बढ़ते थे, अब नहीं बढ़ते; छाया होती थी अब नहीं होती; शरीरमें निगोद थी, उसका अभाव हुआ। बहुत प्रकारसे जैसे शरीरकी अवस्था अन्यथा हुई; उसी प्रकार आहार बिना भी शरीर जैसेका तैसा रहे, ऐसी भी अवस्था हुई। प्रत्यक्ष देखो, औरोंको जरा व्याप्त हो तब शरीर शिथिल होजाता है, इनका आयुपर्यन्त शरीर शिथिल नहीं होता; इसलिये अन्य मनुष्योंकी और इनके शरीर की समानता सम्भव नहीं है......।

अब आहार बिना क्षुधा की उपशांतता नहीं होती- ऐसा कहा,उसका उत्तर देते हैं- यदि आहार बिना क्षुधा की उपशांतता न होती हो तो वहाँ असाता का मंद उदय है-ऐसा नहीं कहा जा सकता। देव-भोगभूमियों को किचिंत् मंद उदय होने पर बहुत काल के अन्तराल से किंचित् आहार होता है, तो फिर केवली के तो बहुत मंद उदय है, अतः उनके आहार नहीं होता।

देवादिक का शरीर भी ऐसा है कि जो कर्म के ही निम्त्ति से है। यहाँ केवलज्ञान होने पर ऐसे ही कर्म का उदय हुआ है कि जिससे भूख प्रगट होती ही नहीं। जैसे केवलज्ञान होने के पहले कैश-नख बढ़ते थे वे अब नहीं बढ़ते, छाया होती थी वह अब नहीं होती और शरीर में निगोद (निगोदिया जीव) था वह नहीं होता-ऐसे बहुत प्रकार से शरीर में अन्तर पड़ता है; उसी प्रकार परमौदारिक शरीर होने से आहार बिना भी जैसा का तैसा रहता है। केवली के शरीर में न्यूनता नहीं आती, शिथिलता नहीं होती। इसलिये अन्य मनुष्यों के शरीर के और केवली के शरीर के समानता नहीं है ।

........तथा यदि तू कहेगा- देवादिकके आहार ही ऐसा है जिससे बहुतकालकी भूख मिट जाये, परन्तु इनकी भूख काहेसे मिटी और शरीर पुष्ट किस प्रकार रहा ? तो सुन, असाताका उदय मंद होनेसे मिटी, और प्रति समय परम औदारिक शरीरवर्गणाका ग्रहण होता है सो वह नोकर्म-आहार है; इसलिए ऐसी-ऐसी वर्गणाका ग्रहण होता है जिससे क्षुधादिक व्याप्त न हों और शरीर शिथिल न हो। सिद्धान्तमें इसीकी अपेक्षा केवलीको आहर कहा है।

तथा अन्नादिकका आहार तो शरीरकी पुष्टता का मुख्य कारण नहीं है। प्रत्यक्ष देखो, कोई थोड़ा आहार ग्रहण करता है और शरीर बहुत पुष्ट होता है; कोई बहुत आहर ग्रहण करता है और शरीर क्षीण रहता है। तथा पवनादि साधनेवाले बहुत कालतक आहार नही लेते और शरीर पुष्ट बना रहता है, व ऋद्धिधारी मुनि उपवासादि करते हैं तथापि शरीर पुष्ट बना रहता है; फिर केवलीके तो सर्वोत्कृष्टपना है उनके अन्नादिक बिना शरीर पुष्ट बना रहता है तो क्या आश्चर्य हुआ? तथा केवली केसे आहारको जायेंगे? कैसे याचना करेंगे.....?

तथा तू कहेगा कि देवादिक के तो बहुत काल में आहार लेने से भूख मिटती है, तो केवली के किस कारण से भूख मिटी? और शरीर किस प्रकार ठीक रहा?

उसका समाधानः- केवली के असाता का उदय मंद होने से भूख मिटी और समय-समय परमौदारिक शरीर वर्गणा का ग्रहण होता है-इससे उनको क्षुधा व्यापती ही नहीं और शरीर पुष्ट रहता है। सिद्धान्त में इसी अपेक्षा से केवली के आहार कहा है।

तथा अन्नादि का आहार ही कोई शरीर की पुष्टता का मुख्य कारण नहीं है। प्रत्यक्ष देखो! कोई थोड़ा आहार करता है फिर भी शरीर पुष्ट होता है और कोई बहुत आहार करता है फिर भी शरीर क्षीण होता है। बहुत से जोगी-बाबा पवन साधने वाले खड्डे में दो-दो महीनों तक रहते हैं और बाहर निकले तब ऐसा का ऐसा शरीर होता है। बहुत से ऋद्धिधारी मुनि उपवासादि करते है, फिर भी शरीर पुष्ट बना रहता है। इसलिये आहार बिना शरीर पुष्ट बना रहे उसमें कोई आश्चर्य नहीं हैं। अतः केवली के आहार नहीं होता।

......तथा वे आहारको जायें तो समवसरण खाली कैसे रहेगा ? अथवा अन्यका ला देना ठहराओगे तो कौन ला देगा? उनके मनकी कौन जानेगा? पूर्वमें उपवासादिकी प्रतिज्ञा की थी उसका कैसे निर्वाह होगा? जीव अंतराय सर्वत्र प्रतिभासित हो वहाँ कैसे आहार ग्रहण करेंगे? इत्यादि विरूद्धता भासित होती है। तथा वे कहते हैं- आहार ग्रहण करते हैं, परन्तु किसीको दिखायी नहीं देता। सो आहार ग्रहणको निंद्य जाना, तब उसका न देखना अतिशयमें लिखा है; सो उनके निंद्यपना तो रहा, और दूसरे नहीं देखते हैं तो क्या हुआ? ऐसे अनेक प्रकार विरूद्धता उत्पन्न होती है....।

तथा यदि केवली के आहार होता हो तो वे किस तरह आहार लेने जायेंगे? किस प्रकार आहार माँगेंगे? आहार लेने जायें तब क्या समवसरण खाली रहता होगा? दूसरे आहार लाकर देते होंगें? और लाकर देते होवे तो इनके मन की बात वे जानते होगें? ''भगवतीसूत्र'' में कथन है कि भगवान हमेशा आहार लेते हैं- इसलिये उनका शरीर हष्ट-पुष्ट रहता है; परन्तु ये सब कल्पित बातें हैं। तथा केवली आहार किस प्रकारा ग्रहण करेंगे? उन्हें केवलज्ञान है। अर्थात् सब अन्तराय ज्ञात होते है- इत्यादि बहुत विरूद्धता आती है। इसलिये केवली के आहार नहीं होता- ऐसा समझना।

देखो, यहाँ श्वेताम्बरमत के निराकरण की बात चल रही है। वहाँ उनकी बहुत विपरीतता है-वह कहते हैं। वीतरागमार्ग में तो यथार्थ बात हो वही मानने योग्य है, अन्य मानने योग्य नहीं।

.........तथा अन्य अविवेकताकी बातें सुनो-केवलीके निहार कहते हैं, रोगादिक हुए कहते हैं और कहते हैं- किसीने तेजोलेश्या छोड़ी उससे वर्द्धमानस्वामी के पेठूंगाका (पेचिसका) रोग हुआ, उससे बहुत बार निहार होने लगा। यदि तीर्थंकर केवलीके भी ऐसे कर्म का उदय रहा और अतिशय नहीं हुआ तो इन्द्रादि द्वारा पूज्यपना कैसे शोभा देगा? तथा निहार कैसे करते हैं, कहाँ करते हैं? कोई सम्भावित बातें नहीं हैं। तथा जिस प्रकार रागादियुक्त छद्मस्थके क्रिया होती है, उसी प्रकार केवली के क्रिया ठहराते हैं......।

तथा वे केवली के निहार (शौच जाना) कहते हैं और रोग हुआ भी कहते हैं वे 'भगवती सूत्र' में कहते हैं कि गोशाला ने तेजो लेश्या छोड़ी और महावीर भगवान को छह महीने तक पेचिस रहा। परन्तु यह बात मिथ्या है, क्योंकि तीर्थंकर के ऐसा उदय होता ही नहीं है। वे इन्द्रादिक से पूज्य पुरुष हैं इसलिये उनके छह माह तक ऐसा रोग रहे यह शोभनीक नहीं है। तथा वे निहार (शौच) किस प्रकार जाते होंगे? इस प्रकार वे अनेक प्रकार की विपरीत प्ररूपणा करते हैं। कहाँ तक कहे? असंभव बाते करते हैं संसारी जैसे भगवान को ठहराते हैं सो ये सब कल्पित बातें हैं; परन्तु जहाँ तक सम्प्रदाय की आग्रहयुक्त दृष्टि हो वहाँ तक यह खोटी है ऐसा भासित नहीं होता। इसलिये सत्य समझने के लिए मध्यस्थ होकर विचार करना चाहिये।

.......वर्द्धमानस्वामीके उपदेशमें "हे गौतम!" ऐसा बारम्बार कहना ठहराते हैं; परन्तु उनके तो अपने कालमें सहज दिव्यध्वनि होती है, वहाँ सर्वको उपदेश होता है, गौतमको सम्बोधन किस प्रकार बनता है? तथा केवलीके नमस्कारादि क्रिया ठहराते हैं, परन्तु अनुराग बिना वन्दना सम्भव नहीं है। तथा गुणाधिकको वन्दना संभव है, परन्तु उनसे कोई गुणाधिक रहा नहीं है सो कैसे बनती है........... ?

तथा उनके शास्त्रो मे आता है कि महावीर भगवान गौत्तम को सम्बोधकर कहते हैं कि हे गौत्तम! ऐसा बारम्बार कहते हैं; परन्तु भगवान के तो अपने काल मे दिव्यध्वनि सहज होती है और वहाँ तो सब को उपदेश होता है अकेले गौत्तम को ही सम्बोधकर कैसे हो? तथा केवली चारतीर्थ को नमस्कार करके सभा मे बैठते हैं यह बात भी खोटी है; क्योंकि किसी के प्रति प्रेम बिना वंदना संभव नहीं है और जो गुण से अधिक हो उसे नमस्कार होता है। अब भगवान को तो किसी के ऊपर प्रेम नहीं है, इसी प्रकार इनसे गुणों में अधिक अन्य कोई नहीं है। इसलिये भगवान किसी को नमस्कार नही करते। तथा बंद्य-बंदकभाव तो छठवें गुणस्थान तक ही होता है, वीतराग तो पूर्णानन्द स्वरूप हो गये हैं, उन्हें किसीको नमस्कार करना रहता नहीं है। छद्‌मस्थ मुनि (भी) छठवें गुणस्थान से उपर की दशा में किसी को वंदन नहीं करते, तो केवली बंदन करें ऐसा तो बनता ही नहीं।

कोई कहता है कि गणधर नमस्कार मंत्र पढ़ते हैं तब साधु को नमस्कार करते हैं न?

उसका समाधान :- गणधर तो छद्मस्थ है वे छठवें गुणस्थान में हो तब सामान्य रीति से पंचपरमेष्ठी को वंदन करने का विकल्प उठता है इसमे विरोध नहीं है।

.......तथा हाटमें समवसरण उतरा कहते हैं, सो इन्द्रकृत समवसरण हाटमें किस प्रकार रहेगा? इतनी रचनाका समावेश वहाँ कैसे होगा? तथा हाट में किसलियें रहें? क्या इन्द्र हाट जैसी रचना करने में भी समर्थ नहीं है, जिससे हाट का आश्रय लेना पड़े?

तथा वह कहते हैं- केवली उपदेश देने गये सो घर जाकर उपदेश देना अतिराग से होता है और वह मुनिके भी सम्भव नहीं है तो केवली के कैसे होगा? इसी प्रकार वहाँ अनेक विपरीतता प्ररूपित करते हैं। केवली शुद्ध केवलज्ञान- दर्शनमय रागादिरहित हुए हैं, उनके अघातियों के उदय से संभवित क्रिया कोई होती है; परन्तु उनके मोहादिक का अभाव हुआ है, इसलिये उपयोग जुड़ने से जो क्रिया हो सकती है वह संभव नहीं है। पाप प्रकृति का अनुभाग अत्यन्त मन्द हुआ है, ऐसा मन्द अनुभाग अन्य किसी के नहीं है; इसलिये अन्य जीवों के पाप उदय से जो क्रिया होती देखी जाती है, वह केवलीके नहीं होती।

इस प्रकार केवली भगवान के सामान्य मनुष्य जैसी क्रिया का सद्भाव कहकर देवके स्वरूप को अन्यथा प्ररूपित करते है.......।

तथा वे कहते हैं कि सकडाल कुम्हार की दुकान में महावीर भगवान उतरे थे और वहाँ कुम्हार को उपदेश दिया था; तो यह बात भी कल्पित है; क्योंकि कुम्हार की दुकान में इन्द्र रचित समवसरण किस प्रकार रहेगा? भगवान इस प्रकार घर-घर उपदेश देने जाये-यह कहना भी योग्य नहीं है; क्योंकि घर-घर उपदेश देने जाना तो अतिराग से होता है। मुनि भी किसी के घर उपदेश देने नहीं जाते तो भगवान किसी के घर उपेदश देने जाये यह बात असंभव है। केवली के अघाति कर्म के उदय से होने योग्य कोई क्रिया होती है; परन्तु राग के निमित्त से क्रिया नहीं होती। पाप प्रकृति का इतना अधिक मंद उदय हुआ है कि ऐसा मंद उदय अन्य किसी को नहीं होता। इसलिये सामान्य मनुष्य जैसी क्रिया भगवान के होती है ऐसा कहना वह देव के स्वरूप से विपरीत श्रद्धा है। वे देव के स्वरूप को नहीं समझते। इसलिये श्वेताम्बरमत गृहीत मिथ्यादृष्टि है।

गुरु का अन्यथा स्वरूप

....तथा गुरूके स्वरूप को अन्यथा प्ररूपित करते है। मुनिके वस्त्रादिक चौदह उपकरण कहते हैं सो हम पूछते हैं- मुनिको निर्ग्रन्थ कहते हैं, और मुनिपद लेते समय नव प्रकार से सर्वपरिग्रह का त्याग करके महाव्रत अंगीकार करते हैं; सो यह वस्त्रादिक परिग्रह हैं या नहीं? यदि है तो त्याग करने के पश्चात् किसलिये रखते हैं? और नहीं हैं तो वस्त्रादिक गृहस्थ रखते हैं, उन्हें भी परिग्रह मत कहो? सुवर्णादिक को परिग्रह कहो......।

वे गुरू के स्वरूप को भी कल्पित रीति से कहते हैं। वे मूनि के वस्त्रादिक चौदह उपकरण कहते हैं और फिर मुनि को निर्ग्रन्थ कहते हैं। मुनिपद लेते समय नौ-नौ कोटि से सर्व परिग्रह के त्याग द्वारा महाव्रत लेते हैं। अब हम पूछते हैं कि वस्त्र पात्रादि परिग्रह है या नहीं? यदि उन्हें तुम परिग्रह कहते हो तो परिग्रह का त्याग करने के पश्चात् उन्हें किसलिये रखते हैं? तथा यदि उन्हें परिग्रह नहीं मानते हो तो गृहस्थ वस्त्र रखता है उसे भी परिग्रह नहीं कहना चाहिये, मात्र उसके आभूषण को ही परिग्रह कहना चाहिये। इसलिये परिग्रह का त्याग करके वस्त्रादि रखना योग्य नहीं है।

.......तथा यदि कहोगे- जिस प्रकार क्षुधा के अर्थ आहार ग्रहण करते हैं, उसी प्रकार शीत-उष्णादिक के अर्थ वस्त्रादिक ग्रहण करते हैं; परन्तु मुनिपद अंगीकार करते हुए आहार का त्याग नहीं किया हैं, परिग्रह का त्याग किया है। तथा अन्नादिक का संग्रह करना तो परिग्रह है, भोजन करने जायें वह परिग्रह नहीं है। तथा वस्त्रादिक का संग्रह करना व पहिनना वह सर्वत्र ही परिग्रह है, सो लोकमें प्रसिद्ध है......।

यदि तुम ऐसा कहोगे कि जैसे क्षुधा के लिये भोजन लेते हैं वैसे ही सर्दी और गर्मी से बचने के लिये वस्त्र पहिनते हैं; तो उनसे कहते हैं कि मुनिपना लेते समय आहार का त्याग नहीं किया था; परन्तु परिग्रह का तो त्याग किया है। मुनिपना अट्ठाईस मूलगुण सहित होता है। अपने लिये अधःकर्मी आहार बनावे, दाख, मौसम्मी का रस अपने लिये बनाया हो, अपने लिये रसोई हो और वहाँ से उद्दिष्ट आहार ले तो-वह मुनि नहीं है; फिर भी उसे मुनि मानने वाला मिथ्यादृष्टि है। किंचित् भी परिग्रह रखकर मुनि नाम धरावे वह निगोद में जाता हैं- ऐसा आगे कहेंगे। जो वस्त्र धारण करके मुनिपना मनाता हैं वह

वीतराग मार्ग को नहीं जानता। कोई कहे कि यह तो जड़ की क्रिया है, इसलिये आत्मा को वस्त्र क्या रोकता है? परन्तु यहाँ तो कहते हैं कि वस्त्र रखने का अथवा पहिनने का भाव किसका है? परिग्रह रखने का भाव स्वयं करे और निर्ग्रन्थ मुनिपना माने तो मिथ्यादृष्टि है। वस्त्र रखना अथवा पहिनना उसे लोग भी परिग्रह मानते हैं- यह बात तो प्रसिद्ध है। इसलिये परिग्रह रखकर भी परिग्रह रहित हैं- ऐसा जो मानता है वह गुरू के स्वरूप को विपरीत रीति से कहता है- इसलिये वह मिथ्यादृष्टि है।

........फिर कहोगे- शरीर स्थिति के अर्थ वस्त्रादिक रखते हैं; ममत्व नहीं है इससे इनको परिग्रह नहीं कहते, सो श्रद्धानमें तो जब सम्यग्दृष्टि हुआ तभी समस्त परद्रव्यों में ममत्व का अभाव हुआ; उस अपेक्षा से चौथा गुणस्थान ही परिग्रह रहित कहो। तथा प्रवृत्ति में ममत्व नहीं है तो कैसे ग्रहण करते हैं? इसलिए वस्त्रादिक का ग्रहण-धारण छूटेगा तभी निष्परिग्रह होगा....।

तुम कहोगे कि-वस्त्र शरीर को टिकाने के लिये रखते हैं; परन्तु वस्त्र में ममता नहीं-इस कारण उसे परिग्रह नहीं कहते। सो श्रद्धान में तो जब से सम्यग्दृष्टि हुआ तब से ही सर्व पर द्रव्यों की तरफ से ममत्वभाव छूटा है। इसलिये इस अपेक्षा तो चौथे गुणस्थान को भी परिग्रह रहित कहा जाता है; परन्तु मुनिपना धारण करके वस्त्रादि रखकर भी परिग्रह रहित मनाना-वह तो नहीं बन सकता। इसलिये वास्तव में तो जब वस्त्रादि का भी अभाव होता है तभी परिग्रह रहित मुनिपना कहा जाता है। श्रद्धा अपेक्षा से तो सम्यग्दृष्टि जिस भाव से तीर्थंकर नामकर्म बंधता है उस भाव को भी अपना स्वरूप नहीं मानता। वह राग भी जहाँ तक नही छूटता वहाँ तक पूर्णदशा नहीं होती-ऐसा समझना।

.....फिर कहोगे-वस्त्रादिक को कोई ले जाये तो क्रोध नहीं करते व क्षुधादिक लगे तो उन्हे बेचते नहीं हैं व वस्त्रादिक पहिनकर प्रमाद नहीं करते; परिणामों की स्थिरता द्वारा धर्म ही साधन करते हैं, इसलिए ममत्व नहीं है। सो बाह्य क्रोध भले न करो, परन्तु जिसके ग्रहण में इष्टबुद्धि होगी उसके वियोग में अनिष्ट बुद्धि होगी ही होगी। यदि इष्टबुद्धि नहीं है तो उसके अर्थ याचना किसलिये करते हैं? तथा बेचते नहीं हैं, सो धातु रखने

से अपनी हीनता जानकर नहीं बेचते। परन्तु जिस प्रकार धनादिका रखना है उसी प्रकार वस्त्रादिका रखना है। लोक में परिग्रह के चाहक जीवों को दोनों की इच्छा है इसलिए चोरादिक के भयादिक के कारण दोनो समान हैं। तथा परिणामों की स्थिरता द्वारा धर्म साधन ही से परिग्रहपना न हो, तो किसी को बहुत ठंड लगेगी वह रजाई रखकर परिणामों की स्थिरता करेगा और धर्म साधेगा सो उसे भी निष्परिग्रह कहो? इस प्रकार गृहस्थधर्म-मुनिधर्म में विशेष क्या रहेगा? जिसके परीषह सहनेकी शक्ति न हो, वह परिग्रह रखकर धर्म साधन करे उसका नाम गृहस्थधर्म, और जिसके परिणमन निर्मल होने से परीषह से व्याकुल नहीं होते, वह परिग्रह न रखे और धर्म साधन करे उसका नाम मुनिधर्म-इतना ही विशेष है...।

तुम कहोगे कि कोई वस्त्रादि ले जाये तो वे क्रोध नहीं करते, क्षुधा लगे तो बेचते नहीं, वस्त्र पहिनकर प्रमाद नहीं करते; परन्तु परिणामों को स्थिर करके धर्म को साधते हैं- इसलिये ममत्व नहीं है? तो यह बात भी सत्य नहीं हैं, क्योंकि क्रोध करो या न करो; परन्तु जहाँ वस्त्र ग्रहण करने की इष्टबुद्धि है वहाँ उसके वियोग मे अनिष्टबुद्धि हुए बिना रहेगी ही नहीं। और यदि इष्टबुद्धि नहीं है तो उसके लिये याचना किसलिये करने में आती है? तथा वस्त्र को नहीं बेचते, वह तो पैसा रखने से नीचापना कहलाये इसलिये नहीं बेचते; परन्तु जैसे धनादिक रखने में आता है वैसे ही वस्त्रादिक रखने में आते हैं। इस कारण चोरादिक के भय की अपेक्षा दोनो समान ही है। तथा परिणामों की स्थिरता करने के लिये परिग्रह रखे उसे तुम परिग्रहपना नहीं कहते हो, तो किसी को बहुत सर्दी लगे तब रजाई ओड़कर परिणामों की स्थिरता करे और धर्म साधे उसे भी निष्परिग्रही कहो? तब तो गृहस्थधर्म और मुनिधर्म में कुछ अन्तर नहीं रहा। गृहस्थ को भी निष्परिग्रही कहना पड़ेगा; परन्तु ऐसा नहीं है। गृहस्थधर्म और मुनिधर्म में अन्तर है।

जिसको परीषह सहन करने की शक्ति नहीं होती वह परिग्रह रखकर धर्म साधे उसका नाम गृहस्थधर्म है। और जिसके परिणाम विशेष निर्मल हुए हो व परीषह सहन करने की शक्ति प्रगट हुई हो वह परिग्रह नहीं रखे और धर्म साधे उसका नाम मुनिधर्म हैं। इस प्रकार गृहस्थधर्म और मुनिधर्म में अन्तर है। मुनिदशा में सर्व परिग्रह का अभाव होकर नग्नदशा हो जाती है। शरीर में नग्नदशा सहज होती है। विकल्प आया इसलिये वह

दशा हुई-ऐसा नहीं है। क्योंकि आत्मा में पर वस्तु का ग्रहण-त्याग तो है ही नहीं; परन्तु पर्याय में जो राग है उसका ग्रहण भी त्रिकाल स्वभाव में नहीं है और वास्तव में राग का त्याग भी आत्मा नहीं करता। आत्मा त्रिकाल शुद्ध ज्ञानानन्द चैतन्यमूर्ति है, उसमें एकाग्र होने पर राग की उत्पत्ति नहीं होती- उसे राग का त्याग किया ऐसा कहने में आता है। वर्तमान राग हुआ है किसप्रकार उसे छोड़ना? जो भूतकाल में राग हो गया है उसे छोड़ना क्या? और भविष्य का राग वर्तमान में नहीं है तो उसे भी किस प्रकार छोड़े? इसलिये वस्तुतः तो राग को भी छोड़ना नहीं है, बल्कि त्रिकाली स्वभाव के आश्रय से राग की उत्पत्ति ही नहीं होती- ऐसा समझना।

स्वभाव की दृष्टि पूर्वक अन्तर्लीनता होने पर राग छूट जाता है तब (राग के) निमित्त भी उनके कारण स्वयं छूट जाते हैं- ऐसा निमित-नैमितिक सम्बन्ध है। इस कारण चरणानुयोग में निमित्त से कथन किया होता है किअमुक वस्तु का त्याग करना; परन्तु उसका अर्थ ऐसा समझना कि स्वभाव के लक्ष्य से राग छूट जाने पर उसके निमित्त भी छूट जाते हैं। आत्मा के राग से अथवा ज्ञान से पर वस्तु नहीं आती व परवस्तु नहीं छूटती-ऐसा वस्तु का स्वभाव है। इसको समझे बिना सचमुच राग नहीं छूटता। वीतराग मार्ग की समझे बिना अपनी कल्पना से माने वह चले-ऐसा नही है। जैसे-तैसे त्यागी हो जाये वह तो मिथ्यादृष्टि है और मिथ्यादृष्टि के मुनिपना हो नहीं सकता। इसी ग्रन्थ में आगे कहा है कि "प्रथम तत्वज्ञान होवे, फिर उदासीन परिणाम होवे, परीषह आदि सहन करने की शक्ति होवे, और वह अपने आप ही मुनि होना चाहे तो उसे श्रीगुरू मुनिधर्म अंगीकार करावे-ऐसी वीतराग मार्ग में प्रथा हैं।" इससे विपरीत मुनिपना मनाने वाले तो मिथ्यादृष्टि हैं। यदि मुनिपना पालने की शक्ति न होवे तो गृहस्थ धर्म पालना चाहिये, मुनिपना नहीं लेना चाहिये। मुनिधर्म और गृहस्थ धर्म में भेद है।

.....फिर कहोगे- शीतादिके के परीषह से व्याकुल कैसे नहीं होंगे? परन्तु व्याकुलता तो मोह- उदय के निमित्त से है; और मुनि के छठवें आदि गुणस्थानों में तीन चौकड़ी का उदय नहीं है तथा संज्वलन के सर्वघाती स्पर्द्धकों का उदय नहीं है, देशघाती स्पर्द्धकोंका उदय है सो उनका कुछ बल नहीं है। जैसे वेदक सम्यग्दृष्टि को सम्यग्मोहनीय का उदय है, परन्तु सम्यक्त्वका घात नहीं कर सकता; उसी प्रकार देशघाती संज्वलन का

उदय परिणामों को व्याकुल नहीं कर सकता। अहो! मुनियों के और दूसरों के परिणामों की समानता नहीं है। और सबके सर्वघाती उदय है, इनके देशघाती का उदय है इसलिये दूसरों के जैसे परिणाम होते हैं वैसे इनके कदाचित् नहीं होते। जिनके सर्वघाती कषायों का उदय हो वे गृहस्थ ही रहते हैं और जिनके देशघाती का उदय हो वे मुनिधर्म अंगीकार करते हैं; उनके परिणाम शीतादिक से व्याकुल नहीं होते, इसलिये वस्त्रादि नहीं रखते.....।

यहाँ यदि तुम कहोगे- जब सर्दी और गर्मी का परीषह पड़े तब व्याकुलता क्यों नहीं हो ? इसका उत्तर यह है कि व्याकुलता तो मोह के उदय के निमित से होती है, शीतादि के कारण नहीं होती। मुनि के छठवें आदि गुणस्थान में कषाय की तीन चौकड़ी का उदय नहीं है वहाँ आत्मा की शान्ति इतनी अधिक बढ़ गई है कि अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरणी, प्रत्याख्यानावरणी- इन तीन कषायों का तो वहाँ अभाव हुआ तथा संज्वलन कषाय के सर्वधाति स्पर्द्धकों का भी वहाँ उदय नहीं है; परन्तु मात्र देशधाति स्पर्द्धकों का उदय है; परन्तु उसका कुछ बल नहीं है। इसलिये मुनि के आकुलता नहीं होती। वे चिदानन्द आनन्दकन्द की शान्ति में झूलते होने से उनके बंधन नहीं होता। इसकारण वहाँ कषाय का ज़ोर नहीं होता-ऐसी मुनिदशा होती है। अभी जिसको गुरू के स्वरूप की खबर नहीं है, वह त्यागी हो जाये तो उसे चारित्र तो होता ही नहीं; परन्तु सम्यग्दर्शन भी नहीं होता। वह तो मिथ्यादृष्टि है। वस्त्र-पात्र रखकर मुनिपना माने-मनावे वह तो स्थूल मिथ्यादृष्टि है।

श्वेताम्बरमत वाले गुरू का स्वरूप विपरीत कहते हैं- यह बात चल रही है। जिसको तीन कषाय चौकड़ी का अभाव हुआ है और संज्वलन कषाय के सर्वघाति स्पर्द्धकों का भी उदय नहीं है- ऐसे मुनि को आकुलता नहीं होती। जैसे क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि के सम्यक्त्व मोहनीय का उदय होने पर भी वह सम्यक्त्व का घात नहीं करती; उसी प्रकार मुनि के संज्वलन के देशघाति के स्पर्द्धको का उदय होने पर भी वह उन्हें आकुलता नहीं कराता। इसलिये मुनिदशा और गृहस्थदशा समान नहीं है। अन्य की तरह उन्हें आकुलता नहीं है।

......फिर कहोगे- जैनशास्त्रों में मुनि चौदह उपकरण रखे - ऐसा कहा है; सो तुम्हारे ही शास्त्रों में कहा है, दिगम्बर जैनशास्त्रों में तो कहा नहीं है; वहाँ तो लगोंट मात्र परिग्रह रहने पर भी ग्यारहवीं प्रतिमा के धारीको श्रावक ही कहा हैं.....।

कदाचित् तुम कहोगे कि मुनि चौदह उपकरण रखते है न? वह तो तुम्हारे शास्त्रों में कहा है। दिगम्बर शास्त्रों में तो कहा है कि एक लंगोटी मात्र रखे तो वह श्रावक दशा है। वह भी समझे कि मैं परद्रव्य का कर्ता नहीं, राग मेरा स्वरूप नहीं- ऐसा समझे तो उसे पंचम गुणस्थान-श्रावकदशा है।

.....अब यहाँ विचार करो कि-दोनो में कल्पित वचन कौन है? प्रथम तो कल्पित रचना कषायी हो वह करता है; तथा कषायी हो वही नीचपद में उच्चपन प्रगट करता है। यहाँ दिगम्बर में वस्त्रादि रखने से धर्म होता ही नहीं है- ऐसा तो नहीं कहा, परन्तु वहाँ श्रावक धर्म कहा है; श्वेताम्बर में मुनिधर्म कहा है। इसलिये यहाँ जिसने नीची क्रिया होने पर उच्चत्व प्रगट किया वही कषायी है। इस कल्पित कथन से अपने को वस्त्रादि रखने पर भी लोग मुनि मानने लगे; इसलिये मानकषाय का पोषण किया और दूसरों को सुगमक्रिया में उच्च पद का होना दिखाया, इसलिये बहुत लोग लग गये। जो कल्पित मत हुए हैं वे इसी प्रकार हुए हैं। इसलिये कषायी होकर वस्त्रादि होने पर मुनिपना कहा है सो पूर्वोक्त युक्ति में विरूद्ध भासित होता है; इसलिये यह कल्पित वचन हैं, ऐसा जानना.....।

अब यहाँ विचार करो कि दोनो में कल्पित वचन किसके हैं? प्रथम कषायी अर्थात् मिथ्यादृष्टि होवे वही कल्पित रचना करता है। जिन्होंने वस्त्र-पात्र रखकर मुनिपना मनाया उनके शास्त्र कल्पित हैं और उन्हें मानने वाले भी मिथ्यादृष्टि हैं। देव-शास्त्र-गुरू का कल्पित स्वरूप कहने वालों को माने-मनावे वे सब गृहीत मिथ्यादृष्टि हैं; क्योंकि नीचेपद में उच्चपना मनाया है। अब दिगम्बर में वस्त्रादि रखते हुए धर्म होता ही नहीं-ऐसा नहीं कहा; परन्तु वहाँ श्रावकधर्म कहा है। जबकि श्वेताम्बर में वस्त्रादि रखने पर भी मुनिधर्म कहा है। इसलिये वहाँ नीची क्रिया होने पर भी उच्चपद प्रगट किया है-वही कषायी है। वस्त्रादि रखकर मुनिपना मनाया वहाँ मान कषाय का पोषण किया है। और सुगम क्रिया में उच्चपद बताया इससे बहुत लोग उसमें जुड़ गये। यह सब कल्पित कहा है इसलिये मिथ्यादृष्टि हैं। जिसको देवादिक के स्वरूप की खबर नहीं उसे भेदविज्ञान व सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता और सम्यग्दर्शन के बिना तो मुनिपना होता ही नहीं।

पण्डितजी ने इस श्वेताम्बरमत को अन्यमत में डाला है वह यथार्थ है; क्योंकि वे

श्वेताम्बर गृहीत मिथ्यादृष्टि हैं। जितने कल्पित मार्ग हुए हैं वे इस अनुसार ही हुए हैं। इसलिये श्वेताम्बरमत में वस्त्रादि रखकर मुनिपना मनाते हैं वह ऊपर कहे अनुसार विरूद्ध हैं। इस कारण वह कल्पित वचन है-ऐसा जानना।

....फिर कहोगे- दिगम्बर में भी शास्त्र, पींछी आदि उपकरण मुनि के कहे है; उसी प्रकार हमारे चौदह उपकरण कहे हैं?

समाधानः- जिससे उपकार हो उसका नाम उपकरण है । सो यहाँ शीतादिक की वेदना दूर करने से उपकरण ठहरायें तो सर्व परिग्रह सामग्री उपकरण नाम प्राप्त करे, परन्तु धर्म में उनका क्या प्रयोजन? वे तो पाप के कारण है; धर्ममें तो जो धर्म के उपकारी हों उनका नाम उपकरण है। वहाँ-शास्त्र ज्ञान का कारण, पींछी-दया का कारण, कमण्डल- शौच का कारण है, सो यह तो धर्मके उपकारी हुए, वस्त्रादिक किस प्रकार धर्म के उपकारी होंगे? वे तो शरीरसुख के अर्थ ही धारण किए जाते है।

और सुनो, यदि शास्त्र रखकर महंतता दिखायें, पींछी से बुहारी दें, कमण्डल से जलादिक पियें व मैल उतारें, तो शास्त्रादिक भी परिग्रह ही हैं; परन्तु मुनि ऐसे कार्य नहीं करते। इसलिये धर्म के साधन को परिग्रह संज्ञा नहीं है; भोग के साधन को परिग्रह संज्ञा होती है ऐसा जानना.......।

यहाँ कहोगे कि दिगम्बर में भी शास्त्र, पिच्छी आदि मुनि के उपकरण कहे हैं, उसी प्रकार हमारे यहाँ चौदह उपकरण हैं?

उसका समाधानः- यह बात योग्य नहीं है। क्योंकि जिससे उपकार हो उसे उपकरण कहते हैं; परन्तु वहाँ यदि सर्दी-गर्मी की वेदना दूर करने से उपकरण मानने में आवे तो सर्व परिग्रह सामग्री उपकरण कहलाये; परन्तु धर्म में उसका कुछ काम नहीं है, क्योंकि ये सब पाप के कारण हैं। धर्म में निमित्तरूप होते हो वैसे उपकरण धर्म के कारण कहलाते हैं। अब शास्त्र पीच्छी आदि तो धर्म के उपकरण हैं; परन्तु वस्त्रादि धर्म के उपकरण नहीं है; क्योंकि वे तो शरीर के सुख के लिये ही धारण किये जाते हैं। हाँ, यदि मुनि शास्त्र रखकर महंत कहलवावें, पिच्छी से झाड़ु निकालें तथा कमण्डलु से जलादि पीवें और मेल उतारे तो वे शास्त्रादिक भी परिग्रह ही हैं; परन्तु मुनि ऐसे कार्य करतें नहीं हैं, इसलिये धर्म के साधन को परिग्रह नहीं कहते; परन्तु भोग के निमित्त पदार्थ हैं वे परिग्रह हैं-ऐसा जानना।

.....फिर कहोगे- कमण्डल से तो शरीरही का मल दूर करते हैं; परन्तु मुनि मल दूर करने की इच्छा से कमण्डल नहीं रखते हैं। शास्त्र पढ़ना आदि कार्य करते हैं, वहाँ मललिप्त हों तो उनकी अविनय होगी, लोकनिंद्य होंगे; इसलिए इस धर्म के अर्थ कमण्डल रखते है। इस प्रकार पींछी आदि उपकरण सम्भवित हैं, वस्त्रादिको उपकरण संज्ञा सम्भव नहीं है।

काम, अरति आदि मोह के उदय से विकार बाह्य प्रगट हों, तथा शीतादि सहे नहीं जायेंगे, इसलिए विकार ढँकने को व शीतादि मिटाने को वस्त्रादि रखते हैं और मान के उदय से अपनी महंतता भी चाहते हैं, इसलिये उन्हें कल्पित युक्ति द्वारा उपकरण ठहराया है......।

यहाँ यदि तुम कहोगे कि कमण्डलु से तो शरीर का मल ही दूर करने में आता है? तो वहाँ कहते हैं कि मुनि मल दूर करनी की इच्छा से कमण्डलु नहीं रखते; परन्तु शास्त्र वांचनादि कार्य करे वहाँ मललिप्त होवें तो उनका अविनय होवे और लोक निंद्य हो- अतः धर्म के कारण कमण्डलु रखते है। इसीप्रकार अन्य उपकरणों का समझना; परन्तु वस्त्रादि नहीं रखते। अज्ञानियों ने कल्पित युक्ति द्वारा वस्त्रादिक को उपकरण ठहराया है, परन्तु वह ठीक नहीं है।

......तथा घर-घर याचना करके आहार लाना ठहराते हैं। सो पहले तो यह पूछते हैं कि याचना धर्म का अङ्ग है या पाप का अङ्ग है? यदि धर्म का अङ्ग है तो माँगने वाले सर्व धर्मात्मा हुए; और पाप का अङ्ग है तो मुनि के किस प्रकार सम्भव है?

फिर यदि तु कहेगा- लोभ से कुछ धनादिक की याचना करें तो पाप हो; यह तो धर्म साधन के अर्थ शरीर की स्थिरता करना चाहते हैं, इसलिये आहारादिक की याचना करते हैं?

समाधानः- आहारादि से धर्म नहीं होता, शरीर का सुख होता है; इसलिये शरीर सुख के अर्थ अतिलोभ होने पर याचना करते हैं। यदि अतिलोभ न होता तो आप किसलिये माँगता? वे ही देते तो देते, न देते तो न देते। तथा अतिलोभ हुआ वही पाप हुआ, तब मुनिधर्म नष्ट हुआ; दूसरा धर्म क्या साधेगा?

अब वह कहता है- मन में तो आहर की इच्छा हो और याचना न करे तो मायाकषाय हुई; और याचना करने में हीनता आती है सो गर्व के कारण याचना न करे मानकषाय हुई। आहार लेना था सो माँग लिया, इसमें अतिलोभ क्या हुआ और इससे मुनिधर्म किस प्रकार नष्ट हुआ? सो कहो।

उससे कहते है- जैसे कि व्यापारी को कमाने की इच्छा मन्द है सो दुकान पर तो बैठे और मन में व्यापार करने की इच्छा भी है; परन्तु किसी से वस्तु लेने-देनरूप व्यापार के अर्थ प्रार्थना नहीं करता है, स्वयमेव कोई आये तो अपनी विधि मिलने पर व्यापार करता है तो उसके लोभ की मन्दता है, माया व मान नहीं है। माया, मानकषाय तो तब होगी जब छल करने के अर्थ व अपनी महंतता के अर्थ ऐसा स्वांग करे। परन्तु अच्छे व्यापारी के ऐसा प्रयोजन नहीं है, इसलिये उनके माया-मान नहीं कहते। उसी प्रकार मुनियों के आहारादिक की इच्छा मन्द है। वे आहार लेने आते हैं और मन में आहार लेने की इच्छा भी है, परन्तु आहार के अर्थ प्रार्थना नहीं करते; स्वयमेव कोई दे तो अपनी विधि मिलने पर आहार लेते हैं, वहाँ उनके लोभकी मन्दता है, माया व मान नहीं है। माया-मान तो तब होगा जब छल करने के अर्थ व महंतता के अर्थ ऐसा स्वांग करें, परन्तु मुनियों के ऐसे प्रयोजन हैं नही, इसलिये उनके माया-मान नहीं है। यदि इसी प्रकार माया-मान हो, तो जो मन ही द्वारा पाप करते हैं, वचन-काय द्वारा नहीं करते, उन सबके माया ठहरेगी और उच्चपदवी के धारक नीचवृत्ति अंगीकार नहीं करते उन सबके मान ठहरेगा- ऐसा अनर्थ होगा.....।

वे घर-धर जाकर याचना करके आहार लाना ठहराते है। देखो, यह गुरू का स्वरूप कितना कल्पित कर दिया है? 'उपासक सूत्र' में गौत्तम गणधर आहार लेने गये है और आनन्द श्रावक के पास जाते है, वहाँ आनन्द श्रावक कहता है कि 'मुझे अवधि ज्ञान हुआ है,' परन्तु गौत्तम को उसका पता नहीं पड़ा- ऐसी भूल गौत्तम की हुई, और फिर उन्होंने श्रावक से माफी माँगी। ऐसी बहुत कल्पित बातें की है। अन्तर्मुहुर्त में बारह अंग की रचना करे ऐसे गणधर के भूल नहीं होती और उनकी भूल श्रावक निकाले यह बात नितान्त खोटी है। देखो, यहाँ वे कहते हैं कि याचना करना धर्म का अंग है। तो हम कहते

हैं कि यदि याचना को धर्म का अंग कहा जाए तो सभी माँगने वाले भिखारी भी धर्मी कहलायेंगे और यदि इसे पाप का अंग कहने में आवे तो मुनि को वह शोभता नहीं।

तथा तुम कहोंगे यदि लोभ से धनादिक की याचना की जावे तो पाप होता है। धर्म साधन के लिये शरीर को निभाने के प्रयोजन से मुनि आहार की याचना करते है, इसलिये उसमें दोष नहीं है। तो यह बात भी यथार्थ नहीं, क्योंकि आहार से धर्म होता नहीं है, बल्कि शरीर के सुख के लिये अतिलोभ होने पर याचना की जाती है। यदि अतिलोभ होवे नहीं तो माँगे नहीं। इसलिये वहाँ पाप है और इसकारण मुनि धर्म नष्ट होता है।

वहाँ तुम ऐसा कहोगे कि मन में इच्छा होवे और मांगें नहीं तो वहाँ माया कषाय हुई और याचना में दीनता है-ऐसा मानकर गर्व से न मांगें तो मान कषाय हुई । इसलिये आहार चाहिये था सो मांग लिया-इसमें कुछ दोष नहीं है।

उससे कहते हैं कि- जैसे किसी व्यापारी को कमाने की इच्छा मंद है, तो कमाने की इच्छा होने पर भी किसी से प्रार्थना नहीं करता, जो कोई ग्राहक अपने आप आवे तो व्यापार करता है तो वहाँ लोभ की मन्दता है; परन्तु माया-मान नहीं। उसी प्रकार मुनि को आहार की इच्छा मंद होती है, इससे वे आहार के लियें प्रार्थना नहीं करते, स्वयं सिद्धि हो जाये तो आहार लेते हैं, वहाँ मान-माया कषाय नहीं होती; क्योकि मुनि को ऐसा छल-कपट नहीं होता। लोगों में मान मिले इसलिये त्यागी होवे तो वहाँ मुनिपना नहीं है और मुनि के कदाचित् मन में परिणाम हो और वाणी व शरीर की क्रिया में नही जुड़े तो इससे कोई कपटी नहीं कहलाते। मुनि तो इन्द्र अथवा चक्रवर्ती आवे तो भी उन्हें पधारो-पधारो नहीं कहते-इससे वे मानी नही कहलाते। गुण को दोष में नहीं माना जाता। मुनि का मार्ग तो एक ही प्रकार का होता है; परन्तु उसमें स्थावरकल्पी और जिनकल्पी-ऐसे दो प्रकार हैं।

श्रीमद् ने कहा है कि-

एकाकी विचरू निर्जन शमशान में,
वन पर्वत में मिले सिंह संयोग से।
आसन रहे अडोल न मन में क्षोभ हो,
परम मित्र मम जानू पाये योग से।
तत्त्वभावना हृदय रात-दिन भाएगा,
अपूर्व अवसर ऐसा कब प्रभू आएगा ।।20।।

यह जिनकल्पी मुनि की बात है। और स्थावरकल्पी हो वे साधु के संग में रहते हैं; परन्तु ये दोनों नग्न दिगम्बर ही होते हैं। जिनकल्पी नग्न होते हैं और स्थावरकल्पी वस्त्र वाले होते हैं-ऐसा नहीं हैं। मुनि की क्रिया में कोई अन्तर नहीं है। भाई! जिसको गुरू के स्वरूप की खबर नहीं उसको सम्यग्दर्शन नहीं होता और जिसे सम्यग्दर्शन नहीं है उसको धर्म भी नहीं होता।

.....तथा तूने कहा- "आहार माँगनेमें अतिलोभ क्या हुआ?" सो अतिकषाय हो तब लोकनिंद्य कार्य अंगीकार करके भी मनोरथ पूर्ण करना चाहता है; और माँगना लोकनिंद्य है, उसे अंगीकार करके आहार की इच्छा पूर्ण करने की चाह हुई, इसलिये यहाँ अतिलोभ हुआ।

तथा तूने कहा-"मुनिधर्म कैसे नष्ट हुआ?" परन्तु मुनिधर्म में ऐसी तीव्रकषाय सम्भव नहीं है। तथा किसी के आहार देने का परिणाम नहीं था और इसने उसके घर में जाकर याचना की; वहाँ उसको संकोच हुआ और न देने पर लोकनिंद्य होने का भय हुआ, इसलिये उसे आहार दिया, परन्तु उसके (दातारके) अंतरंग प्राण पीड़ित होने से हिंसा का सद्भाव आया। यदि आप उसके घर में न जाते, उसी के देने का उपाय होता तो देता, उसे हर्ष होता। यह तो दबाकर कार्य कराना हुआ। तथा अपने कार्य के अर्थ याचनारूप वचन है वह पापरूप है, सो यहाँ असत्य वचन भी हुआ। तथा उसके देने की इच्छा नहीं थी, इसने याचना की, तब उसने अपनी इच्छा से नहीं दिया, संकोच से दिया इसलिये अदत्तग्रहण भी हुआ। तथा गृहस्थ के घर में स्त्री जैसी-तैसी बैठी थी और यह चला गया, सो वहाँ ब्रह्मचर्य की बाड़ का भंग हुआ। तथा आहार लाकर कितने काल तक रखा; आहारादिके रखने को पात्रादिक रखे वह परिग्रह हुआ । इस प्रकार पाँच महाव्रतों का भंग होने से मुनिधर्म नष्ट होता है, इसलिये मुनिको याचनासे आहार लेना युक्त नहीं है........ ।

जब अति कषाय होती है तब लोकनिंद्य कार्य करके भी इच्छा पूरी करना चाहता है। अब माँगना-वह लोकनिंद्य कार्य है। उस लोकनिंद्य कार्य को करके भी आहार की इच्छा पूरी करता है। इसलिये वह अति लोभ है। और मुनि होकर ऐसा कषाय करे तो वहाँ

मुनिपना नहीं है। तथा किसी को आहार देने की इच्छा न हो और उसके घर जाकर माँगे तो वहा घर वालों को संकोच हो और यदि वह न दे तो लोक में बुरा दिखे; इसलिये उसको आहार देना पड़ता है; परन्तु उसका दिल दुःखता है इसलिये हिंसा हुई । अर्थात् पहला व्रत (अहिंसा महाव्रत) नहीं रहा; इसलिये मुनिपना नहीं रहा। तथा अपने लिये याचना करना वह असत्य वचनरूप पाप है, इसलिये वहाँ दूसरा (सत्य महाव्रत) व्रत नहीं रहा। तथा इसने उसके घर जाकर याचना की, घर वालो को आहार देने की इच्छा नहीं थी और आहार दिया, इसलिये चोरी हुई, वहाँ तीसरा व्रत (अचौर्य महाव्रत) नहीं रहा। गृहस्थ के घर में स्त्री जैसे-तैसे बैठी हो और यह चला गया-इस कारण वहाँ ब्रह्मचर्य की बाड़ का भंग हुआ,वहाँ चोथा व्रत (ब्रह्मचर्य महाव्रत) नहीं रहा। तथा आहार लाकर कितने ही समय रखा व पात्रादि रखे, इसलिये वह परिग्रह हुआ। इस प्रकार पंचमहाव्रतों का भंग हुआ। इसलिये याचना पूर्वक आहार लेना वह मुनि को युक्त नहीं है। मुनिदशा ऐसी होती है कि वे किसी के पास याचना नहीं करते ।

......फिर वह कहता है- मुनि के बाईस परीषहों में याचनापरीषह कहा है; सो माँगे बिना उस परीषह का सहना कैसे होगा?

समाधानः- याचना करने का नाम याचनापरीषह नहीं है। याचना न करने का नाम याचनापरीषह है। जैसे-अरति करने का नाम अरतिपरीषह नहीं है; अरति न करने का नाम अरतिपरीषह है-ऐसा जानना। यदि याचना करना परीषह ठहरे तो रंकादि बहुत याचना करते हैं, उनके बहुत धर्म होगा। और कहोगे- मान घटाने के कारण इसे परीषह कहते हैं, तो किसी कषाय-कार्य के अर्थ कोई कषाय छोड़ने पर भी पापी ही होता है। जैसे- कोई लोभ के अर्थ अपने अपमान को भी न गिने तो उसके लोभ की तीव्रता है, उसे अपमान कराने से भी महापाप होता है। और आपके कुछ इच्छा नहीं है, कोई स्वयमेव अपमान करे तो उसके महाधर्म है; परन्तु यहाँ तो भोजन के लोभ के अर्थ याचना करके अपमान कराया इसलिये पाप ही है, धर्म नहीं है। तथा वस्त्रादिक के अर्थ भी याचना करता है, परन्तु वस्त्रादिक कोई धर्म का अंग नहीं है, शरीर सुख का कारण है इसलिये पूर्वोक्त प्रकार से उसका निषेध जानना । देखो, अपने धर्मरूप

उच्चपद को याचना करके नीचा करते हैं सो उसमें धर्मकी हीनता होती है -इत्यादि अनेक प्रकार से मुनिधर्म में याचना आदि सम्भव नहीं है; परन्तु ऐसी असम्भवित क्रिया के धारक को साधु-गुरू कहते हैं। इसलिये गुरूका स्वरूप अन्यथा कहते हैं......।

अब वह कहता है कि - मुनि के बाईस प्रकार के परीषह हैं । उनमें एक याचना परीषह कहा है, इसलिये माँगे बिना इस परीषह का सहना कैसे होगा?

उसका समाधान :- याचना करने का नाम याचना परीषह नहीं है, परन्तु याचना नहीं करना वह याचना परीषह है। जैसे अरति न करने का नाम अरति परीषह है। मुनि की तो सिंहवृत्ति होनी चाहिये। यदि याचना करना वह याचना परीषह होवे तो भिखारी बहुत याचना करता है तो उसको बहुत धर्म हो जाये। तथा तुम कहोगे कि मान घटाने से इसे परीषह कहते हैं; परन्तु एक मान कषाय घटाकर दूसरी लोभ कषाय करना वह तो पाप ही है। यदि अपने को इच्छा न हो और कोई अपमान करे और सहन करे तो धर्म होता है; परन्तु याचना करके अपमान सहन करना वह तो पाप ही है, धर्म नहीं। तथा वस्त्रादि के लिये भी याचना करते हैं, परन्तु वह कोई धर्म का अंग नहीं है, बल्कि शरीर को सुख का कारण है, इसलिये वस्त्रादि माँगना भी योग्य नहीं है। स्वयं उच्चपद होने पर भी नीची क्रिया करे उसमें तो धर्म की हीनता होती है। इसलिये ऐसे साधु को गुरू मानना मिथ्यादृष्टि है ।

इस प्रकार श्वेताम्बरमत में देव-गुरू का स्वरूप विपरीत कहते हैं ।

धर्मका अन्यथा स्वरूप

....तथा धर्म का स्वरूप अन्यथा कहते हैं। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र इनकी एकता मोक्षमार्ग है, वही धर्म है- परन्तु उसका स्वरूप अन्यथा प्ररूपित करते हैं। सो कहते हैं:-

तत्त्वार्थश्रद्धान सम्यग्दर्शन है; उसकी तो प्रधानता नहीं है। आप जिस प्रकार अरहंतदेव-साधु-गुरू-दया-धर्म का निरूपण करते हैं उसके श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहते हैं। वहाँ प्रथम तो अर्हंतादिक का स्वरूप अन्यथा कहते हैं; तथा इतने ही श्रद्धान से तत्त्वश्रद्धान हुए बिना सम्यक्त्व कैसे होगा? इसलिये मिथ्या कहते हैं।

तथा तत्त्वों के भी श्रद्धान को सम्यक्त्व कहते हैं तो प्रयोजनसहित तत्त्वों का श्रद्धान नहीं कहते। गुणस्थान-मार्गणादिरूप जीवका, अणु-स्कन्धादिरूप अजीवका, पाप-पुण्य के स्थानों का, अविरति आदि आस्रवों का, व्रतादिरूप संवरका, तपश्चरणादिरूप निर्जराका, सिद्ध होने के लिंगादि के भेदों से मोक्षका स्वरूप जिस प्रकार उनके शास्त्रों में कहा है उस प्रकार सीख लेना; और केवली का वचन प्रमाण है- ऐसे तत्त्वार्थ श्रद्धान से सम्यक्त्व हुआ मानते हैं......।

अब वे धर्म का स्वरूप विपरीत प्रकार कहते हैं उसको बात करते है।

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकता वह मोक्षमार्ग है और वही धर्म है। वे उसका स्वरूप विपरीत प्ररूपण करते हैं। वह कहते हैं :-

तत्वार्थ श्रद्धान सम्यग्दर्शन है-इसकी तो उन्हें खबर भी नहीं है और स्वयं जैसे अरिहन्त देव-साधु गुरू और दया धर्म का निरूपण करते हैं उसके श्रद्धान को सम्यक्त्व कहते हैं। अब उसमें प्रथम तो वे अरिहन्तादिक का स्वरूप ही अन्यथा कहते हैं। अर्थात् उनको देव-गुरू-धर्म की भी सच्ची श्रद्धा नहीं हैं। तथा तत्वार्थ श्रद्धान हुए बिना मात्र देवादिक के श्रद्धान से सम्यग्दर्शन नहीं होता। तथा वे तत्वों के श्रद्धान को सम्यक्त्व तो कहते हैं; परन्तु प्रयोजन पूर्वक तत्वों का श्रद्धान नहीं कहते। अर्थात् अप्रयोजनभूत तत्वों की श्रद्धा करे, परन्तु यथार्थ तत्वों को नहीं जाने और श्रद्धान नहीं करे तो उन्हें सम्यक्त्व कैसा? तत्वों में गुणस्थान-मार्गणास्थान वह जीव का, अणु-स्कंधादि वह अजीव का, पुण्य-पाप के स्थानो का, अविरति आदि आस्रवों का, व्रतादिरूप संवर का, तपश्चरणादि रूप निर्जरा का, और पन्द्रह भेद से सिद्ध हुए-आदि रूप मोक्ष का स्वरूप जैसा उनके शास्त्रों में लिखा है उस अनुसार सीख लेना और केवली का वचन प्रमाण है-ऐसे तत्वार्थ श्रद्धान को वे सम्यक्त्व मानते हैं।

.....सो हम पूछते हैं कि- ग्रैवेयक जानेवाले द्रव्यलिंगी मुनिके ऐसा श्रद्धान होता है या नहीं? यदि होता है तो उसे मिथ्यादृष्टि किसलिये कहते हैं? और नहीं होता है तो उसने तो जैनलिंग धर्मबुद्धि से धारण किया है, उसके देवादिक की प्रतीति कैसे नहीं हुई? और उसके बहुत शास्त्राभ्यास है सो उसने जीवादि के भेद कैसे नहीं जाने? और अन्यमत का लवलेश

भी अभिप्राय में नहीं है, उसको अरहंत वचन की कैसे प्रतीति नहीं हुई? इसलिये उसके ऐसा श्रद्धान तो होता है; परन्तु सम्यक्त्व नहीं हुआ। तथा नारकी, भोग-भूमिया, तिर्यंच आदि को ऐसा श्रद्धान होने का निमित्त नहीं है, तथा उनके बहुतकालपर्यन्त सम्यक्त्व रहता है, इसलिये उनके ऐसा श्रद्धान नहीं होता, तब भी सम्यक्त्व हुआ है।

इसलिये सम्यक् श्रद्धान का स्वरूप यह नहीं है। सच्चा स्वरूप है उसका वर्णन आगे करेंगे सो जानना......।

अब ऐसा श्रद्धान तो नौवें ग्रैवेयक जाने वाले द्रव्यलिंगी को अनन्तबार हुआ है, तो भी वह मिथ्यादृष्टि है। वह जैन का साधु धर्मबुद्धि पूर्वक हुआ हैं, फिर भी उसके ऐसी श्रद्धा कैसे नहीं हुई? शास्त्राभ्यास तो बहुत हैं, फिर भी उसने जीवादिक के भेद कैसे नहीं जाने? और उसे जैनधर्म के सिवाय अन्य की लेशमात्र श्रद्धा नहीं है, फिर भी उसे अरहन्तादिक की प्रतीति कैसे नहीं हुई? उसको ऐसा श्रद्धान तो है; परन्तु सम्यग्दर्शन नहीं हैं; क्योकि तत्वार्थ श्रद्धान यथार्थ नहीं हुआ है। तथा नारकी, भोगभूमिया और तिर्यन्च आदि को देवादि की श्रद्धा होने का निमित नहीं हैं फिर भी उन्हें बहुत काल तक सम्यग्दर्शन रहता है। इसलिये देवादिक की श्रद्धा करना वह सम्यग्दर्शन का लक्षण नहीं है। सम्यग्दर्शन किसको कहना?- यह बात आगे कहेंगे। आत्मा की यथार्थ श्रद्धा वह सम्यग्दर्शन है। देवादिक की श्रद्धा वह वास्तविक कारण नहीं हैं।

यहाँ श्वेताम्बरमत का निराकरण चल रहा है। वह मत भगवान महावीर के बाद निकला है, कल्पित है। उनके कहे हुए देवादिक को मानने को वे सम्यग्दर्शन कहते हैं; परन्तु उसका नाम सम्यग्दर्शन नहीं हैं। और कोई यथार्थ देवादिक की श्रद्धा करे तो वह भी सम्यग्दर्शन नहीं है; किन्तु आत्मा की यथार्थ श्रद्धा करना सम्यग्दर्शन है।

......तथा उनके शास्त्रों का अभ्यास करना उसे सम्यग्ज्ञान कहते हैं; परन्तु द्रव्यलिंगी मुनिके शास्त्राभ्यास होने पर भी मिथ्याज्ञान कहा है, असंयत सम्यग्दृष्टि का विषयादिरूप जानना उसे सम्यग्ज्ञान कहा है।

इसलिये यह स्वरूप नहीं है। सच्चा स्वरूप आगे कहेंगे सो जानना...।

अब वे शास्त्र का अभ्यास करने को सम्यग्ज्ञान कहते हैं; परन्तु वह सम्यग्ज्ञान नहीं है, क्योंकि द्रव्यलिंगी मुनि के शास्त्राभ्यास होने पर भी मिथ्याज्ञान है। शास्त्राभ्यास तो

विकल्प और राग है। आत्मा का स्वसंवेदन होना वह सम्यग्ज्ञान है। उसके बिना ग्यारह अंग और नौ पूर्व के ज्ञान को भी मिथ्याज्ञान कहते हैं और सम्यग्दृष्टि को चौथे गुणस्थान में विषय-कषाय के समय भी सम्यग्ज्ञान है क्योंकि शरीरादि की क्रिया जड़ की और मैं ज्ञानानन्द स्वभावी हूँ- ऐसा ज्ञान उसको उस समय भी वर्तता है। मिथ्यग्दृष्टि के शास्त्रज्ञान के समय भी मिथ्याज्ञान है और सम्यग्दृष्टि के विषय-कषाय के समय भी सम्यग्ज्ञान है।

सम्यग्दृष्टि रागादि होते है उन्हें जानता है इसलिये उसका ज्ञान सम्यग्ज्ञान है। यह बात आगे कहूँगा- ऐसा पण्डित जी कहते हैं।

.......तथा उनके द्वारा निरूपित अणुव्रत-महाव्रतादिरूप श्रावक-यतिका धर्म धारण करने से सम्यक्चारित्र हुआ मानते हैं; परन्तु प्रथम तो व्रतादिका स्वरूप अन्यथा कहते हैं वह कुछ पहले गुरू वर्णनमें कहा है। तथा द्रव्यलिंगीके महाव्रत होनेपर भी सम्यक्चारित्र नहीं होता, और उनके मतके अनुसार गृहस्थादिकके महाव्रतादि बिना अंगीकार किये भी सम्यक्चारित्र होता है।

इसलिये यह स्वरूप नहीं। सच्चा स्वरूप दूसरा है सो आगे कहेंगे....।

अब श्वेताम्बरमत वाले चारित्र को विपरीतरूप से मानते हैं, वह कहते हैं। :-

उनके द्वारा निरूपित किये हुए अणुव्रत-महाव्रतादिरूप श्रावक यति का धर्म धारने से सम्यक्चारित्र हुआ मानते है; परन्तु प्रथम तो वे व्रतादि का स्वरूप ही विपरीत कहते हैं- यह बात पूर्व में आ गई है। तथा द्रव्यलिंगी के पंच महाव्रत होते हैं। हिंसा, असत्य, चोरी आदि के परिणाम उसके नहीं है, वह वस्त्र भी नहीं रखता- ऐसी ममता घटने पर भी उसके सम्यक्चारित्र नहीं होता; क्योंकि व्रत सम्यक्चारित्र नहीं है; परन्तु आत्मा के भान पूर्वक अकषायभाव होकर स्वरूप में रमणता होना और आनन्ददशा में स्थिर होना- उसका नाम चारित्र है। पंचमहाव्रत के परिणाम तो आस्रव- पुण्यभाव हैं, वे चारित्र नहीं हैं। अज्ञानी उन्हें चारित्र मानता है।

तथा वे गृहस्थ को महाव्रत धारण किये बिना भी चारित्र कहते हैं यह बात भी मिथ्या है। पंचमहाव्रत बिना और नग्नदशा हुए बिना किसी को चारित्र नहीं होता। भरतचक्रवर्ती को काँचभवन में और मरूदेवी माता को हाथी के औदे पर केवलज्ञान हुआ कहते हैं- यह सब कल्पित बातें है। नग्नदशा हुए बिना तीन काल में किसी को (मुनिदशारूप)

सम्यक्चारित्र नहीं होता वह सम्यक्चारित्र कैसा होता है यह आगे कहेंगे।

.....यहाँ वे कहते हैं- द्रव्यलिंगीके अन्तरंगमें पूर्वोक्त श्रद्धानादिक नहीं हुए, बाह्य ही हुए हैं; इसलिए सम्यक्त्वादि नहीं हुए।

उत्तरः यदि अन्तरंग नहीं हैं और बाह्य धारण करता है, तो वह कपटसे धारण करता है। और उसके कपट हो तो ग्रैवेयक कैसे जाये? वह तो नरकादिमें जायेगा। बन्ध तो अन्तरंग परिणामों से होता है; इसलिए अन्तरंग जैनधर्मरूप परिणाम हुए बिना ग्रैवेयक जाना सम्भव नहीं है।

तथा व्रतादिरूप शुभोपयोगहीसे देवका बन्ध मानते हैं और उसीको मोक्षमार्ग मानते हैं, सो बन्धमार्ग मोक्षमार्ग को एक किया; परन्तु यह मिथ्या है।

तथा व्यवहारधर्ममें अनेक विपरीतताएँ निरूपित करते हैं। निंदकको मारनेमें पाप नहीं है ऐसा कहते हैं; परन्तु अन्यमती निन्दक तीर्थंकरादिक के होनेपर भी हुए; उनको इन्द्रादिक मारते नहीं है; 'यदि पाप न होता तो इन्द्रादिक क्यों नहीं मारते? तथा प्रतिमाजी के आभरणादि बनाते हैं; परन्तु प्रतिबिम्ब तो वीतरागभाव बढ़ानेके लिए स्थापित किया था, आभरणादि बनानेसे अन्यमतकी मूत्तिवत् यह भी हुए। इत्यादि कहाँ तक कहें ? अनेक अन्यथा निरूपण करते हैं।

इसप्रकार श्वेताम्बर मत कल्पित जानना। यहाँ सम्यग्दर्शनादिकके अन्यथा निरूपणसे मिथ्यादर्शनादिकहीकी पुष्टता होती है; इसलिये उसका श्रद्धानादि नहीं करना......।

यहाँ वे कहते है कि द्रव्यलिंगी के अन्तरंग में पूर्वोक्त श्रद्धानादि नहीं है, मात्र बाह्य ही हुए है इसकारण उसको सम्यक्चारित्र नहीं हुआ?

उत्तरः- अन्तरंग में वीतराग देवादि की श्रद्धा न हो और बाह्य (श्रद्धा-वेष) धारण करता है तो वह कपटी हुआ और जिसके कपट होवे वह नौवें ग्रैवेयक तक नहीं जाता। देवादि की यथार्थ श्रद्धा करना तो शुभभाव है। द्रव्यलिंगी साधु कुदेवादि को नहीं मानता, पंचमहाव्रत भलीभांति पालता है और शरीर के खण्ड-खण्ड होने पर भी कषाय नहीं करता, इन्द्रानी डिगाने आने पर भी विषयों की इच्छा नहीं करता-ऐसे शुभ परिणाम मन में वीतराग की श्रद्धा पूर्वक थे; परन्तु आत्मा पर से भिन्न है, रागादि से आत्मा भी वास्तव में

भिन्न है- इसका भान उसको नहीं था; इसकारण वह मिथ्यादृष्टि रहा। वह देव-शास्त्र-गुरू को मानता है, परन्तु मेरा स्वरूप उनसे भिन्न है यह बात उसको नहीं जंचती। पंचमहाव्रत पालता है, परन्तु वह शुभभाव है; उनके आश्रय से धर्म नहीं है- इस बात का उसको पता नहीं है। आत्मा ज्ञानानन्द चैतन्यमूर्ति है- इसकी उसको श्रद्धा नहीं है। वह क्रियाकाण्ड और पुण्य के आश्रय से धर्म होना मानता है- इसकारण मिथ्यादृष्टि है।

तथा श्वेताम्बर के "ज्ञातासूत्र" में मेघकुमार का अधिकार है उसमें कहा है कि मेघकुमार के जीव ने पूर्व में हाथी के भव में खरगोश की दया पाली इससे उसने संसार पार किया; परन्तु खरगोश की दया पालना शुभभाव है, उससे शुद्धभाव हो-ऐसा नहीं बनता। शुभ परिणामों से बंध हो और मोक्ष भी हो जाये- ऐसा जो मानते है वे शुभभाव से बंध भी मानते है और मोक्ष भी मानते है; अतः ऐसा मानने वाले मिथ्यादृष्टि हैं।

तथा उनके "विपाकसूत्र" में कहा है कि मिथ्यादृष्टि गृहस्थ ने मुनि को आहार दिया इससे संसार पार किया- यह बात भी कल्पित है; क्योंकि दान देने का भाव तो शुभ है, उससे संसार का अभाव नहीं होता। उसने बंधमार्ग और मोक्षमार्ग को एक माना है। श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव जैसे भावलिंगी संत को भी आहार देने से तो शुभभाव ही होता है, इससे धर्म नहीं होता। मिथ्यादृष्टि जीव सच्चे मुनि को आहार दान दे तो वह दान के शुभ परिणाम से भोगभूमि में जुगलिया होता है; परन्तु उससे भव का अभाव नहीं होता। सम्यग्दृष्टि भी आहार देने के भाव करे तो उसे भी बंध ही होता है। बंधमार्ग और मोक्षमार्ग एक नहीं है इसलिये पहले सच्ची श्रद्धा करो, श्रद्धा के बिना चारित्र नहीं होता।

जिस परिणाम से धर्म होता है उस परिणाम से बंध नहीं होता और जिस परिणाम से बंध होता उससे धर्म नहीं होता। मुनि और श्रावक को भी शुभभाव तो होते हैं, परन्तु वे समझते हैं कि यह बंध मार्ग है।

तथा वे व्यवहारधर्म में भी अनेक विपरीत निरूपण करते हैं। निंदा करने वाले को मारने में पाप नहीं है- ऐसा वे कहते हैं; परन्तु यह बात भी सही नहीं है; क्योंकि तीर्थंकरों की उपस्थिति में भी अन्यमती निन्दा करने वाले बहुत थे तो भी इन्द्रादिक ने उन्हें मारा नहीं। यदि पाप नहीं होता तो वे क्यों नहीं मारते? इसलिये यह बात भी मिथ्या है। अभी भी श्वेताम्बरमत में आचार्य नाम धराकर विरोधी को मारने में पाप नहीं है- ऐसा कहते

हैं और बहुत झगड़ा करते हैं; परन्तु वीतराग का मार्ग ऐसा नहीं हो सकता। जैनियों को तो विरोधियों को भी मारने के परिणाम नहीं होते।

तथा प्रतिमा को आभरण आदि बनाते हैं। वीतराग प्रतिमा के ऊपर वस्त्र-गहने आदि नहीं होते। वस्तुतः तो प्रतिमा के ऊपर फूल, लेप आदि भी नहीं होता, क्योंकि प्रतिमा तो वीतरागता को बढ़ाने के लिये निमित्त है। यहाँ वे आभरण आदि पहनाते हैं यह अन्यमत का अनुसरण किया है- इत्यादिक अनेक प्रकार की कल्पित बातें की है। कहाँ तक कहे ? (इसप्रकार) श्वेताम्बरमत कल्पित जानना। एक वीतरागमार्ग दिगम्बर जैनधर्म के सिवाय सभी मार्ग कल्पित है- ऐसा समझना। आज मानो, कल मानो- इसी को मानने से छुटकारा है। यह एक ही मार्ग सत्य है। मार्ग का स्वरूप तो वीतरागदेव ने कहा वही सत्य है। श्वेताम्बरमत कल्पित है- इसकारण उसको मानने से मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र की पुष्टि होती है इसलिये उनकी बात नहीं मानना चाहिये।

ढूँढकमत विचार

.........तथा इन श्वेताम्बरोंमें ही ढूँढ़िये प्रगट हुए हैं; वे अपनेको सच्चा धर्मात्मा मानते हैं, सो भ्रम है। किसलिये? सो कहते हैं :-

कितने ही तो भेष धारण करके साधु कहलाते हैं; परन्तु उनके ग्रन्थोंके अनुसार भी व्रत, समिति, गुप्ति आदिका साधन भासित नहीं होता। और देखो! मन-वचन-काय, कृति-कारित-अनुमोदनासे सर्व सावद्ययोग त्याग करनेकी प्रतिज्ञा करते हैं; बादमें पालन नहीं करते। बालकको व भोलेको व शूद्रादिकको भी दीक्षा देते हैं। इसप्रकार त्याग करते हैं और त्याग करते हुए कुछ विचार नहीं करते कि- क्या त्याग करता हूँ? बादमें पालन भी नहीं करते और उन्हें सब साधु मानते हैं।

तथा यह कहता है- बादमें धर्मबुद्धि हो जायेगी तब तो उसका भला होगा? परन्तु पहले ही दीक्षा देनेवालेने प्रतिज्ञा भंग होती जानकर भी प्रतिज्ञा करायी, तथा इसने प्रतिज्ञा अंगीकार करके भंग की, सो यह पाप किसे लगा? बादमें धर्मात्मा होनेका निश्चय कैसा? तथा जो साधुका धर्म अंगीकार करके यथार्थ पालन न करे उसे साधु मानें या न मानें? यदि मानें तो जो साधु, मुनि नाम धारण करते हैं और भ्रष्ट हैं उन सबको साधु

मानो। न मानें तो इनके साधुपना नहीं रहा। तुम जैसे आचरण से साधु मानते हो, उसका भी पालन किसी विरलेके पाया जाता है; सबको साधु किसलिये मानते हो?

अब स्थानकवासी की बात करते हैं। श्वेताम्बर में से ही ढूढ़िया निकले है। इन्होंने तो प्रतिमा को भी उड़ाया है। पण्डितजी ने स्थानकवासीमत को जैनमत में नहीं कहा है, अन्यमत कहा है। वे अपने को सच्चा धर्मात्मा मानते है; परन्तु यह भ्रम है। किसलिये? वही यहाँ कहते हैं :-

कोई तो वेष धारण करके अपने को साधु कहलवाते हैं; परन्तु वे उनके ग्रन्थानुसार भी व्रत-समिति-गुप्ति आदि का पालन करते होवे- ऐसा भी नहीं दिखता। जैसे प्रतिज्ञा ली थी उस अनुसार पालन नहीं करते। नौ-नौ कोटि से त्याग लेकर बाद में पालन नहीं करते। बालक को दीक्षा देते है, भोले को दीक्षा देते है। कुम्हार, रेबारी, भाट आदि को दीक्षा देते है। त्याग करते समय विचार नहीं करते। नौ-नौ कोटि से त्याग करते है; परन्तु अभी मिथ्यात्व के त्याग का ठिकाना नहीं है। फिर सब उन्हें साधु मानते हैं। वे कहते है कि पहले दीक्षा दे दें फिर धर्म प्राप्त करेगा अर्थात् उसका भला होगा। परन्तु यह योग्य नहीं है, क्योंकि पहले से ही दीक्षा देने वाले ने प्रतिज्ञा भंग होती जानकर भी प्रतिज्ञा भंग कराई तो उसका दोष किसको लगा? और बाद में वह धर्म पायेगा ही इसकी गारन्टी क्या?

तथा जो साधुधर्म अंगीकार करके यथार्थ पालन नहीं करते उनको साधु मानना या नहीं मानना? यदि मानना, तो जो साधु मुनि नाम धराते है और भ्रष्ट है उन्हें भी साधु मानो और यदि साधु नहीं मानना तो उनके साधुपना नहीं रहा। यथार्थ साधुपना पालन करने वाला तो कोई है नहीं- ऐसा निश्चित होता है-

.......यहाँ कोई कहे- हम तो जिसके यथार्थ आचरण देखेंगे उसे साधु मानेंगे, और को नहीं मानेंगे। उससे पूछते हैं- एक संघमें बहुत भेषी हैं; वहाँ जिसके यथार्थ आचरण मानते हो, वह औरोंको साधु मानता है या नहीं मानता? यदि मानता है तो तुमसे भी अश्रद्धानी हुआ, उसे पूज्य कैसे मानते हो? और नहीं मानता तो उससे साधुका व्यवहार किसलिये वर्तता है? तथा आप तो उन्हें साधु न मानें और अपने संघ में रखकर औरोंसे साधु मनवाकर औरोंको अश्रद्धानी करता है ऐसा कपट किसलिये करता है? तथा तुम

जिसको साधु नहीं मानोगे तब अन्य जीवोंको भी ऐसा ही उपदेश करोगे कि- 'इनको साधु मत मानो,' इससे तो धर्मपद्धतिमें विरोध होता है। और जिसको तुम साधु मानते हो उससे भी तुम्हारा विरोध हुआ, क्योंकि वह उसे साधु मानता है। तथा तुम जिसके यथार्थ आचरण मानते हो, वहाँ भी विचारकर देखो; वह भी यथार्थ मुनिधर्मका पालन नहीं करता है।

कोई कहे- अन्य भेषधारियोंसे तो बहुत अच्छे हैं, इसलिये हम मानते हैं; परन्तु अन्यमतोंमें तो नानाप्रकारके भेष सम्भव हैं, क्योंकि वहाँ रागभावका निषेध नहीं है। इस जैनमतमें तो जैसा कहा है, वैसा ही होने पर साधुसंज्ञा होती है...।

अब कोई कहे कि हम तो जिनमें अथार्थ आचरण देखेंगे उन्हें ही साधु मानेंगे अन्य को नहीं मानेंगे। तो हम उससे पूछते है कि एक संघ में बहुत वेषधारी है वहाँ तुम जिसको यथार्थ आचरण मानते हो वह अन्य को साधु मानता है या नहीं? यदि वह अन्य को साधु मानता है तो वह तुम्हारी अपेक्षा भी अश्रद्धानी हुआ, सो ऐसा अश्रद्धानी साधु पूज्य कैसे हुआ? और यदि वह अन्य साधु नहीं मानता तो अन्य साधुओं के साथ व्यवहार किसलिये रखता है?

देखो! यही बात दिगम्बर में भी लागू पड़ती है। जिसको तुम यथार्थ श्रद्धानी मानते हो और वह अश्रद्धानी की प्रशंसा करता हो तो श्रद्धानी और अश्रद्धानी में भेद नहीं रहा दोनो ही समान हुए। अतः तुम जिसे श्रद्धानी मानते हो वह श्रद्धानी नहीं रहा और तुम भी अश्रद्धानी हुए। इसलिये श्रद्धानी-अश्रद्धानी का निर्णय करना चाहिये।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने दर्शनपाहुड़- गाथा 3 में कहा है कि-

दंसणभट्ठा भट्ठा दंसणभट्ठस्स थात्थि णिव्वाणं ।
सिंजझंति चरित्रभट्ठा दंसणभट्ठाण सिजझंति।।
दृग भ्रष्ट है वे भ्रष्ट हैं, उनको कभी निर्वाण ना।
हो सिद्ध चारित्र भ्रष्ट पर, दृग भ्रष्ट को निर्वाण ना।

जो पुरूष दर्शन से भ्रष्ट है वह निर्वाण को नहीं पाता- यह प्रसिद्ध है और चारित्र से भ्रष्ट है वह सिद्धि को प्राप्त होता है। दर्शन भ्रष्ट सिद्धि को प्राप्त नहीं होता। इसलिये दर्शन शुद्धि अर्थात् सच्ची श्रद्धा करनी चाहिये।

यह बात मध्यस्थता से समझने जैसी है। वीतराग का मार्ग एक ही प्रकार का था। उसमें से दो हजार वर्ष पहले श्वेताम्बरमत निकला और फिर उसमें से स्थानकवासीमत निकला है। अब वे जिनको साधु मानते हैं उनका भी ठिकाना नहीं है। स्वयं अन्य को साधुपना न मानते होने पर भी अन्य से उन्हें साधुपना मनावे- यह तो कपट भाव हुआ। वस्तुतः वह साधु नहीं है- ऐसा कहना चाहिये; परन्तु ऐसा कहने पर संघ में विरोध होता है और सम्प्रदाय में नहीं रह सकते। इसलिये वे कहते हैं कि अपनी आत्मा का यथार्थ भान करके अपना कल्याण करना; परन्तु जैसा वे कहते हैं वैसा वीतराग का मार्ग नहीं है- ऐसा जानना।

जिसमें तुम यथार्थ आचरण मानते हो, वहाँ विचार करके देखो तो वह भी यथार्थ मुनिधर्म नहीं पालता। शास्त्राभ्यास किया होवे परन्तु विपरीत श्रद्धा को यथार्थ कहे तो धर्म पद्धति से विरूद्धता होती है। तुम कहोगे कि अन्य वेषधारी की अपेक्षा यह अच्छा है इसलिये हम साधु मानते है। परन्तु अन्यमत में तो अनेक प्रकार के वेष होते हैं; क्योंकि वहाँ राग भाव का निषेध नहीं है; परन्तु इस जैनमत में तो जैसा कहा हो वैसा ही होने पर साधु संज्ञा होती है; जैनमत में ऐसी गरबड़ नहीं चलती है।

.......यहाँ कोई कहे- शील-संयमादि पालते हैं, तपश्चरणादि करते हैं; सो जितना करें उतना ही भला है।

समाधानः- यह सत्य है, धर्म थोड़ा भी पाला हुआ भला ही है; परन्तु प्रतिज्ञा तो बड़े धर्मकी करें और पालें थोड़ा, तो वहाँ प्रतिज्ञाभंगसे महापाप होता है। जैसे कोई उपवास की प्रतिज्ञा करके एक बार भोजन करे तो उसके बहुलबार भोजनका संयम होने पर भी प्रतिज्ञा भंगसे पापी कहते हैं, उसी प्रकार मुनिधर्मकी प्रतिज्ञा करके कोई किंचित् धर्म न पाले, तो उसे शील-संयमादि होने पर भी पापी कहते हैं। और जैसे एकंत (एकाशन) की प्रतिज्ञा करके एकबार भोजन करे तो धर्मात्मा ही है; उसी प्रकार अपना श्रावकपद धारण करके थोड़ा भी धर्म साधन करे तो धर्मात्मा ही है। यहाँ ऊँचा नाम रखकर नीची क्रिया करनेमें पापीपना सम्भव है। यथायोग्य नाम धारण करके धर्मक्रिया करनेसे तो पापीपना होता नहीं है; जितना धर्म साधन करे उतना ही भला है......।

यहाँ कोई कहे कि वे शील संयमादि पालते हैं तपश्चरणादि करते है; अतः जितना करते है इतना तो भला है ना।

उसका समाधानः-यह सत्य है कि जितना धर्म करे उतना तो अच्छा है; परन्तु प्रतिज्ञा तो महान धर्म की करे और पालन करे थोड़ा-यह तो प्रतिज्ञा भंग से महापाप होता है।

मुनिपने की प्रतिज्ञा करे और पालन नहीं करे, प्रतिज्ञा क्षुल्लक की करे और पालन नहीं करे तो वहाँ व्यवहार भी यथार्थ नहीं है। क्षुल्लक को उसके निमित्त से बनाया आहार नहीं चलता, तो भी अपने लिये बनाया आहार ले तो वह पाप है। जैनमत में प्रतिज्ञा न लेने का दण्ड नहीं है, परन्तु प्रतिज्ञा लेकर पालन नहीं करे तो दण्ड है। एक उपवास की प्रतिज्ञा लेकर थोड़ा भी आहार ले तो प्रतिज्ञा भंग का महापाप लगता है। नौ-नौ कोटि से मुनिपने की प्रतिज्ञा करके साधुपना नहीं पालने वाला तो महापापी है। यही बात दिगम्बर जैन में भी लागू पड़ती है। वीतराग के मार्ग में प्रतिज्ञा भंग करना महापाप है- ऐसा कहा है। ऊँचा नाम धराकर नीचे क्रिया करने वाला तो मिथ्यादृष्टि महापापी है। जैसे एक कोई एकासन की प्रतिज्ञा करके एकबार भोजन करे तो वह धर्मात्मा है; परन्तु ऊँचा नाम धराकर नीची क्रिया करे तो वह शील-संयमादि पालते हुए भी मिथ्यादृष्टि पापी ही है।

पण्डितजी ने यथार्थ बात कही है। यदि यथायोग्य नाम धराकर धर्म क्रिया करता हो तो वह पापी नहीं- ऐसा समझना चाहिये।

.....यहाँ कोई कहे- पंचमकालके अंतपर्यन्त चतुर्विध संघका सद्भाव कहा है। इनको साधु न मानें तो किसको माने?

उत्तरः- जिस प्रकार इसकालमें हंसका सद्भाव कहा है, और गम्यक्षेत्रमें हंस दिखायी नहीं देते, तो औरोको तो हंस माना नहीं जाता; हंसका लक्षण मिलनेपर ही हंस माने जाते हैं। उसी प्रकार इसकालमें साधुका सद्भाव है, और गम्यक्षेत्रमें साधु दिखायी नहीं देते, तो औरोंको तो साधु माना नहीं जाता; साधु का लक्षण मिलनेपर ही साधु माने जाते हैं। तथा इनका प्रचार भी थोड़े ही क्षेत्रमें दिखायी देता है, वहाँसे दूरके क्षेत्रमें साधुका सद्भाव कैसे माने? यदि लक्षण मिलनेपर मानें तो यहाँ भी इसी प्रकार मानो। और बिना लक्षण मिले ही माने तो वहाँ अन्य कुलिंगी है उन्हीं को साधु मानो। इस प्रकार विपरीतता होती है, इसलिये बनता नहीं है।

कोई कहे- इस पंचमकालमें इस प्रकार भी साधुपद होता है; तो ऐसा सिद्धान्त वचन बतलाओ। बिना ही सिद्धान्त तुम मानते हो तो पापी होगे। इस प्रकार अनेक युक्ति द्वारा इनके साधुपना बनता नहीं है; और साधुपने बिना साधु मानकर गुरू माननेसे मिथ्यादर्शन होता है; क्योंकि भले साधुको गुरू माननेसे ही सम्यग्दर्शन होता है.....।

यहाँ कहते है कि पंचमकाल के अंत तक चार संघ का सद्भाव है- ऐसा शास्त्र में कहा है; इसलिये हम इन्हें साधु मानते हैं? तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि इस काल में हंस नहीं दिखते इससे कोई कौए को तो हंस नहीं माना जा सकता, हंस का लक्षण दिखने पर ही हंस माना जाता है। वैसे इस काल में साधु का सद्भाव है, परन्तु इस क्षेत्र में साधु नहीं दिखते इससे जो साधु न हो उसे साधु नहीं माना जा सकता है; परन्तु साधु का लक्षण दिखने पर ही साधु मानना चाहिये।

यहाँ तो पण्डित टोडरमलजी ने भी कहा है कि वर्तमान में इस क्षेत्र में साधु नहीं दिखते। वर्तमान में भावलिंगी मुनि तो दिखते ही नहीं, पर व्यवहार साधुपने के भी ठिकाने नहीं है। यह सब दिगम्बरों को लागू पड़ता है। अपने लिये आहार आदि बनावे और उसे साधु ले तो उसको साधु कैसे माना जाये? अट्ठाईस मूलगुण, पंचमहाव्रतादि साधु के व्यवहार लक्षण होवे तो साधु माने और ये लक्षण न होने पर भी माने तो कुलिंगी को भी साधु मानना पड़ेगा; परन्तु ऐसा मानने मे तो विपरीतता आती है। यहाँ तो कहते है कि व्यवहार भी सही न हो उसे तो द्रव्यलिंगी भी नहीं कहते। निश्चय न हो किन्तु व्यवहार हो तो साधु की स्थापना हो सकती है; परन्तु यहाँ तो व्यवहार का भी ठिकाना नहीं है; इसलिये ऐसे साधु को मानने से मिथ्यात्व होता है।

प्रतिमाधारी श्रावक न होनेकी मान्यताका निषेध

......तथा श्रावकधर्मकी अन्यथा प्रवृत्ति कराते हैं। त्रसहिंसा एवं स्थूल मृषादिक होनेपर भी जिसका कुछ प्रयोजन नहीं है ऐसा किंचित् त्याग कराके उसे देशव्रती हुआ कहते हैं; और वह त्रसघातादिक जिसमें हो ऐसा कार्य करता है; सो देशव्रत गुणस्थानमें तो ग्यारह अविरति कहे हैं, वहाँ त्रसघात किस प्रकार सम्भव है? तथा ग्यारह प्रतिमाभेद श्रावकके हैं, उनमें दसवीं-ग्यारहवीं प्रतिमाधारक श्रावक तो कोई होता ही नहीं और साधु होता है।

पूछे तब कहते हैं- प्रतिमाधारी श्रावक इस काल नहीं हो सकते। सो देखो, श्रावक धर्म तो कठिन और मुनिधर्म सुगम- ऐसा विरुद्ध कहते हैं। तथा ग्यारहवीं प्रतिमाधारीको थोड़ा परिग्रह, मुनिको बहुत परिग्रह बतलाते हैं सो सम्भवित वचन नहीं है। फिर कहते है- यह प्रतिमा तो थोड़े ही काल पालन कर छोड़ देते हैं; परन्तु यह कार्य उत्तम है तो धर्मबुद्धि ऊँची क्रियाको किसलिये छोड़ेगा और नीचा कार्य है तो किसलिये अंगीकार करेगा? यह सम्भव ही नहीं है।

तथा कुदेव-कुगुरूको नमस्कारादि करनेसे भी श्रावकपना बतलाते हैं। कहते हैं- धर्मबुद्धिसे तो नहीं वन्दते हैं, लौकिक व्यवहार है; परन्तु सिद्धान्तमें तो उनकी प्रशंसा स्तवनको भी सम्यक्त्वका अतिचार कहते हैं और गृहस्थोंका भला मनानेके अर्थ वन्दना करने पर भी कुछ नहीं कहते।

फिर कहोगे- भय, लज्जा, कुतूहलादिसे वन्दते हैं, तो इन्हीं कारणोंसे कुशीलादि सेवन करनेपर भी पाप मत कहो, अंतरंगमें पाप जानना चाहिये। इस प्रकार तो सर्व आचारोंमें विरोध होगा।

देखो, मिथ्यात्व जैसे महापापकी प्रवृत्ति छुड़ानेकी तो मुख्यता नहीं है और पवनकायकी हिंसा ठहराकर खुले मुँह बोलना छुड़ानेकी मुख्यता पायी जाती है; सो यह क्रमभंग उपदेश है। तथा धर्मके अंग अनेक हैं, उनमें एक परजीवोंकी दयाको मुख्य कहते हैं, उसका भी विवेक नहीं है। जलका छानना, अन्नका शोधना, सदोष वस्तुका भक्षण न करना, हिंसादिकरूप व्यापार न करना इत्यादि उसके अंगोंकी तो मुख्यता नहीं है.......।

तथा वे श्रावकधर्म की भी अन्यथा प्रवृत्ति कराते हैं।

त्रसहिंसा और स्थूल मृषादिक होने पर जिसका कुछ प्रयोजन नहीं ऐसा किंचित त्याग कराकर उसे देशव्रती श्रावक कहते है और वह जिससे त्रसघात आदि होते हैं-ऐसा कार्य करता है। बहुत समय का आचार (अथाणा) खाता है, जिसमे त्रस की हिंसा हो ऐसे कार्य करता है। सड़ी हुई वस्तुएं काम में लेता है। अब वे श्रावक को ग्यारह अविरति कहते हैं सो वहाँ त्रसहिंसा कैसे संभव है ? श्रावक की ग्यारह प्रतिमा भेद है, उनमें दसवीं-ग्यारहवीं प्रतिमाधारी श्रावक अभी कोई होता नहीं; अर्थात् श्रावक धर्म कठिन है- ऐसा वे कहते हैं

और साधु धर्म पाल सकते है ऐसा कहते हैं, तो इसमे तो विरूद्धता आती है। तथा वे कहते हैं कि प्रतिमा तो थोड़े काल पालकर छोड़ देते है; परन्तु उत्तम कार्य धर्मबुद्धि जीव किसलिये छोड़े? और यदि वह नीचा कार्य है तो उसे अंगीकार किसलिये करे? इसलिये यह बात यथार्थ नहीं है।

तथा कुदेव-कुगुरू को नमस्कार करने पर भी श्रावकपने में बाधा नहीं है- ऐसा वे कहते हैं। गणेश, शीतला, हनुमान आदि को मानने में दोष नहीं कहते। अम्बाजी आदि लौकिक देवों को मानने में पाप नहीं है- ऐसा वे कहते हैं। तथा कहते हैं कि हम धर्मबुद्धि से नहीं मानते। परन्तु शास्त्र में कुदेव आदिक की प्रशंसा करने में सम्यक्त्व का अतिचार दोष कहा है, तो गृहस्थों को भला मनाने के लिये भी कुदेवादिक की वंदना किसलिये करना चाहिये? यदि कहोगे कि हम भय, लज्जा, कौतूहलादि से वंदन करते हैं तो इस कारण से कुशीलादि सेवन करने पर भी पाप मत कहो, मात्र अन्तर में परिणाम शुद्ध रखो और बाहर में आचरण चाहे जैसा रखो- तो इसप्रकार तो सब आचरण में विपरीतता और विरूद्धता होगी।

मुखपट्टीआदिका निषेध

......तथा पट्टीका बाँधना, शौचादिक थोड़ा करना, इत्यादि कार्योंकी मुख्यता करते हैं; परन्तु मैलयुक्त पट्टीके थूकके सम्बन्धसे जीव उत्पन्न होते हैं, उनका तो यत्न नहीं है और पवनकी हिंसाका यत्न बतलाते हैं। सो नासिका द्वारा बहुत पवन निकलती है उसका तो यत्न करते ही नहीं। तथा उनके शास्त्रानुसार बोलनेहीका यत्न किया है तो सर्वदा किसलिये रखते हैं? बोलें तब यत्न कर लेना चाहिये। यदि कहें- भूल जाते हैं; तो इतनी भी याद नहीं रहती तब अन्य धर्म साधन कैसे होगा? तथा शौचादिक थोड़े करें, सो सम्भवित शौच तो मुनि भी करते हैं; इसलिये गृहस्थको अपने योग्य शौच करना चाहिये। स्त्री संगमादि करके शौच किये बिना सामायिकादि क्रिया करने से अविनय, विक्षिप्तता आदि द्वारा पाप उत्पन्न होता है। इस प्रकार जिनकी मुख्यता करते हैं उनका भी ठिकाना नहीं है। और कितने ही दया के अंग योग्य पालते हैं, हरितकाय आदि का त्याग करते है,जल थोड़ा गिराते हैं; इनका हम निषेध नहीं करते......।

तथा खेद का विषय है कि मिथ्यात्व महापाप की प्रवृत्ति छुड़ाने की तो मुख्यता नहीं है और पवनकाय की हिंसा ठहराकर खुले मुँह बोलना छुड़ाने की मुख्यता पाई जाती है, सो यह क्रम भंग उपदेश है। धर्म के अंग तो बहुत है; परन्तु वे उसमें परजीव दया को ही मुख्य कहते हैं। उसका भी उनको विवेक नहीं है। पानी छानना, सदोष वस्तु न खाना और हिंसादिरूप व्यापार नहीं करना- इत्यादि उनके अंगों की तो मुख्यता नहीं है; परन्तु मुखपट्टी बांधना और नहाना धोना थोड़ा करना- इत्यादि कार्यों की मुख्यता करते हैं; परन्तु मलयुक्त मुखपट्टी में त्रस जीवों की उत्पत्ति होती है उनकी तो दया पालते नहीं और पवनकाय के जीवों की दया पालने को कहते हैं; परन्तु नाक द्वारा पवन जाती है और जीव मरते हैं उनकी दया क्यों नहीं पालते ?

तथा उनके शास्त्र अनुसार बोलने का ही यत्न किया तो पूरे दिन मुखपट्टी किसलिये रखनी चाहिये ? जब बोले तब रखना। तो कहते है कि भूल जाते है। तो जो इतना सा भूल जाता तो वह धर्म साधन क्या कर सकेगा ? तथा शरीर की अति शौचादि क्रियाओं का निषेध करते हैं, सो शौच तो मुनि भी करते हैं। अतः गृहस्थों को अपनी योग्य शौच करनी चाहिये। इसप्रकार वे जिसके मुख्यता करते है उसका भी ठिकाना नहीं है।

मूर्तिपूजानिषेध का निराकरण

.....तथा इस अहिंसाका एकान्त पकड़कर प्रतिमा, चैत्यालय, पूजनादि क्रिया का उत्थापन करते हैं; सो उन्हींके शास्त्रोंमें प्रतिमा आदिका निरूपण है, उसे आग्रहसे लोप करते हैं। भगवतीसूत्रमें ऋद्धिधारी मुनिका निरूपण है वहाँ मेरुगिरि आदिमें जाकर "तत्थ चेययाइं वंदई" ऐसा पाठ है। इसका अर्थ यह है कि -वहाँ चैत्योंकी वंदना करते हैं। और चैत्य नाम प्रतिमाका प्रसिद्ध है। तथा वे हठसे कहते हैं- चैत्य शब्दके ज्ञानादिक अनेक अर्थ होते है, प्रतिमाका अर्थ नहीं हैं। इससे पूछते हैं- मेरुगिरि नन्दीश्वर द्वीपमें जा-जाकर वहाँ चैत्य वन्दना की, सो वहाँ ज्ञानादिककी वन्दना करनेका अर्थ कैसे सम्भव है? ज्ञानादिककी वन्दना तो सर्वत्र सम्भव है। जो वन्दनायोग्य चैत्य वहाँ सम्भव हो और सर्वत्र सम्भव न हो वहाँ उसे वन्दना करनेका विशेष सम्भव है और ऐसा सम्भवित अर्थ प्रतिमा ही है और चैत्य शब्दका मुख्य अर्थ प्रतिमा ही है, सो प्रसिद्ध है। इसी अर्थ द्वारा चैत्यालय नाम सम्भव है; उसे हठ करके किसलिये लुप्त करें?

तथा नन्दीश्वर द्वीपादिकमें जाकर देवादिक पूजनादि क्रिया करते हैं, उसका व्याख्यान उनके जहाँ-तहाँ पाया जाता है। तथा लोकमें जहाँ-तहाँ अकृत्रिम प्रतिमाका निरूपण है। सो वह रचना अनादि है, वह रचना भोग-कुतूहलादिके अर्थ तो है नहीं। और इन्द्रादिकोंके स्थानोंमें निष्प्रयोजन रचना सम्भव नहीं है। इसलिये इन्द्रादिक उसे देखकर क्या करते हैं? या तो अपने मन्दिरोंमें निष्प्रयोजन रचना देखकर उससे उदासीन होते होंगे, वहाँ दुःखी होते होंगे , परन्तु यह सम्भव नहीं है। या अच्छी रचना देखकर विषयोंका पोषण करते होंगे, परन्तु अरहन्त की मूर्ति द्वारा सम्यग्दृष्टि अपना विषय पोषण करें यह भी सम्भव नहीं है। इसलिये वहाँ उनकी भक्ति आदि ही करते हैं, यही सम्भव है।

उनके सूर्याभदेवका व्याख्यान है; वहाँ प्रतिमाजीको पूजनेका विशेष वर्णन किया है। उसे गोपनेके अर्थ कहते हैं- देवोंका ऐसा ही कर्त्तव्य है। सो सच है, परन्तु कर्त्तव्यका तो फल होता ही होता है; वहाँ धर्म होता है या पाप होता है? यदि धर्म होता है तो अन्यत्र पाप होता था यहाँ धर्म हुआ; इसे औरोंके सदृश कैसे कहें? यह तो योग्य कार्य हुआ। और पाप होता है तो वहाँ ''णमोत्थुणं'' का पाठ पढ़ा; सो पापके ठिकाने ऐसा पाठ किसलिये पढ़ा?

तथा एक विचार यहाँ यह आया कि-"णमोत्थुणं'' के पाठमें तो अरहंतकी भक्ति है; सो प्रतिमाजीके आगे जाकर यह पाठ पढ़ा, इसलिये प्रतिमाजीके आगे जो अरहंतभक्तिकी क्रिया है वह करना युक्त हुई।

तथा वे ऐसा कहते हैं- देवोंके ऐसा कार्य है, मनुष्योंके नहीं है; क्योंकि मनुष्योंको प्रतिमा आदि बनानेमें हिंसा होती है। तो उन्हींके शास्त्रोंमें ऐसा कथन है कि- द्रौपदी रानी प्रतिमाजीके पूजनादिक जैसे सूर्याभदेवने किये उसी प्रकार करने लगी; इसलिये मनुष्योंके भी ऐसा कार्य कर्त्तव्य है।

यहाँ एक यह विचार आया कि- चैत्यालय, प्रतिमा बनानेकी प्रवृत्ति नहीं थी तो द्रौपदीने किस प्रकार प्रतिमाका पूजन किया? तथा प्रवृत्ति थी तो बनानेवाले धर्मात्मा थे या पापी थे? यदि धर्मात्मा थे तो गृहस्थोंकाऐसा

कार्य करना योग्य हुआ, और पापी थे तो वहाँ भोगादिकका प्रयोजन तो था नहीं, किसलिये बनाया? तथा द्रौपदीने वहाँ ''णमोत्थुणं'' का पाठ किया व पूजनादि किया, सो कुतूहल किया या धर्म किया? यदि कुतूहल किया तो महापापिनी हुई। धर्ममें कुतूहल कैसा? और धर्म किया तो औरोंको भी प्रतिमाजीकी स्तुति-पूजा करना युक्त है।

तथा वे ऐसी मिथ्यायुक्ति बनाते हैं- जिस प्रकार इन्द्रकी स्थापनासे इन्द्रका कार्य सिद्ध नहीं है; उसी प्रकार अरहंत प्रतिमासे कार्य सिद्ध नहीं है। सो अरहंत किसीको भक्त मानकर भला करते हों तब तो ऐसा भी मानें; परन्तु वे तो वीतराग हैं।यह जीव भक्तिरूप अपने भावोंसे शुभफल प्राप्त करता है। जिस प्रकार स्त्रीके आकाररूप काष्ठ-पाषाणकी मूर्ति देखकर वहाँ विकाररूप होकर अनुराग करे तो उसको पापबंध होगा; उसी प्रकार अरहंतके आकाररूप धातु-पाषाणादिककी मूर्ति देखकर धर्मबुद्धि से वहाँ अनुराग करे तो शुभकी प्राप्ति कैसे न होगी? वहाँ वे कहते हैं- बिना प्रतिमा ही हम अरहंतमें अनुराग करके शुभ उत्पन्न करेंगे; तो इनसे कहते हैं- आकार देखनेसे जैसा भाव होता है वैसा परोक्ष स्मरण करनेसे नहीं होता; इसीसे लोकमें भी स्त्रीके अनुरागी स्त्रीका चित्र बनाते हैं; इसलिये प्रतिमाके अवलम्बन द्वारा भक्ति विशेष होने से विशेष शुभकी प्राप्ति होती है।

फिर कोई कहे प्रतिमाके देखो, परन्तु पूजनादिक करनेका क्या प्रयोजन है?

उत्तरः- जैसे कोई किसी जीवका आकार बनाकर घात करे तो उसे उस जीवकी हिंसा करने जैसा पाप होता है, व कोई किसीका आकार बनाकर द्वेषबुद्धि से उसकी बुरी अवस्था करे तो जिसका आकार बनाया उसकी बुरी अवस्था करने जैसा फल होता; उसी प्रकार अरहन्तका आकार बनाकर धर्मानुरागबुद्धिसे पूजनादि करे तो अरहन्तके पूजनादि करने जैसा शुभ (भाव) उत्पन्न होता है तथा वैसा ही फल होता है। अति अनुराग होनेपर प्रत्यक्ष दर्शन न होनेसे आकार बनाकर पूजनादि करते हैं। इस धर्मानुरागसे महापुण्य होता है।

तथा ऐसा कुतर्क करते हैं कि- जिसके जिस वस्तुका त्याग हो उसके आगे उस वस्तुका रखना हास्य करना है; इसलिये चंदनादि द्वारा अरहन्तकी पूजन युक्त नहीं है।

समाधानः मुनिपद लेते ही सर्व परिग्रह त्याग किया था, केवलज्ञान होनेके पश्चात् तीर्थंकरदेवके समवसरणादि बनाये, छत्र-चँवरादि किये, सो हास्य किया या भक्ति की? हास्य किया तो इन्द्र महापापी हुआ; सो बनता नहीं है। भक्ति की तो पूजनादिमें भी भक्ति ही करते हैं। छद्मस्थ के आगे त्याग की हुई वस्तुका रखना हास्य करना है; क्योंकि उसके विक्षिप्तता हो आती है। केवलीके व प्रतिमाके आगे अनुरागसे उत्तम वस्तु रखनेका दोष नहीं है; उनके विक्षिप्तता नहीं होती। धर्मानुराग से जीवका भला होता है।

फिर वे कहते हैं- प्रतिमा बनानेमें, चैत्यालयादि करानेमें, पूजनादि करानेमें हिंसा होती है, और धर्म अहिंसा है; इसलिये हिंसा करके धर्म माननेसे महापाप होता है; इसलिए हम इन कार्यों का निषेध करते हैं।

उत्तरः उन्हींके शास्त्रमें ऐसा वचन है :-

सुच्चा जाणई कल्लाणं सुच्चा जाणइ पावगं।
उभयं पि जाणए सुच्चा जं सेय तं समायर।। 1 ।।

यहाँ कल्याण, पाप और उभय- यह तीनों शास्त्र सुनकर जाने, ऐसा कहा है। सो उभय तो पाप और कल्याण मिलने होगा, सो ऐसे कार्यका भी होना ठहरा। वहाँ पूछते हैं- केवल धर्म से तो उभय हल्का है ही, और केवल पापसे उभय बुरा है या भला है? यदि बुरा है तो इसमें तो कुछ कल्याणका अंश मिला है, पापसे बुरा कैसे कहें? भला है, तो केवल पापको छोड़कर ऐसे कार्य करना ठहरा। तथा युक्तिसे भी ऐसा ही सम्भव है। कोई त्यागी होकर मन्दिरादिक नहीं बनवाता है व सामायिकादिक निरवद्य कार्योंमें प्रवर्तता है; तो उन्हें छोड़कर प्रतिमादि कराना व पूजनादि करना उचित नहीं हैं। परन्तु कोई अपने रहनेके लिए मकान बनाये, उससे तो चैत्यालयादि करानेवाला हीन नहीं है। हिंसा तो हुई, परन्तु उसके तो लोभ पापानुरागकी वृद्धि हुई और इसके लोभ छूटकर धर्मानुराग हुआ। तथा कोई

व्यापारादि कार्य करे, उससे तो पूजनादि कार्य करना हीन नहीं है। वहाँ तो हिंसादि बहुत होते हैं, लोभादि बढ़ता है, पापहीकी प्रवृत्ति है। यहाँ हिंसादिक भी किंचित् होते हैं, लोभादिक घटते हैं और धर्मानुराग बढ़ता है।- इस प्रकार जो त्यागी न हों, अपने धनको पापमें खर्चते हों, उन्हें चैत्यालयादि बनवाना योग्य हैं और जो निरवद्य सामायिकादि कार्योंमें उपयोगको न लगा सकें उनको पूजनादि करनेका निषेध नहीं है।

फिर तुम कहोगे- निरवद्य सामायिकादिक कार्य ही क्यों न करें? धर्ममें काल लगाना, वहाँ ऐसे कार्य किसलिये करें?

उत्तर : यदि शरीर द्वारा पाप छोड़ने पर ही निरवद्यपना हो, तो ऐसा ही करें; परन्तु परिणामोंमें पाप छूटने पर निरवद्यपना होता है। सो बिना अवलम्बन सामायिकादिकमें जिसके परिणाम न लगें वह पूजनादि द्वारा वहाँ अपना उपयोग लगाता है। वहाँ नानाप्रकारके आलम्बन द्वारा उपयोग लग जाता है। यदि वहाँ उपयोग न लगाये तो पापकार्यो में उपयोग भटकेगा ओर उससे बुरा होगा; इसलिये वहाँ प्रवृत्ति करना युक्त है ।

तुम कहते हो कि- "धर्मके अर्थ हिंसा करनेसे तो महापाप होता है, अन्यत्र हिंसा करनेसे थोड़ा पाप होता है; सो प्रथम तो यह सिद्धान्तका वचन नहीं है और युक्तिसे भी नहीं मिलता; क्योंकि ऐसा माननेसे तो- इन्द्र जन्मकल्याणकमें बहुत जलसे अभिषेक करता है, समवसरणमें देव पुष्टवृष्टि करना, चँवर ढालना इत्यादि कार्य करते हैं सो वे महापापी हुए।

यदि तुम कहोगे- उनका ऐसा ही व्यवहार है, तो कियाका फल तो हुए बिना रहता नहीं है। यदि पाप है तो इन्द्रादिक तो सम्यग्दृष्टि हैं, ऐसा कार्य किसलिये करेंगे? और धर्म है तो किसलिये निषेध करते हो ?

भला तुम्हींसे पूछते हैं- तीर्थंकरकी वन्दनाको राजादिक गये, साधुकी वन्दना को दूर भी जाते हैं, सिद्धान्त सुनने आदि कार्य करने के लिये गमनादि करते हैं वहाँ मार्गमें हिंसा हुई। तथा साधर्मियोंको भोजन कराते हैं, साधुका मरण होनेपर उसका संस्कार करते हैं, साधु होने पर उत्सव करते हैं इत्यादि प्रवृत्ति अब भी देखी जाती है; सो यहाँ भी हिंसा होती है;

परन्तु यह कार्य तो धर्मके हैं, अन्य कोई प्रयोजन नहीं हैं। यदि यहाँ महापाप होता है, तो पूर्वकालमें ऐसे कार्य किये उनका निषेध करो। और अब भी गृहस्थ ऐसा कार्य करते हैं, उनका त्याग करो। तथा यदि धर्म होता है तो धर्मके अर्थ हिंसामें महापाप बतलाकर किसलिये भ्रममें डालते हो?

इसलिये इसप्रकार मानना युक्त है- कि जैसे थोड़ा धन ठगाने पर बहुत धनका लाभ हो तो वह कार्य करना योग्य है; उसी प्रकार थोड़े हिंसादिक पाप होनेपर बहुत धर्म उत्पन्न हो तो वह कार्य करना योग्य है। यदि थोड़े धनके लोभसे कार्य बिगाड़े तो मूर्ख है; उसी प्रकार थोड़ी हिंसाके भयसे बड़ा धर्म छोड़े तो पापी ही होता है। तथा कोई बहुत धन ठगाये और थोड़ा धन उत्पन्न करे, व उत्पन्न नहीं करे तो वह मूर्ख है; उसी प्रकार बहुत हिंसादि द्वारा बहुत पाप उत्पन्न करे और भक्ति आदि धर्ममें थोड़ा प्रवर्ते व नहीं प्रवर्ते, तो वह पापी ही होता है। तथा जिसप्रकार बिना ठगाये ही धनका लाभ होनेपर ठगाये तो मूर्ख है; उसी प्रकार निरवद्य धर्मरूप उपयोग होनेपर सावद्यधर्ममें उपयोग लगाना योग्य नहीं है।

इस प्रकार अपने परिणामोंकी अवस्था देखकर भला हो वह करना; परन्तु एकान्त पक्ष कार्यकारी नहीं है। तथा अहिंसा ही केवल धर्मका अंग नहीं है; रागादिकोंका घटना धर्मका मुख्य अंग है। इसलिये जिसप्रकार परिणामोंमें रागादिक घटें वह कार्य करना......।

तथा ऐसी अँहिंसा का एकान्त पकड़कर प्रतिमा चैत्यालय, पूजनादि क्रियाओं का निषेध करते हैं, परन्तु उनके ही शास्त्रों में प्रतिमा आदि का निरूपण किया है। श्रावको की भूमिका में प्रतिमा स्थापित करने, मन्दिर बनाने, पूजन-भक्ति आदि के (शुभभाव) होते हैं जो उनका निषेध करते हैं वह योग्य नहीं है। स्थानकवासियों ने प्रतिमा का निषेध किया है और श्वेताम्बरों ने प्रतिमा के ऊपर आभूषण पहिनाकर श्रृंगार बढ़ा दिया है, वीतरागता नहीं रहने दी है; इसलिये ये दोनो मत कल्पित हैं।

यथार्थ वीतरागमार्ग में प्रतिमा के ऊपर आभूषणादि तो होते ही नहीं, केशर, फूलादि भी नहीं होते। उनके शास्त्रों में भी प्रतिमायें शास्वत होती हैं- ऐसा आता है परन्तु उसका वे मिथ्या अर्थ करते हैं। चैत्यवंदना की- ऐसा पाठ शास्त्र में आता है,वहाँ वे चैत्य

का अर्थ ज्ञान करते हैं- यह बात भी यथार्थ नहीं है। वे मानते हैं कि मनुष्य नन्दीश्वर द्वीप में जाते हैं और वहाँ जंघाचरणादिक मुनि ने चैत्य की वंदना की- ऐसा मानते हैं। यदि वहाँ ज्ञान की वंदना की हो तो ज्ञान की वंदना तो सर्वत्र- यहाँ भी हो सकती है; परन्तु मुख्य प्रतिमा की वंदना करने के लिये ही वहाँ गये है- इसलिये निश्चित होता है कि चैत्य का अर्थ प्रतिमा प्रसिद्ध है, तथापि हठ करके उसका विपरीत अर्थ करना योग्य नहीं है।

तथा देवादिक नन्दीश्वर में जाकर पूजनादिक क्रिया करते हैं- इसका व्याख्यान भी इनके शास्त्रों में है। पहले मनुष्य प्रतिमा की पूजा आदि करते हैं- यह सिद्ध किया। अब कहते हैं कि देव नन्दीश्वर दीप में प्रतिमा का पूजनादि करते हैं और स्वर्ग में भी इन्द्र-सम्यग्दृष्टि जीव प्रतिमा को पूजते हैं, तथापि स्थानकवासी प्रतिमा का निषेध करते हैं- इसकारण वे मिथ्यादृष्टि हैं।

उनके यहाँ सूर्याभदेव का व्याख्यान है। वहाँ प्रतिमाजी को पूजने का विशेष वर्णन किया है। परदेशी राजा का जीव सूर्याभदेव हुआ और उसने प्रतिमा की पूजन की- ऐसा कहते हैं। अब वहाँ देव को धर्म होता है या पाप होता है? यदि धर्म होता है तो सब जगह धर्म होना चाहिये। तथा वहाँ सूर्याभदेव ने 'णमोत्थुणं' का पाठ पढ़ा है उसमें तो अरहन्त की भक्ति है। अब प्रतिमाजी की सन्मुख यह पाठ पढ़ा है; इसलिये जो अरहन्त भक्ति की क्रिया है वह प्रतिमाजी की आगे करना योग्य हुई।

तथा वे कहते हैं कि देवों के वे कार्य होते हैं, मनुष्यों के नहीं; क्योंकि मनुष्यों को प्रतिमा आदि बनाने में हिंसा होती है; परन्तु यह कथन सही नहीं है; कारण कि उनके द्वारा रचित शास्त्रों में ज्ञातासूत्र है, वहाँ कथन है कि द्रौपदी रानी प्रतिमादि की पूजनादि जैसे सूर्याभदेव ने की वैसे करने लगी; इसलिये मनुष्यों के भी यह कार्य कर्त्तव्य है। यहाँ एक यह विचार होता है कि यदि चैत्यालय, प्रतिमा बनाने की प्रवृत्ति नहीं होती तो द्रौपदी ने प्रतिमा की पूजा किस प्रकार की? अतः प्रतिमा की प्रथा अनादि से चली आती है। मनुष्य प्रतिमा की स्थापना करते थे- यह निश्चित होता है। और द्रौपदी ने प्रतिमा की पूजा की थी, इससे सिद्ध होता है कि धर्मात्मा गृहस्थों को भी ऐसा कार्य करना योग्य है। तथा द्रौपदी ने वहाँ 'णमोत्थुणं' का पाठ किया व पूजनादिक की, सो वह कोई कौतूहल के लिये नहीं किया था। यदि कौतूहल हो तो वह पाप ठहरे, परन्तु धर्म के लिये वह किया था; इसलिये दूसरों को भी प्रतिमा की स्तुति- पूजा करना योग्य है।

वहाँ वे ऐसी मिथ्यायुक्ति बनाते हैं कि जैसे इन्द्र की स्थापना से इन्द्र की कार्य सिद्धि नहीं है; उसी प्रकार अरहन्त की प्रतिमा से कार्य सिद्धि नहीं है । जैसे पत्थर की गाय दूध नहीं देती, पत्थर का सिंह किसी को मारता नहीं; उसी प्रकार भगवान की प्रतिमा किसी का भला नहीं करती- ऐसा वे कहते हैं; परन्तु अरहन्त भगवान किसी को भक्त मानकर भला करते हों तब तो ऐसा मानें; किन्तु वे तो वीतराग हैं। यह जीव भक्तिरूप अपने भावों से शुभ फल पाते हैं। जैसे कोई स्त्री के आकाररूप काष्ट-पाषाण की मूर्ति देखकर वहाँ विकाररूप होकर अनुराग करे तो उसको पाप बंध होता है। उसीप्रकार अरहन्त की मूर्ति देखकर धर्म बुद्धि से वहाँ अनुराग करे तो शुभ फल की प्राप्ति कैसे नहीं होगी ?

यहाँ वे कहते हैं कि प्रतिमा बिना ही ऐसा शुभराग करेंगे ? परन्तु आकार देखने से जैसा शुभभाव होता है वैसा परोक्ष स्मरण से नहीं होता। प्रतिमा के अवलम्बन से विशेष शुभभाव होता है। यहाँ शुभभाव मे निमित्त कैसा होता है- इतना कहना है; परन्तु निमित्त से शुभभाव होता है- ऐसा नहीं है।

यहाँ कोई कहे कि प्रतिमा को देखो, परन्तु पूजनादि करने का क्या प्रयोजन है ?

उत्तरः- जैसे कोई तिर्यन्च का आकर बनाकर रौद्रभाव से उसका नाश करे तो उसे पाप लगता है। पाड़े का आकार बनाकर उसकी हिंसा करने वाले को वैसा ही फल प्राप्त होता है अर्थात् हिंसा करने के समान ही पाप लगता है। उसी प्रकार जो अरहन्तादि की प्रतिमा बनाकर धर्म बुद्धि से उसकी पूजनादिक करता है उसको अरहन्त की पूजनादिक करने जेसा ही शुभ फल मिलता है। पण्डित बनारसीदासजी ने कहा है कि 'जिन प्रतिमा जिन सारीखी'। ''सम्यग्दृष्टि प्रतिमा को साक्षात भगवान जैसा मानता है और पूजा-भक्ति करता है। वह प्रतिमा का निषेध नहीं करता। वह अन्तर में समझता है कि यह प्रतिमा है, तथापि स्वयं को (जिनदर्शनका) अति अनुराग होने से (और जिनेन्द्रप्रभु के) साक्षात दर्शन न होने से उनका आकार बनाकर पूजनादि करता है और उस धर्मानुराग से महापुण्य उपार्जन करता है।

तथा वे ऐसा **कुतर्क** करते हैं कि जिसको जिस वस्तु का त्याग होता है उसके आगे वह वस्तु रखना युक्त नहीं है, अपितु हास्य जैसा है । अर्थात् तुम अष्ट द्रव्य से पूजन करते हो वह युक्त नहीं है ?

समाधान- भगवान ने जब मुनिपना लिया था तब तो सर्वपरिग्रह का त्याग किया था और पश्चात् केवलज्ञान हुआ तब इन्द्र ने समवसरण बनाया, छत्र-चँवरादि किये- इसमें कोई विरोध नहीं है; क्योंकि वहाँ इन्द्र ने भक्ति की है। उसी प्रकार हम भी यहाँ भक्ति करते हैं, इसलिये इसमें हास्य नहीं है। छद्मस्थ के पास त्याग की हुई वस्तु धरना हास्य कहलाता है; क्योंकि उसको विक्षिप्तता होना संभव है; परन्तु केवली अथवा प्रतिमाजी के समीप उत्तम वस्तु धरने में दोष नहीं है; क्योंकि वहाँ तो शुभभाव होता है।

तब वह कहता है कि प्रतिमा बनाने में, जिन मन्दिर बनाने मे, पूजनादिक करने में हिंसा होती है, और हिंसा में धर्म मानने में महापाप है- इस कारण ये कार्य करने योग्य नहीं है ?

उत्तरः- उनके (श्वेताम्बर) शास्त्रों में दशवैकालिक सूत्र में कहा है कि पुण्य और पाप को सुन करके जान तथा इन दोनो में से जो सेवन योग्य हो उसका सेवन कर! वहाँ हम पूछते हैं कि वीतरागमार्गरूपी अकेला धर्म हो वह तो उत्तम है; परन्तु ऐसा धर्म न हो तो अकेला पापभाव करना योग्य नहीं है- इसकी अपेक्षा तो पुण्यभाव होता है वह ठीक है। जिनमन्दिर पूजा आदि क्रिया में पानी की किंचित हिंसा होती है; परन्तु वहाँ शुभभाव की मुख्यता है- इस कारण उन्हें करना पाप भाव की अपेक्षा भला कहा है। इसलिये वह एकान्ततः निषेध करने योग्य नहीं है।

निमित्त से पुण्यभाव होता है- ऐसा यहाँ कहना नहीं है; परन्तु शुभभाव में प्रतिमा निमित्त होती है- ऐसा बताना है। इसलिये प्रतिमा को उत्थापना योग्य नहीं है। और युक्ति से भी 'प्रतिमा है'- ऐसा संभव है।

जो त्यागी हो उसे तो जिनमन्दिरादि बनाना योग्य नहीं है; परन्तु गृहस्थ, जो कि संसार में अपने लिये मकान आदि बनाता है उसमें अकेला पाप भाव है, उसकी अपेक्षा जिनमन्दिर बनावे तो वह पुण्यभाव है। इसलिये पापभाव से बचने के लिये पुण्यभाव का निषेध करना योग्य नहीं है।

स्थानकवासी कहते हैं कि प्रतिमा, मन्दिर आदि में हिंसा होती है इसलिये हम उनका निषेध करते हैं।

उनसे कहते हैं कि गृहस्थ अपने लिये मकानादि बनाता है वहाँ तो लोभादिक बढ़ते है, पाप होता है; परन्तु मन्दिरादि बनाने से तो लोभ घटता है और धर्मानुराग होता है।

भगवान की पूजादि करने में पुण्य विशेष है और हिंसा थोड़ी होती है। जैसे व्यापारी नुकसान की अपेक्षा विशेष फायदा होता जाने वैसा व्यापार करता है। उसी प्रकार प्रतिमा आदि कार्यों में शुभभाव है, जो उसे नहीं समझते और पूजादि का निषेध करते हैं वे अज्ञानी हैं।

गृहस्थ अपने पुत्र-पुत्रादि के विवाह में धन खर्च करता है तथा मकानादि में पैसा खर्च करता है वहाँ तो प्रतिष्ठा के लिये खर्च करता है, वह सब तो पाप भाव है। संसार के कार्यों के लिये पैसा खर्च करने की अपेक्षा देव-शास्त्र-गुरू के लिये खर्च करना लोभ घटाने का कारण है। इसलिये गृहस्थ को सांसारिक कार्यों की अपेक्षा धर्म के कार्यों में विशेष पैसा खर्च करना चाहिये। जो जिन प्रतिमा की पूजादि का निषेध करते हैं, और कुदेव-कुगुरू-कुधर्म को मानते हैं वे सभी गृहीत मिथ्यादृष्टि हैं।

भगवान वीतराग का मार्ग एक ही प्रकार का है। मैं ऐसा उपदेश दूँ- ऐसा विकल्प करूँ-ऐसा भी वस्तु स्वरूप में नहीं है। अशुभ मिटाकर शुभ करूँ तो ठीक है- ऐसा सम्यग्दृष्टि नहीं मानते। चारित्रगुण की पर्याय का जो क्रम को है उसे जानने-देखने का आत्मा का स्वभाव है। उस क्रम भी फेरना नहीं है।

कोई कहे कि हमको ऐसी तत्व की बात बैठती है-जंचती है-ऐसा होने पर भी यदि वह कुदेवादिक को नहीं छोड़ता और प्रतिमा की पूजादिक को नहीं मानता तो उसे भी वस्तुस्वरूप का परिज्ञान नहीं है। जिसको व्यवहार और निमित्त का भान नहीं है वह तो गृहीत मिथ्यादृष्टि है।

गृहस्थ को जिनप्रतिमा की पूजादि का भाव हुए बिना नहीं रहता। जिसको कुदेवादिक का आदर है और सुदेवादिक की मान्यता नहीं है उसको सच्ची सामायिक नहीं होती। जो सम्यग्दृष्टि हो और विशेष उपयोग सामायिक आदि कार्यों में नहीं रहता हो उसे तो पूजनादि के भाव करने योग्य है।

यहाँ तुम कहोगे कि निरवंध सामायिक कार्य ही क्यों न करें ? धर्म में काल लगाने की अपेक्षा ऐसे कार्य किसलिये करें ?

उत्तरः- यदि शरीर से पाप छोड़ने से ही निरवंधपना होता हो तो ऐसा ही करो; परन्तु ऐसा तो होता ही नहीं। स्वरूप का अवलम्बन हुए बिना सामायिक आदि कार्यों के परिणाम नहीं होते; इसलिये पूजनादि कार्यों की प्रवृत्ति करना योग्य है। वस्तुस्थिति तो

जैसी है वैसी है; परन्तु उपदेश के वचन ऐसे होते हैं कि यह करना योग्य है और यह करना योग्य नहीं है। जो व्यवहार और निमित्त का सर्वथा निषेध करता है उसको समझाने के लिये उपदेशकथन होता है।

अब तुम कहोगे कि धर्म के लिये हिंसा करने से तो महापाप होता है और अन्यत्र हिंसा करने से थोड़ा पाप होता है। परन्तु प्रथम तो यह सिद्धान्त का वचन नहीं है और न युक्ति से मिलता है, इसलिये यह मान्यता सच्ची नहीं है।

स्थानकवासी कहते हैं कि धर्म के निमित्त से हिसा व आरम्भादि करने में महापाप होता है, घर के लिये करें तो कम पाप होता है; परन्तु यह बात सही नहीं है; कारण कि ऐसा माना जाये तो इन्द्र मेरूपर्वत पर भगवान का अभिषेक पानी के बहुत कलशों से करते हैं, वह पानी संचित होता है, देव पुण्य वृष्टि करते हैं, चँवर ढोलते हैं वहाँ वायुकायिक जीवों का हनन होता है; परन्तु वे पाप के कार्य नहीं है। जिन्होने इन कार्यों में पाप बताया वे मिथ्यादृष्टि हैं।

तुम कहोगे कि देवों के ऐसा ही व्यवहार है, परन्तु क्रिया का फल तो आयेगा न? इसलिये यदि वे कार्य पाप हैं तो इन्द्र आदि तो सम्यग्दृष्टि हैं वे ऐसे पाप के कार्य किसलिये करेंगे? और यदि धर्म (पुण्य) है तो उनका निषेध करना योग्य नहीं है। इस प्रकार तुम्हारी मान्यता यथार्थ नहीं है।

तुमसे ही पूछते हैं कि तीर्थंकर की वंदना के लिये श्रेणिक आदि राजा जाते हैं वहाँ रास्ते में पानी छिड़कना, बड़े-बड़े मांडने मंडवाना व रथ, हाथी घोड़ा आदि की विशाल धूमधाम से निकलते हैं तो क्या वहाँ पाप है? यदि पाप हो तो करे किसलिये? तथा साधु की बंदनार्थ दूर-दूर तक जाते हैं तो वायुकायिक की हिंसा होती है; परन्तु वे कार्य धर्म के लिये है या उनसे पाप है? शास्त्रश्रवण के लिये जाते है तो वहाँ क्या होता है? तथा साधर्मीजनों को जिमाने में धन खर्च करने में पुण्य होता है या पाप? साधु का मरण होता है तब पालकी बनाते हैं, धूमधाम से हजारों रूपये खर्च करके संस्कार करते हैं; उसमे पुण्य होता या पाप? साधु दीक्षा के समय उत्सव करते हैं- इत्यादि प्रवृत्ति आज भी देखने में आती है और गृहस्थों ने पूर्व में भी ऐसे कार्य किये है। अब यदि यह पाप हो तो उसका निषेध करो और यदि पुण्य हो तो उसका निषेध किसलिये करते हो?

जैसे थोड़ा धन ठगाते हुए भी बहुत धन का लाभ होता हो तो वह कार्य करना योग्य है। उसी प्रकार थोड़ी हिंसा होती हो; परन्तु बहुत धर्म उत्पन्न होता हो तो वह कार्य करना योग्य है। यदि थोड़ी हिंसा के भय से महाधर्म छोड़े तो पाप ही होता है। तथा संसार में हिंसादि कार्यों में तो बहुत प्रवर्ते और भक्ति आदि में न प्रवर्ते अथवा थोड़ा प्रवर्ते तो भी पाप ही होता है।

तथा ठगाये बिना ही धन का लाभ होता हो तो भी ठगाये तो मूर्ख ही है। उसी प्रकार हिंसादि के कार्य किये बिना ही निर्दोषरूप से अपने उपयोग में रह सके तो उसे हिंसादि कार्य करना उचित नहीं है। जो निरबंध उपयोग में रह सकता हो उसको सावद्यादि कार्यों में प्रवर्त्तना योग्य नहीं है।

इस प्रकार अनेक परिणामों द्वारा अपनी अवस्था देखकर जिससे हित हो वह करना; परन्तु एकान्तपक्ष कार्यकारी नहीं हैं। दूसरी बात यह भी विचारणीय हैं कि केवल अहिंसा ही धर्म का अंग नहीं है; परन्तु रागादि भावों का घटना, वह धर्म का मूल अंग है। ज्ञानादिक में रूचि होकर राग घटे और जितनी वीतरागता हो वह धर्म का अंग है। इसलिये जिससे परिणामों में राग घटे वह कार्य करना; परन्तु जो मिथ्यादृष्टि है, जिसको कुदेव-कुशास्त्र-कुगुरू की श्रद्धा है उसके तो राग घटता ही नहीं। इसलिये सर्वप्रथम वीतरागी देव-शास्त्र- गुरू की श्रद्धा किये बिना यथार्थतः राग नहीं घटता।

❖

.....तथा गृहस्थोंको अणुव्रतादिकके साधन हुए बिना ही सामायिक, प्रतिक्रमण, प्रोषध आदि क्रियाओंका मुख्य आचरण कराते हैं। परन्तु सामायिक तो राग-द्वेषरहित साम्यभाव होनेपर होती है, पाठ मात्र पढ़नेसे व उठना-बैठना करनेसे ही तो होती नहीं है।

फिर कहोगे- अन्य कार्य करता उससे तो भला है? सो सत्य; परन्तु सामायिक पाठमें प्रतिज्ञा तो ऐसी करता है कि- मन-वचन-काय द्वारा सावद्यको न करूँगा, न कराऊँगा; परन्तु मनमें तो विकल्प होता ही रहता है, और वचन-कायमें भी कदाचित् अन्यथा प्रवृत्ति होती है वहाँ प्रतिज्ञाभंग होती है। सो प्रतिज्ञाभंग करनेसे तो न करना भला है; क्योंकि प्रतिज्ञाभंग महापाप है।

तथा गृहस्थों के अणुव्रतादि का साधन हुए बिना ही सामायिक, प्रतिक्रमण और प्रोषधादि क्रिया का आचरण मुख्य कराते हैं। अब सामायिक तो राग-द्वेष रहित साम्यभाव होने पर होती है; परन्तु शरीरादि की क्रिया अथवा एक स्थान पर बैठे रहना वह कोई सामायिक नहीं है। 'मैंने इतना छोड़ा'-इसप्रकार पर की कर्तत्वबुद्धि तो अभी छुटी नहीं, अतः उसको सामायिक आदि नहीं होते। एकान्त स्थान में बैठने से सामायिक होती है, शरीर को स्थिर रखने से सामायिक होती है-ऐसी मान्यता वाला स्थान और शरीर की क्रिया को सामायिक मानता है; परन्तु आत्मा सामायिक का कारण है- इस बात का उसे पता नहीं है। वह मानता है कि मिष्ठान्न खाने से प्रमाद हुआ है। वस्तु खाने से प्रमाद नहीं होता; परन्तु अपने परिणाम में प्रमाद करे तो होता है-उसका उसे भान नहीं है।

शास्त्र में आता है कि नीरस आहार करने से वीर्य घट जाता है; परन्तु यह तो निमित्त का कथन है। यह मानता है कि बादाम-पिश्ता खाने से दिमाग तरोताजा रहता है; परन्तु पर के कारण से ज्ञान की अवस्था नहीं टिकती। गोम्मटसार में उसको मतिज्ञान का नोकर्म कहा है; परन्तु यह तो वहाँ ज्ञान की ऐसी योग्यता हो तब उसमें निमित्त कैसा होता है यह बताया है; परन्तु पर के कारण ज्ञान रहता है-ऐसे विचार सामायिक करके करे तो वह मिथ्यादृष्टि है। उसको सामायिक नहीं होती। सामायिक करके पर की कर्त्ताबुद्धि के विचार करना तो प्रतिज्ञाभंग है। प्रतिज्ञा भंग करने की अपेक्षा तो प्रतिज्ञा नहीं करना ठीक है; कारण कि प्रतिज्ञाभंग करना तो महापाप है।

.....फिर हम पूछते हैं- कोई प्रतिज्ञा भी नहीं करता और भाषापाठ पढ़ता है, उसका अर्थ जानकर उसमें उपयोग रखता है। कोई प्रतिज्ञा करे उसे तो भलीभाँति पालता नहीं है और प्राकृतादिकके पाठ पढ़ता है; उसके अर्थका अपनेको ज्ञान नहीं है, बिना अर्थ जाने वहाँ उपयोग नहीं रहता तब उपयोग अन्यत्र भटकता है। ऐसे इन दोनोंमें विशेष धर्मात्मा कौन? यदि पहलेको कहोगे, तो ऐसा ही उपदेश क्यों नहीं देते? तथा दूसरेको कहोगे तो प्रतिज्ञाभंगका पाप हुआ व परिणामोंके अनुसार धर्मात्मापना नहीं ठहरा; परन्तु पाठादि करनके अनुसार ठहरा।

इसलिये अपना उपयोग जिस प्रकार निर्मल हो वह कार्य करना। साध सके वह प्रतिज्ञा करना। जिसका अर्थ जाने वह पाठ पढ़ना। पद्धति द्वारा नाम रखानेमें लाभ नहीं है.....।

हम पूछते हैं कि कोई सामायिक आदि की प्रतिज्ञा नहीं करता; परन्तु भाषा पाठ पढ़ता है और उसका अर्थ जानकर उसमें उपयोग रखता है। और कोई जीव ऐसा है कि जो सामायिक की प्रतिज्ञा तो लेता है; परन्तु उसका पालन भलीभंति नहीं करता, पाठ पढ़ता है; परन्तु उसका अर्थ नहीं समझता- इसकारण उसका उपयोग भी उसमें नहीं लगकर अन्यत्र लगे बिना नहीं रहता, इससे प्रतिज्ञा का भंग होता है। अब इन दोनो में विशेष धर्मात्मा कौन है? जिसके परिणाम निर्मल हुए है वही धर्मात्मा है। इसलिये अपना उपयोग निर्मल हो वैसा कार्य करना चाहिये। सध सके ऐसी प्रतिज्ञा करना और जिसके भाव समझमें आवे ऐसा पाठ पढ़ना; परन्तु पद्धति अनुसार क्रिया करने से और मात्र पाठ पढ़ लेने से कुछ लाभ नहीं होता।

.....तथा प्रतिक्रमण नाम पूर्वदोष निराकरण करनेका है; परन्तु "मिच्छामि दुक्कड़ं" इतना कहनेहीसे तो दुष्कृत मिथ्या नहीं होते; किये हुए दुष्कृत मिथ्या होने योग्य परिणाम होनेपर ही दुष्कृत मिथ्या होते हैं; इसलिये पाठ ही कार्यकारी नहीं है।

तथा प्रतिक्रमणके पाठमें ऐसा अर्थ है कि- बारह व्रतादिकमें जो दुष्कृत लगे हों वे मिथ्या हों; परन्तु व्रत धारण किए बिना ही उनका प्रतिक्रमण करना कैसे सम्भव है? जिसके उपवास न हो, वह उपवासमें लगे दोषका निराकरण करे तो असम्भवपना होगा।

इसलिये यह पाठ पढ़ना किस प्रकार बनता है.....?

तथा "प्रतिक्रमण" नाम पूर्व दोष निराकरण करने का है। अब 'मिच्छामि दुक्कड' इतना कहने मात्र से ही तो कोई पाप का अभाव नहीं हो जाता, परन्तु किये हुए दृष्कृत्य मिथ्या होने योग्य परिणाम होने पर ही दृष्कृत्य मिथ्या होते हैं। इसलिये मात्र अकेले पाठ से ही कुछ लाभ नहीं होता। और प्रतिक्रमण में तो ऐसा आता है कि बारह व्रतों में जो दोष लगे हों वे मिथ्या होओ। अब सम्यग्दर्शन बिना व्रत नहीं होते और व्रत बिना प्रतिक्रमण नहीं होता। जैसे जिसको उपवास न हो और वह उपवास में लगे हुए दोष का निराकरण करता है तो उसमें असंभवपना जानना चाहिये। इसकारण यह पाठ पढ़ना किसी प्रकार नहीं बनता।

यहाँ अन्यमत के निराकरण की बात चल रही हैं। वीतरागमार्ग के सिवाय स्थानकवासी श्वेताम्बर मत को भी अन्यमती कहा है; क्योंकि वह जैनमत नहीं है। जैन जैसी बातें करने पर भी कुदेवादिक को मानने वाला गृहीत मिथ्यादृष्टि है।

सनातन वीतराग जैनमार्ग, जो कि सर्वज्ञ-वीतराग परमात्मा तथा आचार्य कुन्दकुन्द आदि द्वारा कहा गया है, वह एक ही सत्य मार्ग है; अन्य सब मत कल्पित हैं।

.....तथ प्रोषधमें भी सामायिकवत् प्रतिज्ञा करके पालन नहीं करते; इसलिये पूर्वोक्त ही दोष है। तथा प्रोषध नाम तो पर्वका है; सो पर्वके दिन भी कितने कालतक पापक्रिया करता है, पश्चात् प्रोषधधारी होता है। जितने काल बने उतने काल साधन करनेका तो दोष नहीं है; परन्तु प्रोषधका नाम करे सो युक्त नहीं है। सम्पूर्ण पर्वमें निरवद्य रहनेपर ही प्रोषध होता है। यदि थोड़े भी कालसे प्रोषध नाम हो तो सामायिकको भी प्रोषध कहो, नहीं तो शास्त्रमें प्रमाण बतलाओ कि- जघन्य प्रोषधका इतना काल है। यह तो बड़ा नाम रखकर लोगों को भ्रममें डालने का प्रयोजन भासित होता है.....।

अब कहते है कि स्थानवासी प्रोषध में भी सामायिकवत् प्रतिज्ञा तदनुसार पालन नहीं करते। प्रोषध का स्वरूप जानते नहीं और प्रतिज्ञा लेकर बैठ जाते हैं। प्रातः नौ बजे तक घर का अथवा दुकान का धंधा करके फिर प्रोषध लेकर बैठ जाते हैं। उनको वस्तुस्थिति अथवा व्यवहार-एक का भी पता नहीं है। हाँ, जितने काल बने उतने काल धर्म साधन करने में दोष नहीं; परन्तु वहाँ प्रोषध का नाम धारण करे और धर्म में थोड़ा काल लगावे-यह ठीक नहीं है। वस्तुतः सम्यग्दृष्टि के ही सच्चा प्रोषध होता है, परन्तु यहाँ तो ये अपने शास्त्र अनुसार भी प्रोषध का पालन नहीं करते- यह कहते हैं।

........तथा आखड़ी लेनेका पाठ तो अन्य कोई पढ़ता है, अंगीकार अन्य करता है। परन्तु पाठमें तो 'मेरे त्याग है'' ऐसा वचन है; इसलिये तो त्याग करे उसीको पाठ पढ़ना चाहिये। यदि पाठ न आये तो भाषाहीसे कहे; परन्तु पद्धति के अर्थ यह रीति है.....।

आखड़ी लेने का पाठ तो कोई अन्य पढ़ता है तथा अंगीकार कोई अन्य करता है। अब पाठ में तो 'मेरे त्याग है-ऐसा वचन है; अतः जो त्याग करता है उसे ही पाठ पढ़ना चाहिये; पाठ कोई पढ़ता है और अंगीकार कोई करता है- यह योग्य नहीं है। यदि पाठ (पढ़ना) नहीं आता हो तो भाषा में ही कहे; परन्तु पद्धति के लिये ऐसी रीति है ।

....तथा प्रतिज्ञा ग्रहण करने-करानेकी तो मुख्यता है और यथाविधि पालनेकी शिथिलता है, व भाव निर्मल होनेका विवेक नहीं है। आर्त्तपरिणामोंसे व लोभादिकसे भी उपवासादि करके वहाँ धर्म मानता है; परन्तु फल तो परिणामोंसे होता है।

इत्यादि अनेक कल्पित बातें करते हैं; सो जैनधर्ममें सम्भव नहीं हैं....।

प्रतिज्ञा ग्रहण करने-कराने की मुख्यता है; परन्तु उसके भलीभांति पालन करने में शिथिलता है और अपने भाव निर्मल कैसे हो-इसका विवेक नहीं होता। आर्त्त परिणामों से अथवा लोभादिक से भी उपवास करके वहाँ धर्म मानते हैं। सोलह-सोलह उपवास अथवा महीने के उपवास मान और लोभ के लिये करते हैं; परन्तु फल तो जैसे परिणाम करे वैसा होता है। इस प्रकार उन्होने अनेक कल्पित बातें की है जो जैन धर्म में संभव नहीं है।

.....इस प्रकार यह जैनमें श्वेताम्बर मत है, वह भी देवादिकका व तत्त्वोंका व मोक्षमार्गादिका अन्यथा निरूपण करता है; इसलिये मिथ्यादर्शनादिकका पोषक है सो त्याज्य है।

सच्चे जिनधर्म का स्वरूप आगे कहते हैं; उसके द्वारा मोक्षमार्ग में प्रवर्त्तना योग्य है। वहाँ प्रवर्त्तनेसे तुम्हारा कल्याण होगा....।

इस प्रकार जैन में श्वेताम्वर और स्थानकवासी मत हैं। वे भी देव-गुरु-शास्त्र नव तत्वादि और मोक्षमार्ग का विपरीतरूप से निरूपण करते हैं। इसकारण वे मिथ्यादर्शन आदि के पोषक हैं।

जिसको सच्चे देव-शास्त्र-गुरु के स्वरूप का पता नहीं है उसको निमित्तरूप अजीवतत्त्व कैसा होता है- इसका भी पता नहीं है। जिसको अजीव का पता नहीं है उसको आस्रव, संवर आदि नवतत्त्वों का यथार्थ परिज्ञान नहीं है। तथा वह मोक्षमार्ग को भी अन्यथा प्ररूपित करता है। इसलिये वह मिथ्यादर्शन-मिथ्याज्ञान-मिथ्याचारित्र का पोषक है-इस कारण वह त्याज्य हैं।

जैनधर्म का सत्य स्वरूप आगे कहूँगा जिसके द्वारा मोक्षमार्ग में प्रवर्तना योग्य है। उसमें प्रवर्तन करने से आत्मा का कल्याण होता है।

इस प्रकार पूज्य आचार्यकल्प पण्डितप्रवर टोडरमलजी द्वारा रचित
मोक्षमार्गप्रकाशक के पाँचवे ''विविधमत-समीक्षा''
अधिकार पर दिनांक २९.१२.५२ से २४.१.५३ तक हुए
आध्यात्मिक सत्पुरूष पूज्य श्री कानजीस्वामी के मार्मिक प्रवचनों का
हिन्दी अनुवाद पूर्ण हुआ।

छठवाँ अधिकार

कुदेव, कुगुरू और कुधर्म का प्रतिषेध

दोहा - मिथ्या देवादिक भजे, हो है मिथ्याभाव।
तज तिनको साचें भजो, यह हित-हेत उपाव।।

अर्थः- अनादि से जीवों के मिथ्यादर्शनादिक भाव पाये जाते है, उनकी पुष्टता का कारण कुदेव-कुगुरू-कुधर्म सेवन है; उसका त्याग होने पर मोक्षमार्ग में प्रवृत्ति होती है; इसलिये उनका निरूपण करते हैं।

कुदेव का निरूपण और उसके श्रद्धानादि का निषेध

....वहाँ जो हितके कर्त्ता नहीं हैं और उन्हें भ्रमसे हितका कर्त्ता जानकर सेवन करें सो कुदेव हैं।

उनका सेवन तीन प्रकारके प्रयोजसहित करते हैं। कहीं तो मोक्षका प्रयोजन है, कहीं परलोकका प्रयोजन है और कहीं इसलोकका प्रयोजन है; सो प्रयोजन तो सिद्ध नहीं होते, कुछ विशेष हानि होती है; इसलिये उनका सेवन मिथ्याभाव है। वह बतलाते हैं:-

अन्यमतों जिनके सेवनसे मुक्तिका होना कहा है, उन्हें कितने ही जीव मोक्षके अर्थ सेवन करते हैं, परन्तु मोक्ष होता नहीं है। उनका वर्णन पहले अन्यमत अधिकारमें कहा ही है। तथा अन्यमत में कहे देवों को कितने ही-"परलोकमें सुख होगा दुःख नहीं होगा"- ऐसे प्रयोजनसहित सेवन करते हैं। सो ऐसी सिद्धि तो पुण्य उपजाने और पाप न उपजानेसे होती है; परन्तु आप तो पाप उपजाता है और कहता है ईश्वर हमारा भला करेगा, तो वहाँ अन्याय ठहरा; क्योंकि किसीको पापका फल दे, किसी को न दे ऐसा तो है नहीं। जैसे अपने परिणाम करेगा वैसा ही फल पायेगा; ईश्वर किसीका बुरा-भला करनेवाला नहीं है।

तथा उन देवोंका सेवन करते हुए उन देवोंका तो नाम देते हैं और अन्य जीवोंकी हिंसा करते हैं तथा भोजन, नृत्यादि द्वारा अपनी इन्द्रियोंका विषय पोषण करते हैं; सो पापपरिणामोंका फल तो लगे बिना रहेगा नहीं। हिंसा, विषय-कषायोंको सब पाप कहते है और पापका फल भी सब बुरा ही मानते हैं; तथा कुदेवोंके सेवनमें हिंसा-विषयादिकहीका अधिकार है; इसलिये कुदेवोंके सेवनसे परलोकमें भला नहीं होता........।

जो किसी प्रकार से हित का कारण नहीं है उन्हें भ्रम से हितकारी जानकर सेवन करना देव मूढ़ता है- कुदेव का सेवन है। उनके सेवन से पुण्य का नाश होता है। महामिथ्यात्वरूपी पाप की पुष्टि होती है। अनन्त संसाररूपी दुःख की परम्परा चालू रहती है। अज्ञानी मूढ़ जीवों द्वारा उन कुदेवादिक का सेवन तीन प्रकार के प्रयोजन सहित किया जाता है :-

1. कोई उन्हें मोक्ष का कारण जानकर उनका सेवन करते हैं।
2. कोई परलोक में पुण्य सामग्री के लिये सेवन करते हैं।
3. कोई वर्तमान-इस लोक की सुख-सुविधा के लिये सेवन करते हैं।

कुदेवादि के सेवन से इन प्रयोजनों की सिद्धि होना वे भ्रम से मानते हैं, परन्तु इन तीनो प्रयोजन में से किसी को कुछ भी प्रयोजन सिद्ध नहीं होता, बल्कि विशेष हानि होती है। पुण्य की हानि, पाप की वृद्धि तथा मिथ्यावासना से मिथ्यात्वरूपी महापाप होता है।

अज्ञानी जो कुछ जानता है मानता है वह विपरीतरूप ही जानता-मानता है। सुख की प्राप्ति और दुःख के नाश के लिये अन्यमत में माने गये देवों का सेवन करता है; परन्तु स्वयं आशा-तृष्णारूप पाप करता है तो पुण्य कैसे होगा? स्वयं ममता-तृष्णा घटाकर पुण्य न करे और पाप करे फिर भी ईश्वर आदि देव तथा देवियाँ मेरा भला करेंगे- ऐसा मानता है, परन्तु यह तो अन्याय ठहरा। कारण कि ईश्वर उसकी पापरूप भक्ति में किसी को फल दे और किसी को पाप का फल न दे; परन्तु- ऐसा तो है नहीं। जैसे स्वयं के परिणाम करे वैसा ही फल पायेगा। अतः किसी का भला-बुरा करने वाला ईश्वर कोई नहीं है। कोई पदार्थ- कोई जीव किसी का भला-बुरा किसी प्रकार कर सकता है- ऐसा जो मानता है उसे किसी पदार्थ का सच्चा ज्ञान नहीं है।

तथा देव-देवियों के नाम से हिंसा, भोजन, नृत्यादि द्वारा इन्द्रिय विषयों को पोषता है;

परन्तु परिणामों का फल तो लगे बिना रहता नहीं। परलोक में भी उसके कुदेवादिक के सेवन से कुछ भला नहीं होता, परन्तु भ्रम से- रूढ़ि से मानता है।

व्यंतरादि का स्वरूप और उनके पूजने का निषेध

.......तथा बहुतसे जीव इस पर्यायसम्बन्धी, शत्रुनाशादिक व रोगादिक मिटाने, धनादिककी व पुत्रादिकी प्राप्ति, इत्यादि दुःख मिटाने व सुख प्राप्त करनेके अनेक प्रयोजनसहित कुदेवादिका सेवन करते हैं; हनुमानादिकको पूजते हैं; देवियोको पूजते हैं; गनगौर, सांझी आदि बनाकर पूजते है; चौथ, शीतला, दहाड़ी आदि को पूजते हैं; भूत-प्रेत, पितर, व्यन्तरादिकको पूजते हैं; सूर्य-चन्द्रमा, शनिश्चरादि ज्योतिषियोंको पूजते हैं; पीर-पैगम्बरादिको पूजते हैं; गाय, घोड़ा आदि तिर्यंचोंको पूजते हैं; अग्नि-जलादिकको पूजते हैं; शस्त्रादिकको पूजते हैं; अधिक क्या कहें; रोड़ा इत्यादिको भी पूजते हैं।

सो इस प्रकार कुदेवादिका सेवन मिथ्यादृष्टि से होता है; क्योंकि प्रथम तो वह जिनका सेवन करता है उनमेंसे कितने ही तो कल्पनामात्र देव हैं; इसलिये उनका सेवन कार्यकारी कैसे होगा? तथा कितने ही व्यन्तरादिक हैं; सो वे किसीका भला-बुरा करनेको समर्थ नहीं हैं। यदि वे ही समर्थ होंगे तो वे ही कर्त्ता ठहरेंगे; परन्तु उनके करनेसे कुछ होता दिखायी नहीं देता; प्रसन्न होकर धनादिक नहीं दे सकते और द्वेषी होकर बुरा नहीं कर सकते।

यहाँ कोई कहे- दुःख देते तो देखे जाते हैं, मानने से दुःख देना रोक देते हैं?

उत्तरः इसके पापका उदय हो, तब उनके ऐसी ही कुतूहलबुद्धि होती है, उससे वे चेष्टा करते हैं, चेष्टा करनेसे यह दुःखी होता है। तथा वे कुतूहलसे कुछ कहें और यह उनका कहा हुआ न करे, तो वे चेष्टा करते रूक जाते हैं; तथा इसे शिथिल जानकर कुतूहल करते रहते हैं। यदि इसके पुण्यका उदय हो तो कुछ कर नहीं सकते।

ऐसा भी देखा जाता है- कोई जीव उनको नहीं पूजते, व उनकी निन्दा करते हैं व वे भी उससे द्वेष करते हैं, परन्तु उसे दुःख नहीं दे सकते। ऐसा भी कहते देखे जाते हैं कि-अमुक हमको नहीं मानता, परन्तु

उसपर हमारा कुछ वश नहीं चलता। इसलिये व्यंतरादिक कुछ करनेमें समर्थ नहीं हैं, इसके पुण्य-पापहीसे सुख-दुःख होता है, उनके मानने -पूजनेसे उलटा रोग लगता है, कुछ कार्यसिद्धि नहीं होती।

तथा ऐसा जानना- जो कल्पित देव हैं उनका भी कहीं अतिशय, चमत्कार देखा जाता है, वह व्यन्तरादिक द्वारा किया होता है। कोई पूर्व पर्यायमें उनका सेवक था, पश्चात् मरकर व्यन्तरादि हुआ, वहीं किसी निमित्तसे ऐसी बुद्धि हुई, तब वह लोकमें उनको सेवन करनेकी प्रवृत्ति करानेके अर्थ कोई चमत्कार दिखाता है। जगत भोला; किंचित् चमत्कार देखकर उस कार्यमें लग जाता है। जिसप्रकार जिनप्रतिमादिकका भी अतिशय होना सुनते व देखते हैं सो जिनकृत नहीं है, जैनी व्यन्तरादिक होते हैं; उसी प्रकार कुदेवोंका कोई चमत्कार होता है, वह उनके अनुचर व्यन्तरादिक द्वारा किया होता है ऐसा जानना।

तथा अन्यमतमें परमेश्वरने भक्तोंकी सहाय की व प्रत्यक्ष दर्शन दिये इत्यादि कहते हैं; वहाँ कितनी ही तो कल्पित बातें कही हैं। कितने ही उनके अनुचर व्यन्तरादिक द्वारा किये गये कार्योंको परमेश्वरके किये कहते हैं। यदि परमेश्वर के किये हों तो परमेश्वर तो त्रिकालज्ञ है, सर्वप्रकार समर्थ है; भक्तको दुःख किसलिये होने देगा? तथा आज भी देखते हैं कि-म्लेच्छ आकर भक्तोंको उपद्रव करते हैं, धर्म-विध्वंस करते हैं, मूर्तिको विघ्न करते हैं। यदि परमेश्वरको ऐसे कार्योंका ज्ञान न हो, सर्वज्ञपना नहीं रहेगा। जाननेके पश्चात् भी सहाय न करे तो भक्तवत्सलता गई और सामर्थ्यहीन हुआ। तथा साक्षीभूत रहता है तो पहले भक्तोंको सहाय की कहते हैं वह झूठ है; क्योंकि उसकी तो एकसी वृत्ति है।

फिर यदि कहोगे- वैसी भक्ति नहीं है; तो म्लेच्छोंसे तो भले हैं, और मूर्ति आदि तो उसीकी स्थापना थी, उसे तो विघ्न नहीं होने देना था? तथा म्लेच्छ-पापियों का उदय होता है सो परमेश्वर का किया है या नहीं? यदि परमेश्वर का किया है; तो निन्दकोको सुखी करता है, भक्तोंको दुःख देनेवाले पैदा करता है, वहाँ भक्तवत्सलपना कैसे रहा? और परमेश्वरका किया नहीं

होता, तो परमेश्वर सामर्थ्यहीन हुआ; इसलिये परमेश्वरकृत कार्य नहीं है। कोई अनुचर व्यन्तरादिक ही चमत्कार दिखलाता है- ऐसा ही निश्चय करना।

यहाँ कोई पूछे कि- कोई व्यन्तर अपना प्रभुत्व कहता है, अप्रत्यक्षको बतला देता है, कोई कुस्थान निवासादिक बतलाकर अपनी हीनता कहता है, पूछते हैं सो नहीं बतलाता, भ्रमरूप वचन कहता है, औरोंको अन्यथा परिणमित करता है, दुःख देता है- इत्यादि विचित्रता किस प्रकार है?

उत्तरः व्यन्तरोमें प्रभुत्वकी अधिकता- हीनता तो है, परन्तु जो कुस्थानमें निवासादिक बतलाकर हीनता दिखलाते हैं वह तो कुतूहलसे वचन कहते हैं। व्यन्तर बालककी भाँति कुतूहल करते रहते हैं। जिस प्रकार बालक कुतूहल द्वारा अपनेको हीन दिखलाता है, चिढ़ाता है, गाली सुनाता है, ऊँचे स्वरसे रोता है, बादमें हँसने लग जाता है; उसी प्रकार व्यन्तर चेष्टा करते हैं। यदि कुस्थानके निवासी हों तो उत्तमस्थानमें आते है; वहाँ किसके लानेसे आते हैं? अपने आप आते हैं तो अपनी शक्ति होनेपर कुस्थानमें किसलिये रहते हैं? इसलिये इनका ठिकाना तो जहाँ उत्पन्न होते हैं वहाँ इस पृथ्वीके नीचे व ऊपर है सो मनोज्ञ है। कुतूहलके लिए जो चाहें सो कहते हैं। यदि इनको पीड़ा होती हो तो रोते-रोते हँसने कैसे लग जाते हैं?

इतना है कि- मंत्रादिककी अचिंत्यशक्ति है; सो किसी सच्चे मन्त्रके निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध हो तो उसके किंचित् गमनादि नहीं हो सकते, व किंचित् दुःख उत्पन्न होता है, व कोई प्रबल उसे मना करे तब रह जाता है व आप ही रह जाता है;- इत्यादि मन्त्रकी शक्ति है, परन्तु जलाना आदि नहीं होता। मन्त्रवाले जलाया कहते हैं; वह फिर प्रगट हो जाता है, क्योंकि वैक्रियिक शरीर का जलाना आदि सम्भव नहीं है।

व्यन्तरों के अवधिज्ञान किसी को अल्प क्षेत्र-काल जाननेका है, किसीको बहुत है। वहाँ उनके इच्छा हो और अपनेको ज्ञान बहुत हो तो अप्रत्यक्ष को पूछने पर उसका उत्तर देते हैं। अल्प ज्ञान हो तो अन्य महत् ज्ञानी से पूछ आकर जवाब देते हैं। अपनेको अल्प ज्ञान हो व इच्छा न

हो तो पूछनेपर उसका उत्तर नहीं देते- ऐसा जानना। अल्पज्ञानवाले व्यन्तरादिकको उत्पन्न होनेके पश्चात् कितने काल ही पूर्वजन्मका ज्ञान हो सकता है, फिर उसका स्मरणमात्र रहता है, इसलिये वहाँ इच्छा द्वारा आप कुछ चेष्टा करें तो करते हैं, पूर्व जन्मकी बातें कहते हैं; कोई अन्य बात पूछे तो अवधिज्ञान तो थोड़ा है, बिना जाने किस प्रकार कहें? जिसका उत्तर आप न दे सकें व इच्छा न हो, वहाँ मानकुतूहलादिकसे उत्तर नहीं देते व झूठ बोलते हैं- ऐसा जानना।

देवोंमें ऐसी शक्ति है कि- अपने व अन्यके शरीरको व पुद्गल स्कन्ध को जैसी इच्छा हो तदनुसार परिणमित करते हैं; इसलिये नानाआकारादिकरूप आप होते हैं व अन्य नाना चरित्र दिखाते हैं। अन्य जीवके शरीरको रोगादियुक्त करते हैं।

यहाँ इतना है कि- अपने शरीरको व अन्य पुद्गल स्कन्धों को जितनी शक्ति हो उतने ही परिणमित कर सकते हैं ; इसलिये सर्वकार्य करनेकी शक्ति नहीं है। अन्य जीवके शरीरादिको उसके पुण्य-पाप के अनुसार परिणमित कर सकते हैं। उसके पुण्यका उदय हो तो आप रोगादिरूप परिणमित नहीं कर सकता और पापउदय हो तो उसका इष्ट कार्य नहीं कर सकता।

इस प्रकार व्यन्तरादिककी शक्ति जानना।

यहाँ कोई कहे- इतनी शक्ति जिनमें पायी जाये उनके मानने- पूजनेमें क्या दोष?

उत्तरः अपने पापका उदय होनेसे सुख नहीं दे सकते, पुण्यका उदय होने से दुःख नहीं दे सकते; तथा उनको पूजनेसे कोई पुण्यबन्ध नहीं होता, रागादिककी वद्धि होनेसे पापही होता है; इसलिये उनका मानना-पूजना कार्यकारी नहीं है, बुरा करने वाला है। तथा व्यन्तरादिक मनवाते हैं, पुजवाते हैं- वह कुतूहल करते हैं; कुछ विशेष प्रयोजन नहीं रखते । जो उनको माने- पूजे उसीसे कुतूहल करते रहते हैं; जो नहीं मानते -पूजते उनसे कुछ नहीं कहते। यदि उनको प्रयोजन ही हो, तो न मानने-

पूजनवाले को बहुत दुःखी करें; परन्तु जिनके न मानने-पूजनेका निश्चय है, उससे कुछ भी कहते दिखायी नहीं देते। तथा प्रयोजन तो क्षुधादिककी पीड़ा हो तब हो; परन्तु वह तो उनके व्यक्त होती नहीं है। यदि हो तो उनके अर्थ नैवेद्यादिक देते हैं, उसे ग्रहण क्यों नहीं करते? व औरोंको भोजनादि करानेको ही क्यों कहते हैं? इसलिये उनके कुतूहलमात्र क्रिया है। अपनेमें उनके कुतूहलका स्थान होनेपर दुःख होगा, हीनता होगी; इसलिये उनको मानना-पूजना योग्य नहीं है।

तथा कोई पूछे कि व्यन्तर ऐसा कहते हैं- गया आदिमें पिंडदान करो तो हमारी गति होगी, हम फिर नहीं आयेंगे। सो क्या है?

उत्तरः- जीवोंके पूर्वभवका संस्कार तो रहता ही है। व्यन्तरोंको भी पूर्वभवके स्मरणादिसे विशेष संस्कार है; इसलिये पूर्वभवमें ऐसी ही वासना थी- गयादिकमें पिंडदानादि करनेपर गति होती है, इसलिये ऐसे कार्य करनेको कहते हैं। यदि मुसलमान आदि मरकर व्यन्तर होते हैं, वे तो ऐसा नहीं कहते, वे तो अपने संस्काररूप ही वचन कहते हैं; इसलिये सर्व व्यन्तरोंकी गति उसी प्रकार होती हो तो सभी समान प्रार्थना करें; परन्तु ऐसा नहीं है। ऐसा जानना।

इस प्रकार व्यन्तरादिकका स्वरूप जानना।

तथा सूर्य, चन्द्रमा, ग्रहादिक ज्योतिषी हैं; उनको पूजते हैं वह भी भ्रम है। सूर्यादिकको परमेश्वरका अंश मानकर पूजते हैं, परन्तु उसके तो एक प्रकाशकी ही अधिकता भासित होती है; सो प्रकाशवान् तो अन्य रत्नादिक भी होते हैं; अन्य कोई ऐसा लक्षण नहीं है जिससे उसे परमेश्वरका अंश मानें। तथा चन्द्रमादिको धनादिककी प्राप्तिके अर्थ पूजते हैं; परन्तु उनके पूजनसे ही धन होता हो तो सर्व दरिद्री इस कार्यको करें, इसलिये यह मिथ्याभाव हैं। तथा ज्योतिषके विचारसे बुरे ग्रहादिक आनेपर उनकी पूजनादि करते हैं, इसके अर्थ दानादिक देते हैं; सो जिस प्रकार हिरनादिक स्वयमेव गमनादिक करते हैं, और पुरूषके दाये-बायें आने पर सुख-दुःख होनेके आगामी ज्ञानको कारण होते हैं, कुछ सुख-दुःख देनेको समर्थ नहीं

हैं। कोई तो उनका पूजनादि करते हैं उनके भी इष्ट नहीं होता; कोई नहीं करता उसके भी इष्ट होता है; इसलिये उनका पूजनादि करना मिथ्याभाव है।

यहाँ कोई कहे- देना तो पुण्य है सो भला ही है?

उत्तरः- धर्मके अर्थ देना पुण्य है। यह तो दुःखके, भयसे व सुखके लोभसे देते हैं, इसलिये पाप ही है।

इत्यादि अनेक प्रकारसे ज्योतिषी देवोंको पूजते हैं सो मिथ्या है।

तथा देवी-दहाड़ी आदि हैं; वे कितनी ही तो व्यन्तरी व ज्योतिषिनी हैं, उनका अन्यथा स्वरूप मानकर पूजनादि करते हैं।कितनी ही कल्पित हैं, सो उनकी कल्पना करके पूजनादि करते हैं।

इस प्रकार व्यन्तरादिकके पूजनेका निषेध किया.....।

कोई किसी का शत्रु, मित्र, इष्ट (उपकारक), अनिष्ट (अपकारक) नहीं हो सकता, फिर भी भ्रमवश किसी को शत्रु-मित्र, अनुकूल-प्रतिकूल, सुख-दुख का साधन मानकर शत्रु के नाशादि तथा रोगादि के नाश के लिए व धन-पुत्रादि की प्राप्ति के लिये, इस लोक के शरीर सम्बन्धी माने हुऐ दुःख को मिटाने के लिये और सुख प्राप्ति आदिरूप अनेक प्रयोजन पूर्वक इन कुदेवादिक का सेवन करता है। मंत्र, जप, यज्ञादि करता है। हनुमान, भैरव, देवियों, भूत, व्यंतरादि, सूर्य, चन्द्र, शनि आदि ज्योतिषियों को, पीर-पैगम्बरादि को, गाय, घोड़ा बंदरादि पशु और पीपल, बड़ आदि तिर्यन्चों को; अग्नि, जल, पर्वत, त्रिशुल आदि को पूजता हैं। अधिक क्या कहे? रोड़ा इत्यादि को भी पूजता है।

इन कुदेवादिक का सेवन मिथ्यादृष्टि ही करते हैं। क्योंकि जिनका वह सेवन करता है उनमें से कई तो कल्पनामात्र देव हैं। कोई व्यंतरादि हलके देव हैं सो वे किसी का भला-बुरा करने को समर्थ नहीं है, यदि होवे तो वे ही कर्त्ता ठहरें; परन्तु उनका किया कुछ दिखता नहीं है। जीव को पुण्य-पापरूप पूर्व कर्म के निमित्त से संयोग-वियोग, जीवन-मरण, रोग-निरोगता, धनवानपना, निर्धनपना आदि होता हैं; उसमें किसी की होशियारी काम नहीं आती ।

कोई कहे कि- देव किसी को परेशान करता है तो उसे मंत्र द्वारा बोतल में प्रविष्ट कराकर जमीन में गाड़ देते हैं, मंत्र से जला देते हैं फिर वह शांत हो जाता है। तो ये सब

बातें मिथ्या हैं; क्योंकि देव के वैक्रियक शरीर होता है। इस कारण वह जलता नहीं है और न किसी से पकड़ा जाता है। इस सम्बन्ध मे अज्ञानी की कल्पना और उसे किस प्रकार के निमित्त का मेल बनता है- इसका वर्णन इसी मोक्षमार्गप्रकाशक मे पढ़ लेना चाहिये।

सर्वज्ञ वीतराग देव को उनके सत्य स्वरूप सहित पहिचानकर उनकी विनय, भक्ति, पूजा करे तो वह शुभराग है, पुण्य है, धर्म नहीं। और जो व्यंतरादि की पूजा करे, मान्यता माने उसको उनसे किसी न किसी प्रकार की आशा होती ही है। इससे पाप ही होता है। देव को नैवेद्य, लाडु चढ़ावे और कभी कोई व्यंतर देव आकर चमत्कार बतावे, परन्तु इससे क्या? वह तो कौतूहलमात्र है। देवों को कवलाहार नहीं होता। वह मनुष्य की तरह मुँह से आहार-पानी ले- ऐसा कभी नहीं बनता। अज्ञानी अपने द्वारा माने हुए देव-देवियों को महिमा मण्डित करके उनकी श्रद्धा से अनेक लाभ बताता है; परन्तु कोई देव-देवी किसी को सुख-दुःख देने से समर्थ नहीं है। क्योंकि बहुत से लोग उनकी पूजनादिक करते हैं फिर भी उनका कष्ट नहीं मिटता और नहीं पूजने वाले सुखी देखने में आते हैं। इस प्रकार व्यंतरादि के पूजने का निषेध किया।

क्षेत्रपाल, पद्मावती आदि पूजने का निषेध

यहाँ कोई कहे- क्षेत्रपाल, दहाड़ी, पद्मावती आदि देवी, यक्ष-यक्षिणी आदि जो जिनमत का अनुसरण करते हैं उनके पूजनादि करनेमें दोष नहीं है?

उत्तरः- जिनमतमें संयम धारण करनेसे पूज्यपना होता; और देवोंके संयम होता ही नहीं। तथा इनको सम्यक्त्वी मानकर पूजते हैं सो भवनत्रिक में सम्यक्त्वकी भी मुख्यता नहीं है। यदि सम्यक्त्वसे ही पूजते हैं तो सर्वार्थसिद्धिके देव, लोकान्तिक देव उन्हें ही क्यों न पूजें? फिर कहोगे- इनके जिनभक्ति विशेष है; सो भक्ति की विशेषता सौधर्म इन्द्रके भी है, वह सम्यग्दृष्टि भी है; उसे छोड़कर इन्हें किसलिये पूजें? फिर यदि कहोगे- जिस प्रकार राजाके प्रतिहारादिक हैं, उसी प्रकार तीर्थंकरके क्षेत्रपालादिक हैं; परन्तु समवसरणादिमें इनका अधिकार नहीं है, यह तो झूठी मान्यता है। तथा जिस प्रकार प्रतिहारादिकके मिलाने पर राजासे मिलते हैं; उसी प्रकार यह तीर्थंकरसे नहीं मिलाते। वहाँ तो जिसके भक्ति हो वही तीर्थंकर के दर्शनादिक करता है, कुछ किसीके आधीन नहीं है।

तथा देखो अज्ञानता! आयुधादि सहित रौद्रस्वरूप है जिनका, उनकी गा-गाकर भक्ति करते हैं। सो निजमतमें भी रौद्ररूप पूज्य हुआ तो यह भी अन्य मतके ही समान हुआ। तीव्र मिथ्यात्वभावसे जिनमत में भी ऐसी विपरीत प्रवृतिका मानना होता है।

इस प्रकार क्षेत्रपालादिक भी पूजन योग्य नहीं है।

तथा गाय, सर्पादि तिर्यंच हैं वे प्रत्यक्ष ही अपनेसे हीन भासित होते हैं; उनका तिरस्कारादि कर सकते हैं, उनकी निंद्यदशा प्रत्यक्ष देखी जाती है। तथा वृक्ष, अग्नि जलादिक स्थावर हैं; वे तिर्यंचोंसे भी अत्यन्त हीन अवस्थाको प्राप्त देखे जाते हैं। तथा शस्त्र, दवात आदि अचेतन हैं; वे सर्वशक्तिसे हीन प्रत्यक्ष भासित होते हैं, उनमें पूज्यपने का उपचार भी सम्भव नहीं है।- इसलिये इनका पूजना महा मिथ्याभाव है। इनको पूजनेसे प्रत्यक्ष व अनुमान द्वारा कुछ भी फलप्राप्ति भासित नहीं होती; इसलिये इनको पूजना योग्य नहीं है।

इस प्रकार सर्व ही कुदेवोंको पूजना-मानना निषिद्ध है।

देखो तो मिथ्यात्वकी महिमा! लोकमें तो अपनेसे नीचेको नमन करनेमें अपनेको निंद्य मानते हैं, और मोहित होकर रोड़ों तकको पूजते हुए भी निंद्यपना नहीं मानते। तथा लोकमें तो जिससे प्रयोजन सिद्ध होता जाने, उसीकी सेवा करते हैं और मोहितहोकर "कुदेवोंसे मेरा प्रयोजन कैसे सिद्ध होगा"- ऐसा बिना विचारे ही कुदेवोंका सेवन करते हैं। तथा कुदेवोंका सेवन करते हुए हजारों विघ्न होते हैं उन्हें तो गिनता नहीं है और किसी पुण्यके उदयसे इष्टकार्य हो जाये तो कहता है- इसके सेवनै से यह कार्य हुआ। तथा कुदेवादिका सेवन किये बिना जो इष्ट कार्य हों, उन्हें तो गिनता नहीं है और कोई अनिष्ट हो जाये तो कहता है- इसका सेवन नहीं किया इसलिये अनिष्ट हुआ। इतना नहीं विचारता कि- इन्हींके आधीन इष्ट-अनिष्ट करना हो तो जो पूजते हैं उनके इष्ट होगा, नहीं पूजते उनके अनिष्ट होगा; परन्तु ऐसा तो दिखायी नहीं देता। जिस प्रकार किसीके शीतलाको बहुत मानने पर भी पुत्रादि मरते देखे जाते हैं, किसीके बिना माने भी जीते

देखे जाते हैं; इसलिये शीतलाका मानना किंचित् कार्यकारी नहीं है।

इसी प्रकार सर्व कुदेवोंका मानना किंचित् कार्यकारी नहीं है।

यहाँ कोई कहे- कार्यकारी नहीं है तो न हो, उनके मानने से कुछ बिगाड़ भी तो नहीं होता।

उत्तरः- यदि बिगाड़ न हो तो हम किसलिये निषेध करें? परन्तु एक तो मिथ्यात्वादि दृढ़ होनेसे मोक्षमार्ग दुर्लभ हो जाता है, यह बड़ा बिगाड़ है; दूसरे पापबंध होनेसे आगामी दुःख पाते हैं, यह बिगाड़ है।

यहाँ पूछे कि- मिथ्यात्वादिभाव तो अतत्त्व-श्रद्धानादि होनेपर होते हैं और पापबंध खोटे (बुरे) कार्य करनेसे होता है; सो उनके मानने से मिथ्यात्वादिक व पापबंध किस प्रकार होंगे?

उत्तरः- प्रथम तो परद्रव्यों को इष्ट-अनिष्ट मानना ही मिथ्या है, क्योंकि कोई द्रव्य किसीका मित्र-शत्रु है नहीं। तथा जो इष्ट-अनिष्ट पदार्थ पाये जाते हैं उसका कारण पुण्य-पाप है; इसलिये जैसे पुण्यबंध हो पापबंध न हो; वह करना। तथा यदि कर्म उदयका भी निश्चय न हो और इष्ट-अनिष्टके बाह्य कारणोंके संयोग-वियोगका उपाय करे; परन्तु कुदेवको मानने से इष्ट-अनिष्ट बुद्धि दूर नहीं होती, केवल बृद्धिको प्राप्त होती है; तथा उससे पुण्यबंध भी नहीं होता, पापबंध होता है। तथा कुदेव किसीको धनादिक देते या छुड़ा लेते नहीं देखे जाते, इसलिये ये बाह्यकारण भी नहीं है। इनकी मान्यता किस अर्थ की जाती है? जब अत्यन्त भ्रमबुद्धि हो, जीवोंदि तत्त्वों के श्रद्धान-ज्ञानका अंश भी न हो, और राग-द्वेषकी अति तीव्रता हो; तब जो कारण नहीं हैं उन्हें भी इष्ट-अनिष्टका कारण मानते हैं, तब कुदेवोंकी मान्यता होती है।

ऐसे तीव्र मिथ्यात्वादि भाव होनेपर मोक्षमार्ग अति दुर्लभ हो जाता है....।

प्रश्न :-क्षेत्रपाल, पद्मावती, धरणेन्द्र, यक्ष, यक्षिणी आदि जैनमतानुसारी हैं, तो उनका पूजन करने में क्या दोष है?

उत्तर :- जैनमत में तो सम्यग्दर्शन सहित वीतरागभावरूप संयम धारण करने से ही पूज्यपना होता है। देवो के तो संयम होता ही नहीं। तथा उन्हें समकिती मानकर पूजना

भी ठीक नहीं है; क्योंकि भवनवासी, व्यंतर और ज्योतिषी देवों में सम्यक्त्व की भी मुख्यता नहीं है। यदि उन्हें समकित से ही पूजते हो तो सर्वार्थसिद्धि और लोकांतिक देवों को ही क्यों नहीं पूजते? तुम कहोगे कि क्षेत्रपालादि को जिनदेव के प्रति भक्ति विशेष है, तो भक्ति की विशेषता तो सौधर्म इन्द्र को भी है। और वह सम्यग्दृष्टि भी है; तो उसे छोड़कर इनको किसलिये पूजते हो?

देव-देवी, यक्ष-यक्षिणी कोई समवसरण में भगवान के दर्शन नहीं कराते। जिसको भक्ति होती है, योग्यता होती है- वह स्वतन्त्ररूप से दर्शन करने जाता है।

देखो तो सही, घोर अज्ञान! कि जिनमन्दिर मे भी व्यंतर क्षेत्रपाल, भवनवासी देव-देवियों की स्थापना करते हैं। शस्त्र-हथियार सहित रौद्र जिसका रूप है, उसे नमस्कार करते हैं; गा-गाकर भक्ति करते हैं, परन्तु जैनमत में ऐसा नहीं होता।

तथा कुदेव का सेवन करने वाले को पाप के कारण बहुत-बहुत विघ्न होवें, उन्हें तो नहीं गिनता; परन्तु यदि पुण्योदय से उसका कोई इष्ट कार्य हो जाये तो कहता है कि इनके सेवन से यह कार्य हुआ। तथा कुदेव सेवन बिना यदि इष्ट होवे उसे तो गिनता नहीं, परन्तु पापोदय से कोई अनिष्ट देखकर कहता है कि देखो उन्होंने देव का सेवन नहीं किया इसलिये उनका अनिष्ट हुआ, परन्तु इतना भी विचार नहीं करता कि यदि इष्ट-अनिष्ट उन देवों के आधीन होवे तो उनके भक्तों के इष्ट ही होना चाहिये और उन्हें नहीं पूजने वालों का अनिष्ट ही होना चाहिये, परन्तु ऐसा दिखता नहीं है। क्योंकि देव-देवियों को मानने वालों के यहाँ भी पुत्रादिक मरते देखे जाते हैं। अतः शीतलादि को मानना कुछ भी कार्यकारी नहीं है। इस प्रकार सभी कुदेवों को मानना कुछ भी कार्यकारी नहीं है।

कोई पूछे कि कुदेव के मानने से हिंसा कहाँ होती है? परन्तु भाई! *तीव्र मिथ्यात्व का सेवन ही बड़े से बड़ा पाप है; क्योंकि उसमें तीव्र रस से असत् का आदर होता है और सत् का अनादर होता है।* परन्तु भोलें मनुष्यों को अपनी आत्मा के घोर हिंसा रूप मिथ्यात्व का पाप क्या है? उसका भान नहीं है।

तथा यदि कुदेव की श्रद्धा से जीव का अहित न होता हो तो अनन्त ज्ञानियों ने, तीर्थंकरों ने उसका निषेध किसलिये किया है? खोटे का निषेध करने में दोष नहीं है, बल्कि सत्य की दृढ़ता है। तथा उन *कुदेवों को मानने से मिथ्यादर्शन-शल्य आदि पाप की दृढ़ता होने से मोक्षमार्ग दुर्लभ हो जाता है। और यही महाअहित-बिगाड़ है।* तथा इससे नये पाप बंधते है।

प्रश्नः- मिथ्यात्वभाव तो अतत्व श्रद्धान-ज्ञान-वर्तन करने से होता है। तथा पाप बंध तो खराब काम करने से होता है; परन्तु इनको मानने से मिथ्यात्वभाव और पाप बंध कैसे होगा ?

उत्तरः- प्रथम तो पर को इष्ट-अनिष्ट मानना ही मिथ्यात्व है; क्योंकि कोई द्रव्य, क्षेत्र, काल और परद्रव्य के गुण किसी जीव का हित-अहित करने में समर्थ नहीं है। अतः कोई द्रव्य किसी का शत्रु अथवा मित्र है ही नहीं। तथा जो इष्ट-अनिष्ट पदार्थ पाये जाते हैं उसमें (कारण) तो स्वयं के द्वारा किया हुआ पुण्य-पापरूप तीव्र-मंद कषाय भाव है। अतः जैसे पाप बंध न हो और पुण्य बंध हो वैसा कार्य करना।

सर्वप्रथम सम्यग्दर्शन द्वारा सत्य-असत्य का निर्णय करना चाहिये। सत्य-असत्य का निर्णय करे तो कोई पदार्थ इष्ट-अनिष्ट भासित नहीं होगा और तभी ज्ञाता-दृष्टारूप समभाव हो सकता है। सर्व प्रथम सत्य की पहिचान करे तो मिथ्यात्वरूपी पाप से बचे। **जो जीव अपने को मिथ्यात्वरूपी महापाप से नहीं बचा सकता वह अन्य किसी पाप से नहीं बच सकता।** अज्ञानी के पुण्य को पापानुबंधी पुण्य कहते हैं।

कुदेव को न मानने वाला अज्ञानी चाहे जितने व्रतादि पुण्य कार्य करे; मैं धर्म साधन करता हूँ- ऐसा माने; परन्तु उसे भी इष्ट-अनिष्ट बुद्धि रहती है। तब जो कुदेव को मानता है उसकी तो परद्रव्य में इष्ट-अनिष्ट की बुद्धि कैसे मिटे ? उल्टे पर में तीव्र कर्त्ताबुद्धि से पर से भला-बुरा मानता होने से उसके तो इष्ट-अनिष्ट बुद्धि बढ़ती ही हैं और इसी कारण कुदेव को मानने वाले को पुण्य बंध भी नहीं होता, पाप बंध ही होता है। वे कुदेवादि किसी को धनादि देते-लेते नहीं है; इससे वे धनादि के लिये बाह्य कारण भी नहीं है। बाह्य निमित्त तो पूर्व का पुण्य-पाप का उदय है। तब जो किसी प्रकार की सुख-सुविधा के कारण नहीं हैं उनकी मान्यता किसलिये की जाती है ? जब :-

(1) अत्यन्त भ्रम बुद्धि हो,

(2) जीवादि तत्वों के श्रद्धान-ज्ञान का अंश भी न हो,

(3) महामूढ़ता हो तथा

(4) राग-द्वेष की अत्यन्त तीव्रता हो तभी जो कारण नहीं (इष्ट-अनिष्ट के कारण नहीं) उन कुदेवों की मान्यता की जाती है।

इसप्रकार तीव्र मिथ्यात्व आदि भावों से मोक्षमार्ग अति-अति दुर्लभ हो जाता है।

अतः जिन्हें अनन्त संसारीपने के दुःख का भय होवे और सुखी होना होवे उन्हें कुदेव का त्यागी होकर प्रथम ही सत्य समझना चाहिये।

कुगुरू का निरूपण और उसके श्रद्धानादि का निषेध

.....आगे कुगुरूके श्रद्धानादिका निषेध करते हैं :-

जो जीव विषय-कषायादि अधर्मरूप तो परिणमित होते हैं, और मानादिकसे अपनेको धर्मात्मा मानते हैं, धर्मात्माके योग्य नमस्कारादि क्रिया कराते हैं, अथवा किंचित् धर्मका कोई अंग धारण करके बड़े धर्मात्मा कहलाते हैं, बड़े धर्मात्मा योग्य क्रिया कराते हैं- इसप्रकार धर्मका आश्रय करके अपनेको बड़ा मनवाते हैं, वे सब कुगुरू जानना; क्योंकि धर्मपद्धतिमें तो विषय-कषायादि छूटनेपर जैसे धर्मको धारण करे वैसा ही अपना पद मानना योग्य है.....।

जो जीव विषय-कषायादि अधर्मरूप तो परिणमित होते हैं और मानादिक से अपने को धर्मात्मा मानते हैं, धर्मात्मा के योग्य नमस्कारादि क्रिया कराते हैं। किंचित् कोई धर्म का अंग धारण करके अपने को धर्मात्मा कहलाते हैं; तथा महान धर्मात्मा के योग्य क्रिया कराते हैं। इस प्रकार धर्म की आड़ लेकर, धर्म गुरू का वेष रखकर अपने को महान मनाते हैं- वे सब कुगुरू जानना। उन्हें जो किसी भी प्रयोजन से वंदन-नमस्कार करे- वह धर्मी जीव नहीं है। क्योंकि धर्म पद्धति में तो मिथ्यात्व की प्रवृति के अभाव पूर्वक विषय-कषायादि से छूटकर सम्यग्दर्शन सहित जैसा धर्म धारण करे वैसा ही अपना पद मानना योग्य है।

कुलादि अपेक्षा गुरूपने का निषेधः-

......वहाँ कितने ही तो कुल द्वारा अपनेको गुरू मानते हैं। उनमें कुछ ब्राह्मणादिक तो कहते हैं- हमारा कुल ऊँचा है, इसलिये हम सबके गुरू हैं। परन्तु कुलकी उच्चता तो धर्म साधनसे है। यदि उच्च कुलमें उत्पन्न होकर हीन आचरण करे तो उसे उच्च कैसे मानें? यदि कुलमें उत्पन्न होनेसे ही उच्चपना रहे, तो मांसभक्षणादि करने पर भी उसे उच्च ही मानो; सो वह बनता नहीं है। भारत ग्रन्थमें भी अनेक ब्राह्मण कहे हैं। वहाँ "जो ब्राह्मण होकर चांडाल कार्य करे, उसे चांडाल ब्राह्मण कहना"- ऐसा कहा है। यदि कुलही से उच्चपना हो तो ऐसी हीन संज्ञा किसलिये दी है।

तथा वैष्णवशास्त्रोंमें ऐसा भी कहते हैं- वेदव्यासादिक मछली आदिसे उत्पन्न हुए हैं। वहाँ कुलका अनुक्रम किस प्रकार रहा? तथा मूल उत्पत्ति तो ब्रह्मा से कहते हैं; इसलिये सबका एक कुल है, भिन्न कुल कैसे रहा? तथा उच्चकुलकी स्त्रीके नीचकुलके पुरूषसे व नीचकुलकी स्त्रीके उच्चकुलके पुरूष से संगम होनेसे सन्तति होती देखी जाती है; वहाँ कुलका प्रमाण किस प्रकार रहा? यदि कदाचित् कहोगे- ऐसा है तो उच्च-नीचकुलके विभाग किसलिये मानते हो? सो लौकिक कार्योंमें असत्य प्रवृत्ति भी सम्भव है, धर्मकार्यमें तो असत्यता सम्भव नहीं है; इसलिये धर्मपद्धतिमें कुल अपेक्षा महन्तपना सम्भव नहीं है। धर्मसाधनहीसे महन्तपना होता है। ब्राह्मणादि कुलोंमें महन्तता है सो धर्मप्रवृत्तिसे है; धर्मप्रवृत्तिको छोड़कर हिंसादि पापमें प्रवर्तने से महन्तपना किस प्रकार रहेगा?

तथा कोई कहते हैं कि- हमारे बड़े भक्त हुए हैं, सिद्ध हुए हैं, धर्मात्मा हुए हैं; हम उनकी सन्ततिमें हैं, इसलिए हम गुरू हैं। परन्तु उन बड़ोके बड़े तो ऐसे उत्तम थे नहीं; यदि उनकी सन्ततिमें उत्तमकार्य करने से उत्तम मानते हो तो उत्तमपुरूषकी सन्ततिमें जो उत्तमकार्य न करे, उसे उत्तम किसलिये मानते हो? शास्त्रोंमें व लोकमें यह प्रसिद्ध है कि पिता शुभकार्य करके उच्चपद प्राप्त करता है, पुत्र अशुभकार्य करके नीचपद को प्राप्त करता है; पिता अशुभ कार्य करके नीचपदको प्राप्त करता है, पुत्र शुभकार्य करके उच्चपदको प्राप्त करता है। इसलिये बड़ों की अपेक्षा महन्त मानना योग्य नहीं है।

इस प्रकार कुलद्वारा गुरूपना मानना मिथ्याभाव जानना।

तथा कितने ही पट्ट द्वारा गुरूपना मानते हैं। पूर्वकालमें कोई महन्त पुरूष हुआ हो, उसकी गादीपर जो शिष्य-प्रतिशिष्य होते आये हों, उनमें उस महत्पुरूष जैसे गुण न होने पर भी गुरूपना मानते हैं। यदि ऐसा ही हो तो उस गादीमें कोई परस्त्रीगमनादि महापाप कार्य करेगा वह भी धर्मात्मा होगा, सुगतिको प्राप्त होगा; परन्तु यह सम्भव नहीं है और वह पापी है तो गादीका अधिकार कहाँ रहा? जो गुरूपद योग्य कार्य करे वही गुरू है।

तथा कितने ही पहले तो स्त्री आदिके त्यागी थे; बादमें भ्रष्ट होकर विवाहादि कार्य करके गृहस्थ हुए, उनकी सन्तति अपनेको गुरू मानती है; परन्तु भ्रष्ट होनेके बाद गुरूपना किस प्रकार रहा? अन्य गृहस्थोंके समान यह भी हुए। इतना विशेष हुआ कि यह भ्रष्ट होकर गृहस्थ हुए; इन्हें मूल गृहस्थधर्मी गुरू कैसे मानें?

तथा कितने ही अन्य तो सर्व पापकार्य करते हैं, एक स्त्रीसे विवाह नहीं करते और इसी अंगद्वारा गुरूपना मानते हैं। परन्तु एक अब्रह्म ही तो पाप नहीं है, हिंसा परिग्रहादिक भी पाप हैं; उन्हें करते हुए धर्मात्मा- गुरू किस प्रकार मानें? तथा वह धर्मबुद्धिसे विवाहादिकका त्यागी नहीं हुआ है; परन्तु किसी आजीविका व लज्जा आदि प्रयोजनके लिये विवाह नहीं करता। यदि धर्मबुद्धि होती तो हिंसादिक किसलिये बढ़ाता? तथा जिसके धर्मबुद्धि नहीं है उसके शीलकी भी दृढ़ता नहीं रहती, और विवाह नहीं करता तब परस्त्री गमनादि महापाप उत्पन्न करता है। ऐसी क्रिया होनेपर गुरूपना मानना महा भ्रष्टबुद्धि है।

तथा कितने ही किसी प्रकारका भेष धारण करनेसे गुरूपना मानते हैं; परन्तु भेष धारण करनेसे कौनसा धर्म हुआ कि जिससे धर्मात्मा- गुरू मानें? वहाँ कोई टोपी लगाते हैं, कोई गुदड़ी रखते हैं, कोई चोला पहिनते हैं, कोई चादर ओढ़ते हैं, कोई लाल वस्त्र रखते हैं, कोई श्वेत वस्त्र रखते हैं, कोई भगवा रखते हैं, कोई टाट पहिनते हैं, कोई मृगछाला रखते हैं, कोई राख लगाते हैं- इत्यादि अनेक स्वांग बनाते हैं। परन्तु यदि शीत-उष्णादिक नहीं सहे जाते थे, लज्जा नहीं छूटी थी, तो पगड़ी जामा इत्यादि प्रवृत्तिरूप वस्त्रादिका त्याग किसलिये किया? उनको छोड़कर ऐसे स्वांग बनानेमें धर्मका कौनसा अंग हुआ? गृहस्थों को ठगने के अर्थ ऐसे भेष जानना। यदि गृहस्थ जैसा अपना स्वांग रखे तो गृहस्थ ठगे कैसे जायेंगे? और इन्हें उनके द्वारा आजीविका व धनादिक व मानादिका प्रयोजन साधना है; इसलिये ऐसे स्वांग बनाते हैं। भोला जगत उस स्वांगको देखकर ठगाता है और धर्म हुआ मानता है; परन्तु यह भ्रम है। यही कहा है:-

जह कुवि वेस्सारत्तो मुसिज्जमाणो विमण्णए हरिसं।
तह मिच्छवेसमुसिया गयं पि ण मुणंति धम्म-णिहिं ।। 5 ।।

(उपदेशसिद्धान्तरत्नमाला)

अर्थः- जैसे कोई वैश्यासक्त पुरूष धनादिकको ठगाते हुए भी हर्ष मानते है; उसी प्रकार मिथ्याभेष द्वारा ठगे गये जीव नष्ट होते हुए धर्मधनको नहीं जानते हैं। भावार्थः- इन मिथ्यावेषवालें जीवोंकी सुश्रुषा आदि से अपना धर्मधन नष्ट होता है उसका विषाद नहीं है, मिथ्याबुद्धिसे हर्ष करते हैं। वहाँ कोई तो मिथ्याशास्त्रोंमें जो वेष निरूपित किये हैं उनको धारण करते हैं; परन्तु उन शास्त्रोंके कर्त्ता पापियों ने सुगम क्रिया करनेसे उच्चपद प्ररूपित करनेमें हमारी मान्यता होगी व अन्य बहुत जीव इस मार्गमें लग जायेंगे, इस अभिप्रायसे मिथ्या उपदेश दिया है। उसकी परम्परासे विचार रहित जीव इतना भी विचार नहीं करते कि- सुगमक्रिया से उच्चपद होना बतलाते हैं सो यहाँ कुछ दगा है। भ्रमसे उनके कहे हुए मार्गमें प्रवर्त्तते हैं।

तथा कोई शास्त्रोंमें तो कठिन मार्ग निरूपित किया है वह तो सधेगा नहीं और अपना ऊँचा नाम धराये बिना लोग मानेंगे नहीं; इस अभिप्रायसे यति, मुनि, आचार्य, उपाध्याय, साधु, भट्टारक, संन्यासी, योगी, तपस्वी, नग्न- इत्यादि नाम तो ऊँचा रखते हैं और इनके आचारोंको साध नहीं सकते; इसलिये इच्छानुसार नाना वेष बनाते हैं। तथा कितने ही अपनी इच्छानुसार ही नवीन नाम धारण करते हैं और इच्छानुसार ही वेष बनाते हैं।

इस प्रकार अनेक वेष धारण करनेसे गुरूपना मानते हैं; सो यह मिथ्या है....।

गुरूपद तो वीतरागी जैन मुनियों के कहा है। इसी मोक्षमार्गप्रकाशक में उनका स्वरूप इस प्रकार कहा है :-

जो निश्चय सम्यग्दर्शन सहित विरागी बनकर, गृहस्थपना छोड़कर, शुद्धोपयोगरूप मुनिधर्म अंगीकार करके, निजस्वभावरूप साधन द्वारा अर्थात् अन्तरंग में तो उस शुद्धोपयोग द्वारा अपने आपको अनुभवते हैं। और उस शुद्धोपयोग से वीतरागतारूप

आत्मधर्म को साधतें हैं- वे साधु अर्थात् गुरू हैं।

निमित्त के आश्रय से धर्म होता है- ऐसा माने, मनावे नहीं; शास्त्रों में कैसे भी कथन किये हों, निमित्त और व्यवहार रत्नत्रय का ज्ञान कराने के लिये व्यवहार से कथन किया हो, परन्तु जो सर्वत्र स्व-आश्रय से वीतरागता ही प्राप्त करने का अन्तरंग साधन बताते है- वे गुरू है। जो राग से, निमित्त से, पुण्य से धर्म मनावे उन्हें गुरू नहीं मानना।

तथा कोई तो कुल से ही अपने को गुरू मानते है। उनमें कितने ही ब्राह्मणादिक तो कहते हैं कि हमारा कुल ही उच्च है इसलिये हम सबके गुरू हैं। परन्तु कुल की उच्चता तो धर्म साधन से है। यदि कोई उच्च कुल में उत्पन्न होकर हीन आचरण करे तो उसे उच्च कैसे माने किसी को वारिस के रूप में गुरू के पाट पर बिठाना, परम्परा चालू रखने के लिये किसी को शिष्य ठहराना- वह जैनमत में नहीं है; परन्तु जो वीतरागी दृष्टि और आंशिक वीतरागी चारित्ररूप धर्म को धारण करे- वही धर्म का अधिकारी होता है; परन्तु कुल परम्परा का पालन करने से, किसी का शिष्य बन जाने से धर्मात्मापना सिद्ध नहीं होता।

एक श्वेताम्बर के गुरू से किसी ने पूछा कि- तत्वार्थ सूत्र में पांच महाव्रतों को आस्रव कहा है आप उन्हें क्या मानते हो? उन्होंने कहा कि हम तो संवर मानते हैं। फिर पूछा कि- शास्त्र में कहा है कि अनन्तबार द्रव्यलिंगी साधु होकर, महाव्रतादि पालकर उनके फल में स्वर्ग में नौवें ग्रैवेयक तक गया तो उसे संवर-निर्जरारूप धर्म क्यों नहीं हुआ? उसके जवाब में उसने कहा कि उस द्रव्यलिंगी साधु ने उन महाव्रतादि को अन्तरंग से नहीं पाला, परन्तु बाहर से पाला- इसलिये उसको संवर नहीं हुआ; परन्तु निर्जरा हुई है। तथा श्वेताम्बर शास्त्रकार उनके सूत्रों में लिखते है कि मेघकुमार का जीव पूर्व में हाथी के भव में मिथ्यादृष्टि था। (वह खरगोश की दया पालने के शुभराग से) संसार से पार हुआ। तथा रेवती सुबाहुकुमार व शालिभद्रादिक की कथा में पूर्व भव में अज्ञान दशा के दान के शुभभाव से संसार पार किया- ऐसा लिखा है। तो ऐसे कथन सर्वज्ञ वीतराग के मार्ग में कभी नहीं होते; परन्तु उन्होंने भगवान के नाम से कल्पित शास्त्र बनाये है। जो आत्मार्थी हो वह ऐसे कथनों को नहीं मानता। जो कोई शुभराग से, पुण्य से धर्म मानता-मनाता है वह जैन नहीं है।

शुभ-अशुभ-दोनों बंधन अपेक्षा से समान है, कुशील है। जो संसार में दाखिल- प्रवेश

कराते हैं और जिस भाव से बंधना होता है; उस भाव से जो मोक्ष अथवा उसको मोक्ष का कारण माने-मनावे- वे सब अज्ञानी हैं, मिथ्यादृष्टि हैं- ऐसा सनातन जैनधर्म में सभी आचार्यों का कहना है। अष्टपाहुड़ में-भावापहुड़ गाथा 83 वीं में व्रत पूजादि को पुण्य कहा है और पुण्य को धर्म मानने वाले को लौकिकजन- अज्ञानी कहा है।

तथा कोई पहले तो स्त्री आदि के त्यागी थे, किन्तु बाद में भ्रष्ट होकर विवाह आदि कार्य करके गृहस्थ हुए; उनकी संतति भी अपने को गुरू मानती है। परन्तु भ्रष्ट होने के पश्चात् गुरूपना कहाँ, रहा? गृहस्थवत् ही ये भी हुए। हाँ, इतना विशेष हुआ कि ये भ्रष्ट होकर गृहस्थ हुए, तो इन्हें मूल गृहस्थधर्मी गुरू कैसे माने? मूल गृहस्थ ऐसों को गुरू नहीं मान सकते।

तथा कोई अन्य तो सब पाप करे, परन्तु मात्र एक विवाह नहीं करे; परन्तु उस एक ही अंग से अपने में गुरूपना मानते हैं। अब एक अब्रह्मचर्य ही तो पाप नहीं है; परन्तु हिंसा, झूठ, चोरी और परिग्रह भी पाप है। उसको आत्मज्ञान नहीं है, परिग्रहादि का सेवन करता है। जिसको सम्यग्दर्शन नहीं हैं उसके शील का भी ठिकाना नहीं रहता है। परिग्रह आदि के पाप के सेवन करने पर भी उसे गुरू कैसे माना जावे?

आत्मा ज्ञानमूर्ति है, अनन्तगुणों का पिण्ड है- ऐसी दृष्टि बिना सच्चा ब्रह्मचारी नहीं होता। जो आत्मज्ञान बिना ब्रह्मचर्य धारण करता है वह रोटी खाने के लिये बह्मचर्य धारण करता हैं। यदि धर्मबुद्धि होवे तो हिंसा, झूठ आदि किसलिये बढावे? जिसको धर्मबुद्धि नहीं है उसको शील की दृढ़ता नहीं रहती। चैतन्य स्वभाव ज्ञाता-दृष्टा है, वह राग और निमित्त का कर्त्ता नहीं है- ऐसे भान बिना शील की दृढ़ता नहीं रहती। जगत का साक्षी पूर्ण ज्ञानानन्द स्वभावी आत्मा कौन है- ऐसे भान बिना बाह्य ब्रह्मचर्य की दृढ़ता नहीं रहती। वह विवाह तो नहीं करता और परस्त्री गमनादिरूप महापाप उपजाता है। इस कारण जिसमें ऐसी क्रिया हो उसमें गुरूपना मानना महाभ्रमबुद्धि है।

मिथ्यादृष्टि वेष धारण कर अपने को गुरू मनाता है और जगत को ठगता है- यह अब कहते हैं :-

कोई किसी प्रकार का वेष धारण करने से गुरूपना मानते हैं; परन्तु मात्र वेष धारण करने से क्या धर्म हुआ कि जिससे धर्मात्मा उसे गुरू माने? कोई टोपी पहिनकर गुरू कहलाते हैं। कोई गोदड़ी रखकर गोदड़ी बाबा कहलाते हैं और हम सन्यासी हैं- ऐसा कहते

हैं। कोई लम्बा जामा पहिनते हैं। कोई चद्दर ओढ़ते हैं। कोई भगवा वस्त्र रखते हैं। कोई श्वेत वस्त्र रखकर अपने को साधु मानते हैं। ऐसे मानने वाले और मनाने वाले- दोनो मिथ्यादृष्टि हैं। कोई टाट पहिनते हैं, कोई मृगछाला पहिनते हैं तथा कोई राख लगाते हैं इत्यादि अनेक स्वांग बनाते है। परन्तु यदि शीत-उष्णादि सहन नहीं होते थे तथा लज्जा नहीं छूटी थी तो पगड़ी और अंगरखी (कुर्त्ता) कोट व पछेड़ी आदि का त्याग किसलिये किया? तथा उन्हें छोड़कर ऐसे स्वांग बनाने से धर्म का कौनसा अंग हुआ? उनके तो चारित्र नहीं होता; मात्र गृहस्थों को ठगने के लिये ही ऐसे भेष रखते हैं- ऐसा जानना।

तथा मुनि होकर घास रखना, पराल रखना- वह मुनि को शोभा नहीं देता। किंचित् भी वस्त्र रखकर मुनिपना मनावे वह मिथ्यादृष्टि है। जिनको अट्ठाईस मूलगुणों के पालन का ठिकाना नहीं हो तो उन्हें मुनि कौन माने? फिर भी जो उसे मुनि माने या मनावे वह मिथ्यादृष्टि है। उन्हें गृहस्थो के पास से आजीविका, धनादिक व मानादिक प्रयोजन साधना है- इससे वे ऐसे वेष बनाते हैं और भोले मनुष्य ठगा जाते हैं, उससे धर्म हुआ मानते हैं; परन्तु यह भ्रम है। यही उपदेश सिद्धान्त रत्नमाला में कहा है-

जैसे कोई वैश्यासक्त पुरूष धनादि ठगाते होने पर भी हर्ष मानता हैं; वैसे ही मिथ्यावेष द्वारा ठगाता हुआ जीव, नष्ट होते हुए सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूपी धन को नहीं देखते। इन मिथ्याभेष वाले जीवों की सेवा से अपना धर्म धन नष्ट होता है, उसका तो उन्हें खेद नहीं है; बल्कि उल्टे मिथ्याबुद्धि से हर्ष मानते हैं।

षटखण्डागम आदि शास्त्रों में मुनि के मन, वचन, काया, मोर पिच्छी और कमण्डलु को अपवाद उपकरण कहा है। अर्थात् (वे) वास्तव में दोष के कारण है, क्योंकि उनके निमित्त से राग होता है। भावलिंग तो अन्तर के भान सहित लीनता होना ही है। ऐसे स्वरूप के भान को भूलकर कोई तो मिथ्या शास्त्रों मे निरूपण किये हुए वेष को धारण करते है। इन शास्त्रों के रचनाकारों ने पापाशय से सुगम क्रिया बताकर मुनि का स्वरूप अन्यथा कल्पित किया है। जो चौदह उपकरण कहकर वस्त्र सहित मुनिपना बताते है- वे मिथ्या आशय वाले है। नीची क्रिया से बहुत जीव जुड़ेंगे- ऐसा उनका अभिप्राय है। वस्त्र-पात्र रखकर कुछ सहन करने को रहता नहीं है। इस प्रकार उन्होंने मिथ्या उपदेश दिया उनकी परम्परा द्वारा विचार रहित जीव इतना भी विचार नहीं करते कि सुगम क्रिया से उच्चपद प्राप्ति बताते है वहाँ कुछ छल अवश्य है; परन्तु वे मात्र भ्रमपूर्वक उनके द्वारा

बताये गये मार्ग में प्रवर्तते हैं। वे यह विचार नहीं करते कि नीची क्रिया में मुनिपना बताने में हेतु मनुष्यों को अपने सम्प्रदाय में खींचना है।

चार ज्ञान के धारी गणधर भी जिन मुनिराज को नमस्कार करते हैं वे साधु अलौकिक है। जो बारम्बार छठवें-सातवें गुणस्थान में झूलते हैं उनकी नग्न दिगम्बर दशा होती है। भगवान ने केवलज्ञान में छठवें गुणस्थान की उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त की देखी है। साधु उतनी स्थिति छठवें में रहे तो मिथ्यादृष्टि हो जाता है। इसमें अल्पकाल रहकर सातवां आना चाहिये। सातवें का काल छठवें से आधा होता है।

धवला पुस्तक चौथा भाग पृष्ठ 351 में यह बात लिखी है कि यदि मुनि छठवें गुणस्थान का सर्वोत्कृष्ट काल भोगे तो मिथ्यादृष्टि हो जाता है। मुनि परमेष्ठी पद है। अन्तर्मुहूर्त में सातवाँ गुणस्थान आना चाहिये। लोगों को मुनिपद के स्वरूप का पता नहीं है। मुनि दशा में थोड़ी सी निद्रा होती है, तुरन्त ही जागृति आनी चाहिये। एक घन्टे निद्रा आवे तो मुनिमिथ्यादृष्टि हो जाता है।

कुछ लोग, शास्त्र में निरूपित किया हुआ कठिन मार्ग तो अपने से सधेगा नहीं और अपना उच्च नाम धराये बिना लोग मानेंगे भी नहीं,- इस अभिप्राय से यति नाम धराते है, मुनि नाम धराते है; कोई आचार्य, उपाध्याय, साधु, भट्टारक, सन्यासी, योगी, तपस्वी और नग्न इत्यादि नाम तों ऊँचा धराते है, परन्तु वैसा आचरण साध नहीं सकते। उनके भावलिंग और द्रव्यलिंग का ठिकाना नहीं है और इच्छानुसार नाना वेष बनाते है। तथा कोई अपनी इच्छानुसार नवीन नाम धराकर इच्छानुसार वेष बनाते है। इस प्रकार अनेक वेष धारनें से अपने मे गुरूपना मानते है; परन्तु यह मिथ्या हैं।

सम्यग्दर्शन रहित विषय कषाय सहित वेष को मानना मिथ्यात्व है- ऐसा अब कहते हैं:-

यहाँ कोई पूछे कि- वेष तो अनेक प्रकार के दिखते है, उनमें सच्चे-झूठे वेष की पहिचान किसप्रकार होगी?

समाधानः- जिन वेषोंमें विषय-कषायका किंचित् लगाव नहीं है वे वेष सच्चे हैं। वे सच्चे वेष तीन प्रकार हैं; अन्य सर्व वेष मिथ्या हैं।

वही 'षटपाहुड़' में कुन्दकुन्दाचार्य ने कहा है:-

एगं जिणस्स रूवं विदियंउक्किट्ठसावयाणंतु।
अवरट्ठियाण तइयं चउत्थ पुण लिंगदंसणं णत्थि ।। 18 ।। (दर्शनपाहुड़)

अर्थः एक तो जिनस्वरूप निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुनिलिंग, दूसरा उत्कृष्ट

श्रावकोंका रूप दशवीं, ग्यारहवीं प्रतिमाधारी श्रावकका लिंग, तीसरा आर्यिकार्योंका रूप- यह स्त्रियोंका लिंग- ऐसे यह तीन लिंग तो श्रद्धानपूर्वक हैं तथा चौथा कोई लिंग सम्यग्दर्शनस्वरूप नहीं है। भावार्थ:- इन तीन लिंगके अतिरिक्त अन्य लिंगको जो मानता है वह श्रद्धानी नहीं है, मिथ्यादृष्टि है। तथा इन वेषियोंमें कितने ही वेषी अपने वेषकी प्रतीति करानेके अर्थ किंचित् धर्मके अंगको भी पालते हैं। जिस प्रकार खोटा रूपया चलानेवाला उसमें कुछ चाँदीका अंश भी रखता है उसी प्रकार धर्म का कोई अंग दिखाकर अपना उच्चपद मानते हैं.......।

प्रश्नः- वेष तो अनेक प्रकार के दिखते हैं, तो उसमें सच्चे-झूठे वेष की पहिचान किस प्रकार होवे?

उत्तरः- जिस वेष में विषय-कषाय का कुछ भी लगाव नहीं है वह वेष सच्चा है। वे सच्चे वेष तीन प्रकार के हैं, अन्य सभी मिथ्या है। यही बात अष्टपाहुड़ में (दर्शन पाहुड़, गाथा-18) श्री कुन्दकुन्दाचार्य देव ने कही है कि त्रिलोकनाथ सर्वज्ञ के मार्ग में मुनि का लिंग नग्न दिगम्बर होता है। यह सनातन दिगम्बर मार्ग है। इसे माने बिना गृहीत मिथ्यात्व नहीं मिटेगा और गृहीत मिथ्यात्व के अभाव बिना अगृहीत मिथ्यात्व का अभाव नहीं होगा। इसके बाद दूसरा उत्कृष्ट श्रावकरूप दसवीं-ग्यारहवीं प्रतिमाधारी श्रावक का लिंग है। क्षुल्लक लंगोटी और खण्ड वस्त्र रखते हैं- ऐसा रत्नकरण्ड श्रावकाचार में है। उनको उद्दिष्ट आहार का त्याग होता है। उनके लिये लाई हुई चीज का त्याग है। यदि कोई उनके लिये बनाया गया आहार लेवे तो उसे व्यवहार लिंग भी नहीं है। तथा तीसरा आर्यिकाओं का रूप-यह स्त्रियों का लिंग है। इस प्रकार ये तीनों लिंग तो श्रद्धान पूर्वक है, चौथा लिंग सम्यग्दर्शन स्वरूप कोई नहीं है। इनके सिवाय अन्य लिंग में मुनिपना, श्रावकपना मनवाना-. वह मिथ्यादृष्टिपना है। तात्पर्य यह है कि जो इन तीनों लिंगों के सिवाय अन्य लिंगों को मानता है वह सम्यक श्रद्धानी नहीं, किन्तु मिथ्यादृष्टि है।

इन वेषों में कोई वेषी अपने वेष की प्रतीति कराने के लिये किंचित् धर्म को पाले, ब्रह्मचर्य पाले अथवा दया पाले तो वह अपना उच्चपद बताने के लिये है।

श्रीमद् राजचन्द्रजी ने कुन्दकुन्दाचार्य को गुरू स्वीकार किया हैं। और कुन्दकुन्दाचार्य ने यह बात स्पष्ट की है।

कोई अपने को बड़ा बताने के लिये दया पालता है। जैसे कोई खोटे रूपये चलाने वाला उसमें कुछ चाँदी का अंश भी रखता है; वैसे ही यह भी धर्म का कोई अंग बनाकर अपना उच्चपद मनाता है। हम क्षुल्लक है अथवा ऐलक है- ऐसा मनवाता है।

.....यहाँ कोई कहे कि- जो धर्म साधन किया उसका तो फल होगा?

उत्तरः- जिस प्रकार उपवासका नाम रखाकर कणमात्र भी भक्षण करे तो पापी है, और एकात (एकाशन) का नाम रखाकर किंचित् कम भोजन करे तब भी धर्मात्मा है; उसी प्रकार उच्च पदवीका नाम रखाकर उसमें किंचित् भी अन्यथा प्रवर्ते तो महापापी है, और नीची पदवीका नाम रखाकर किंचित् भी धर्मसाधन करे तो धर्मात्मा है। इसलिये धर्मसाधन तो जितना बने उतना ही करना, कुछ दोष नहीं है; परन्तु ऊँचा धर्मात्मा नाम रखाकर नीची क्रिया करनेसे तो महापाप ही होता है......।

प्रश्नः- जितना धर्म साधन किया उतना तो फल होगा न? या उतना पुण्य तो होगा न?

उत्तरः- जैसे कोई उपवास का नाम धराकर एक कण का भी भक्षण करे तो वह पापी है; परन्तु एकासन का नाम धराकर कोई किंचित् न्यून भोजन करे तो भी वह धर्मात्मा है। बड़ा नाम धराकर प्रतिज्ञा भंग करने वाला पापी है। कोई उच्चपद नाम धराकर उसमें किंचित् भी अन्यथा प्रवर्ते- तो वह महापापी, उसे श्रद्धान की, ज्ञान की और चारित्र की तथा व्रत में निमित्त कैसे होते है- इसकी खबर नहीं है; परन्तु जो नीचा पद का नाम धराकर थोड़ा भी धर्म साधन करे तो वह धर्मात्मा है। अतः धर्मसाधन तो जितना बने उतना करो, उसमे कुछ भी दोष नहीं है; परन्तु उच्च धर्मात्मा नाम धराकर नीची क्रिया करने से तो वह महापापी ही होता है। कारण *यथार्थ स्वरूप से विपरीत मानने वाला निगोदगामी है।*

प्रवचनसार में भी कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं कि भगवान को अनन्तज्ञान और आनन्द है- ऐसा न माने, परन्तु उन्हें आहार करने वाला माने वह अभव्य है। नीचे पद वाले को उच्चपद वाला माने तो वह अनन्त संसारी है। कुन्दकुन्दाचार्य की यह भाषा योग्य ही हैं कि मिथ्यात्व का फल निगोव है। समकित का फल मोक्ष है और मिथ्यात्व का फल निगोद है। शुभाशुभ भावों का फल चारगति है, उसे गौण करो तो मिथ्यात्व का फल निगोद है।

अज्ञानी जीव आचार्यों की भूल निकालते है। षटखण्डागम भगवान की वाणी अनुसार रचित है, उसमें भूल निकालने वाला स्वच्छन्दी है।

......वही ''षट्पाहुड़'' में कुन्दकुन्दाचार्यने कहा है:-

जहजायरूवसरिसो तिलतुसमेतं ण गिहदि हत्थेसु।
जइ लेइ अप्पबहुयं तत्तो पुण जाइ णिग्गोदम् ।। 18 ।। (सूत्रपाहुड़)

अर्थ:- मुनिपद है वह यथाजातरूप सदृश है। जैसा जन्म होते हुए था वैसा नग्न है। सो वह मुनि अर्थ यानी धन-वस्त्रादिक वस्तुएँ उनमें तिलके तुषमात्र भी ग्रहण नहीं करता। यदि कदाचित् अल्प व बहुत ग्रहण करे तो उससे निगोद जाता है।

सो यहाँ देखो, गृहस्थपनेमें बहुत परिग्रह रखकर कुछ प्रमाण करे तो भी स्वर्गमोक्षका अधिकारी होता है और मुनिपनेमें किंचित् परिग्रह अंगीकार करने पर भी निगोदगामी होता है। इसलिये ऊँचा नाम रखाकर नीची प्रवृत्ति युक्त नहीं है।

देखो, हुंडावसर्पिणी काल में यह कलिकाल वर्त रहा है। इसके दोषसे जिनमतमें मुनिका स्वरूप तो ऐसा है जहाँ बाह्यभ्यन्तर परिग्रहका लगाव नहीं है, केवल अपने आत्माका आपरूप अनुभवन करते हुए शुभाशुभभावोंसे उदासीन रहते हैं; और अब विषय-कषायासक्त जीव मुनिपद धारण करते हैं; वहाँ सर्व सावद्यके त्यागी होकर पंचमहाव्रतादि अंगीकार करते हैं, श्वेत -रक्तादि वस्त्रों को ग्रहण करते हैं, भोजनादिमें लोलुपी होते हैं, अपनी पद्धति बढ़ानेमें उद्यमी होते हैं व कितने ही धनादिक भी रखते हैं, हिंसादिक करते है व नाना आरम्भ करते हैं। परन्तु अल्प परिग्रह ग्रहण करनेका फल निगोद कहा है, तब ऐसे पापों का फल तो अनन्त संसार होगा ही होगा।

लोगोंकी अज्ञानता तो देखो, कोई एक छोटी भी प्रतिज्ञा भंग करे उसे तो पापी कहते हैं और ऐसी बड़ी प्रतिज्ञा भंग करते देखकर भी उन्हें गुरू मानते हैं, उनका मुनिवत् सन्मानादि करते हैं; सो शास्त्रमें कृत, कारित, अनुमोदनाका फल कहा है; इसलिये उनको भी वैसा ही फल लगाना है।

मुनिपद लेनेका क्रम तो यह है- पहले तत्त्वज्ञान होता है, पश्चात्

उदासीन परिणाम होते हैं, परिषहादि सहनेकी शक्ति होती है; तब वह स्वयमेव मुनि होना चाहता है और तब श्रीगुरू मुनिधर्म अंगीकार कराते हैं।

यह कैसी विपरीतता है कि- तत्त्वज्ञानरहित विषय-कषायासक्त जीवोंको मायासे व लोभ दिखाकर मुनिपद देना, पश्चात् अन्यथा प्रवृत्ति कराना; सो यह बड़ा अन्याय है।

इसप्रकार कुगुरूका व उनके सेवनका निषेध किया.....।

यहाँ कहते हैं कि- जैसा जन्म हुआ वैसा नग्नपना मुनि को होता है। वह मुनि धन, वस्त्रादि को जरा भी ग्रहण नहीं करता। कदाचित थोड़ा बहुत धन-वस्त्रादिक वस्तु का ग्रहण करे और शरीर के लिये लंगोटी रखे व मुनि नाम धरावे तो वह निगोद में जायेगा और अनन्त काल तक दो इन्द्रिय भी नहीं होगा। शरीर की ममतावश सर्दी सहन करने के लिये वस्त्र रखे और मुनि नाम धरावे तो निगोद में जायेगा। मोर पिच्छी और कमण्डलु शरीर के लिये नहीं है, वे तो उपकरण है। जबकि वस्त्र उपकरण नहीं हैं, बल्कि परिग्रह हैं।

केवली भगवान के और मुनियों के तथा चौदह पूर्व के ज्ञाता के मार्ग में यही रीत है। अनन्तकाल में यह एक ही मार्ग है, इसमे फेरफार हो वैसा नहीं है। फेरफार करके मानने में काल का दोष नहीं, परन्तु मिथ्यात्व का दोष है।

देखो! समकिती और पाँचवा गुणस्थान वाले गृहस्थ जीव को आत्मा का भान है और राग घटाकर कुछ मर्यादा करे तो वह स्वर्ग-मोक्ष का अधिकारी होता है। आत्मा वस्तु में राग नहीं है ऐसे आत्मा के भान वाले को परिमाण (मर्यादा) होता है, अन्य को परिमाण नहीं होता। ये सब बाते प्रयोजनभूत है। समकिती अरबों रूपयों का व्यापार करता होवे, फिर भी एक भवावतारी होता है और मुनि नाम धराकर अल्प परिग्रह अंगीकार करे तो निगोद में जाता है। अतः उच्चनाम धराकर नीची प्रवृत्ति करने योग्य नहीं है।

भाई अल्प परिग्रह रखकर मुनि नाम धरावे वह अनन्त संसारी है

मुनिराज को बाह्य-अभ्यंतर परिग्रह का संयोग नहीं होता, वे केवल अपने आत्मा की निर्विकल्प शान्ति को अनुभवते है। शुभ-अशुभभाव से उदासीन रहते हैं। स्वभाव के अवलम्बन से जो वीतरागता प्रगटती है उसे धर्म मानते है, अन्य को धर्म नहीं मानते।

देखो! हुण्डावसर्पिणी काल मे यह कलिकाल वर्त रहा है, जिसके दोष से आज जैनमत में भी विषय कषायासक्त जीव अर्थात् मिथ्यात्व और कषाय का सेवन करने वाले, मुनिपद

धारण करते हैं। सर्व सावद्ययोग का प्रत्याख्यान किया है, हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्मचर्य और परिग्रहका त्याग किया है, फिर भी वे लाल और श्वेत वस्त्र धारण करते हैं, भोजन में लोलुपी होते हैं, पात्र लेकर भिक्षा के लिये जाते हैं। चार ज्ञान के धनी गणधर आहार लेने जाते हैं- ऐसा मानते हैं और मनाते हैं। जो पात्र रखकर (लेकर) आहार लेने जावे वे मुनि नहीं, किन्तु लोलुपी हैं। अपनी-अपनी परम्परा अर्थात् अपने श्रावक, शिष्य बढ़ाने की परम्परा करते हैं। "जो हम कहते हैं वह सच्चा मार्ग है"- ऐसा कहते हैं। अपनी-अपनी परम्परा चलावे वह मिथ्यादृष्टि है। कोई धन रखते हैं अथवा व्यापारी के पास में धन रखाते हैं। तथा हिंसादि नाना प्रकार के आरम्भ करते हैं। परन्तु मुनि के अल्प परिग्रह (ग्रहण) करने का फल निगोद है तो ऐसे पापों का फल तो अनन्त संसार अवश्य होगा। अतः यह मुनि का मार्ग नहीं, किन्तु विपरीत मार्ग है।

यहाँ कुगुरू के स्वरूप का अधिकार चल रहा है। जो किंचित् भी वस्त्र रखकर अपने को मुनि माने या मनावे वह मिथ्यादृष्टि है और निगोदगामी है। गृहस्थदशा में परिग्रह रखने पर भी आत्मभान करके एकावतारी हो सकता है। अल्प परिग्रह अर्थात् पहिनने-ओढ़ने के वस्त्र रखे और अपने को मुनि माने-मनावे तो वह मिथ्यादृष्टि है और निगोद मे जायेगा।(इसी तरह) सदोष आहार-पानी लेने और अपने को मुनि मनवाने वाला अनन्त संसारी है।

तथा लोगो की अज्ञानता तो देखो! साधु तो नवकोटि से परिग्रह का त्याग करता है, फिर भी वे वस्त्र-पात्र रखकर उद्दिष्ट आहार लेकर प्रतिज्ञा भंग करते हैं। परिग्रह नहीं रखना, और नहीं रखाना और रखने वाले को भला नहीं मानना। हिंसा करना नहीं, कराना नहीं, उसे भला मानना नहीं- ऐसी प्रतिज्ञा उनने की है, फिर भी वे परिग्रह रखते हैं और सदोष आहार-पानी लेते हैं और मुनि नाम धराते हैं वे मिथ्यादृष्टि हैं। महाविदेह में नग्न दिगम्बर मुनिलिंग एक ही होता है। नवकोटि से पाप का त्याग किया होने पर भी जो वस्त्र-पात्र रखे उसे मुनि मानना, आचार्य मानना, उपाध्याय मानना और सम्मानादि करना अज्ञान है। धर्म सम्प्रदाय मे नहीं, बल्कि सच्ची समझ में है। नवकोटि से त्याग नहीं होने पर भी अपने को आचार्य मानना, सन्यासी मानना महान पाप है। मुनि नहीं होने पर भी मुनि मानने,मनाने और अनुमोदना का फल एक समान कहा है।

श्वेताम्बर लोग 'जयसूत्र' में चौदह उपकरण मानकर मुनिपना मनाते हैं। ऐसे शास्त्र

कर्त्ता को, शास्त्र मानने वाले को, तथा वे शास्त्र सच्चे है- ऐसी अनुमोदना करने वाले को मिथ्यात्व का पाप होता है। द्रव्यानुयोग का अभ्यास करने वाले यशोविजयजी (श्वेताम्बर) कहते हैं कि- अधःकर्मी आहार लेने में दोष नहीं है- ऐसे शास्त्र कर्त्ता को सच्चा मानने वाले को व उनकी अनुमोदना करने वाले को मिथ्यात्व का पाप होता है।

अनादिकाल का सनातन दिगम्बर जैनदर्शन सत्य है, जो उससे जरा भी विपरीत कहे वह मिथ्यादृष्टि है। आज मानो, कल मानो अथवा चाहे जब मानो, जिसको अपना हित करना होगा उसे यह मानने से ही भव से छुटकारा मिलेगा। यह सनातन सत्य है। मुनि के लिये आहार बनावे तो भी जो श्रावक बोले कि- आहार शुद्ध, मन शुद्ध, वचन शुद्ध तो वह पापी है। प्रतिज्ञा भंग करने वाला व कराने वाला पापी है। यह सनातन जैन मार्ग है।

यहाँ बड़ी प्रतिज्ञा नहीं लेने का दण्ड नहीं है, परन्तु बड़ी प्रतिज्ञा लेकर उसे तोड़ना महान पाप है।

प्रश्नः- ऐसा मानने से राग-द्वेष होंगे?

समाधानः- सत्य मानने से राग-द्वेष नही होते।

खण्डन-मण्डन में राग-द्वेष नहीं है। यदि ऐसा होवे तो निगोद में जाने वालो को और स्वर्ग में जाने वालो को- सबको सच्चा मानना पड़ेगा। ऐसी तो कोई बात है ही नहीं कि जो सबको अच्छी लगे। पण्डितजी कहते हैं कि जैसा पूर्व ज्ञानियो ने कहा है उसी अनुसार हम कहते हैं। जिसका जिसको राग होता है उसमे वह अर्पित हो जाता है। जो श्वेत वस्त्र रखकर साधु नाम धराते हैं और नवकोटि से त्याग होने पर भी उद्देशिक आहार लेते हैं वे मिथ्यादृष्टि हैं- ऐसे मुनि की नवधा भक्ति करना पाप है। उनके लिये पानी बनाना- एकेन्द्रिय जीव को मारना, मरवाना और हिंसा का अनुमोदन ऐसा तीन प्रकार की हिंसा का त्याग मुनि के होता है। क्षुल्लक पद में भी अपने लिये बनाया हुआ आहार-पानी नहीं लिया जाता- यह त्रिलोकनाथ का मार्ग है। महावीर भगवान के समय में भी यह एक ही मार्ग था। अभी भी महाविदेह में यह पंथ चलता है। चौथे गुणस्थान वाला सम्यग्दृष्टि लाखों वर्षो तक प्रतिज्ञा न ले तो उससे दण्ड नहीं, परन्तु प्रतिज्ञा लेकर तोड़े तो महापाप है। मैं साधु हूँ, त्यागी हूँ, निर्ग्रन्थ हूँ, ज्ञान, दर्शन चारित्र, तप, वीर्य- ऐसे पाँच आचार सहित हूँ- वैसे को नमस्कार करता हूँ। प्रातः सायं ऐसा बोले, परन्तु चारित्र तो हैं नहीं, तो भी अपने को साधु माने-मनावे वह मिथ्यादृष्टि है।

मुनिपद लेने का क्रम यह है कि पहले तत्वज्ञान हो, फिर उदासीन परिणाम हों। इसी प्रकार श्रावकपद, व्रत, प्रतिमा, सामायिक प्रतिमा का क्रम यह है कि पहले सम्यग्दर्शन हो। पश्चात् राग घटे-उदसीनता हो, कषाय का भाव छूट जाये, वस्त्र-पात्र बिना परीषह सहन करे, शीतादि सहन करे। अपने में तिर्यन्च, मनुष्य, देव आदि कृत परिषह सहन करने की सामर्थ्य हो तब श्रावक अपनी ही इच्छा से मुनि होना चाहता है। कोई जबरदस्ती दीक्षा नहीं देते, परन्तु स्वय की इच्छा होवे तभी श्रीगुरू उसे मुनिधर्म अंगीकार कराते हैं।

इसी मोक्षमार्गप्रकाशक में आठवें अधिकार में कहा है कि "जैनमत मे तो यह परिपाटी है कि पहले सम्यक्त्व हो फिर व्रत होते हैं। अब सम्यक्त्व तो स्व-पर का सम्यक् श्रद्धान होने पर होता है। तथा वह श्रद्धान द्रव्यानुयोग का अभ्यास करने से होता है। अतः पहले द्रव्यानुयोग अनुसार श्रद्धा करके सम्यग्दृष्टि होवे और फिर चरणानुयोग अनुसार व्रतादि धारण करके व्रती होवे।"

नवतत्त्व-जीव, अजीव, पुण्य-पाप, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष भिन्न-भिन्न हैं। जीव-अजीव सामान्य हैं तथा पुण्य-पाप, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष-ये सात पर्यायें हैं। सात जीव की तथा सात जड़ कर्म की पर्यायें हैं। पुण्य-पाप, आस्रव, बंध अशुद्ध पर्यायें हैं और संवर, निर्जरा व मोक्ष शुद्ध पर्यायें हैं। इस प्रकार नवतत्त्वों का भान होने के पश्चात् उदासीन परिणाम होने पर अपने आप मुनि होना चाहे तब श्रीगुरू उसे मुनिधर्म अंगीकार करावें।

परन्तु यह कैसी विपरीतता है कि जिसे आत्मा का भान नहीं उसको भी मुनिपना दे देते हैं। वह मिथ्यादृष्टि है, तथा पूजा, आबरू में आसक्त है। माया बताकर, लोभ बतकर कि कमाने जाना नहीं पड़ेगा, लोग पूजेंगे, मुनि होने पर आदर-सत्कार होगा- ऐसे लोभादि से मुनिपद देते हैं और बाद में अन्यथा प्रवृत्ति कराते हैं- यह महान अन्याय हैं।

इस प्रकार यहाँ कुगुरू और उसके सेवन का निषेध किया हैं। अब इस कथन को दृढ़ करने के लिये अन्य शास्त्रों की साक्षी देते हैं। वहाँ "उपदेश सिद्धान्त रत्नमाला में ऐसा कहा हैं :-

........गुरूणोभट्टा जाया सद्दे धुणि उण लिंति दाणाइं।
दोण्णावि अमुणियसारा दूसमिसमयम्मि बूडंति।। 3 ।।

"काल दोष से गुरू हैं वे तो भाट हुए; भाटवत् शब्द द्वारा दातार की स्तुति

करके दानादि ग्रहण करते हैं। सो इस दुषमकाल में दोनों ही दातार व पात्र संसार में डूबते हैं......।"

तुम उदार हो, तुम धर्म के स्तम्भ हो- इस तरह श्रावक की स्तुति करते हैं। तुम साधु-साध्वियों की सहाय करने वाले हो- ऐसे भाट की तरह बखान करते हैं। परन्तु इससे इस दुषमकाल में दातार और पात्र दोनो संसार में डूबते हैं।

तथा वहाँ कहा है किः-

....सप्पे दिट्ठे णासइ लोओ णाहि कोवि किंपि अक्खेइ।
जो चयइ कुगुरू सप्पं हा मूढा मणइ तं दुट्ठं।।36।।

अर्थः- सर्प को देखकर कोई भागे उसे तो लोग कुछ भी नहीं कहते। हाय हाय! देखो तो, जो कुगुरू सर्प को छोड़ते हैं उन्हें मूढ़ लोग दुष्ट कहते हैं, बुरा बोलते हैं.....।

जो कुगुरू, कुश्रद्धा और कुसम्प्रदाय को छोड़ते हैं उन्हें लोग दुष्ट और बुरा कहते हैं। देखो, लोगों की अज्ञानता! जिसके पास से दीक्षा ली है उसे कैसे छोड़े? ऐसा कहते हैं। जिसे सनातन सत्य का पता नहीं है ऐसे कुगुरू को छोड़ने से ही छुटकारा है।

तथा कहा है कि-

....सप्पो इक्कं मरणं कुगुरू अणंताइ, देह मरणाई।
तो वर सप्पं गहियं मा कुगुरू सेवणं भद्दं ।। 37 ।।

अहो, सर्प द्वारातो एकबार मरण होता है और कुगुरू अनन्त मरण देता है- अनन्तबार जन्म-मरण कराता है। इसलिये हे भद्र! सर्पका ग्रहण तो भला और कुगुरूका सेवन भला नहीं है।

वहाँ और भी गाथाएँ यह श्रद्धान दृढ़ करने को कारण बहुत कही हैं सो उस ग्रंथसे जान लेना....।

आयुपूर्ण हुई होतो सर्प के द्वारा तो एक ही बार मरण होता है; परन्तु यह कुगुरू अनन्तबार मरण देता है। जो कुगुरू को माने, मनावे और मानने वाले को भला माने वह अनन्तबार जन्म-मरण पाता है। इस प्रकार के गुरू अनन्तवार जन्म-मरण में निमित्त हैं। अतः हे भद्र! सर्प ग्रहण करना ठीक है;परन्तु कुगुरू का ग्रहण करना ठीक नहीं हैं। जिनके शास्त्र विपरीत हैं, उनको मानना, मनाना और मानने वाले को भला मानना- वे तीनो मिथ्यादृष्टि हैं।

तथा "संघपट्ट" में ऐसा कहा है :-

क्षुत्क्षामः किल कोपि रंकशिशुकः प्रवृज्य चैत्ये क्वचित्
कृत्वा किंचनपक्षमक्षतकलिः प्राप्तस्तदायार्यकम्।
चित्रं चैत्यगृहे गृहीयति निजे गच्छे कुटुम्बीयति
स्वं शक्रीयति बालिशीयति बुधान् विश्व वराकीयति।।

अर्थः- देखो, क्षुधासे कृश किसी रंकका बालक कहीं चैत्यालयादिमें दीक्षा धारण करके, पापरहित न होता हुआ किसी पक्ष द्वारा आचार्यपदको प्राप्त हुआ। वह चैत्यालयमें अपने गृहवत् प्रवर्तता है, निजगच्छमें कुटुम्बवत् प्रवर्तता है, अपनेको इन्द्रवत् महान मानता है, ज्ञानियोंको बालवत् अज्ञानी मानता है, सर्व गृहस्थों को रंकवत् मानता है; सो यह बड़ा आश्चर्य हुआ है।

तथा "यैर्जातो न च वर्द्धितो न च न च क्रीतो" इत्यादि काव्य है; अर्थ ऐसा है- जिनसे जन्म नहीं हुआ है, बढ़ा नहीं है, मोल नहीं लिया है, देनदार नहीं हुआ है-इत्यादि कोई प्रकार सम्बन्ध नहीं है; और गृहस्थोंको वृषभवत् हाँकते हैं, जबरदस्ती दानादिक लेते हैं; सो हाय हाय! यह जगत् राजासे रहित है, कोई न्याय पूछनेवाला नहीं है ।

इस प्रकार वहाँ इस श्रद्धानके पोषक काव्य हैं सो उस ग्रन्थसे जानना..।

जो श्वेताम्बर शास्त्र हैं, उसका आधार देते हैं:- 'संघ पट्ट' में ऐसा कहा है- देखो, क्षुधा से कृश किसी रंक का बालक किसी चैत्यालय आदि में, दीक्षा धारण करके, पाप रहित न होता हुआ किसी पक्ष द्वारा आचार्यपद को प्राप्त हुआ। बालक ने मिथ्यात्व और अज्ञान छोड़ा नहीं, हमारा चैत्यालय है- ऐसा कहता है। उसके श्रावकों में स्वयं को इन्द्र समान मानता है। हम कहते हैं वैसा करना पड़ेगा...! ज्ञानी को अज्ञानी मानता है तथा सर्व गृहस्थों को रंक समान मानता है यह महान आश्चर्य है।

तथा "यैर्जातो न च वर्द्धितों न च न च क्रीतो" इत्यादि काव्य है। उसका अर्थ ऐसा है कि जिनसे जन्म नहीं हुआ है बढ़ा नहीं है, मोल नहीं लिया है, देनदार नहीं हुआ है- इत्यादि कोई प्रकार सम्बन्ध नहीं है; और गृहस्थों को वृषभवत् हांकतें है; हल्की कोम वाले ने दीक्षित होकर वेष लिया, अतः हुकम करता है- तुम्हारे इसमें दो हजार रूपये खर्च करने हैं- इसप्रकार जबरदस्ती दानादि लेते हैं; सो हाय हाय! यह जगत राजा से रहित है;

अर्थात् कोई अन्याय पूछने वाला नहीं है।

......यहाँ कोई कहता है- यह तो श्वेताम्बरविरचित् उपदेश है, उसकी साक्षी किसलिये दी?

उत्तर: जैसे नीचा पुरूष जिसका निषेध करे, उसका उत्तम पुरूषके तो सहज ही निषेध हुआ; उसी प्रकार जिनके वस्त्रादिक उपकरण कहे वे ही जिसका निषेध करें, तब दिगम्बर धर्ममें तो ऐसी विपरीतताका सहज ही निषेध हुआ.......।

यहाँ कोई कहे कि- यह तो श्वेताम्बर रचित उपदेश है, उसकी साक्षी किसलिये देते हो?

उत्तर:- हल्के शास्त्र में भी यह निषेध है तो सच्चे शास्त्र में तो उसका निषेध होगा ही। जो वस्त्र-पात्र सहित मुनिपना मनाते हैं वे भी जिसका निषेध करें, तो दिगम्बर धर्म में तो ऐसी विपरीतता का निषेध सहज ही हुआ।

.....तथा दिगम्बर ग्रंथोंमें भी इस श्रद्धानके पोषक वचन हैं।

वहाँ श्री कुन्दकुन्दाचार्यकृत "षट्पाहुड़" में ऐसा कहा है:-

दंसणमूलो धम्मो उवइट्ठ जिणवरेहिं सिस्साणं ।
तं सोऊण सकण्णे दंसणहीणो ण वंदिव्वो।। 2 ।। (दर्शनपाहुड़)

अर्थ:- सम्यग्दर्शन है मूल जिसका ऐसा जिनवर द्वारा उपदेशित धर्म; उसे सुनकर हे कर्णसहित पुरूषो! यह मानो कि- सम्यक्त्वरहित जीव वंदना योग्य नहीं है। जो आप कुगुरू है उस कुगुरूके श्रद्धान सहित सम्यक्त्वी कैसे हो सकता है? बिना सम्यक्त्व अन्य धर्म भी नहीं होता। धर्मके बिना वंदने योग्य कैसे होगा.....?

सम्यग्दर्शन है मूल जिसका ऐसा जिनवर द्वारा उपदेशित धर्म है, उसे सुनकर हे कर्ण सहित पुरूषों! यह मानो कि- सम्यक्त्व रहित जीव वंदन योग्य नहीं हैं। जिसको जीव तत्व और द्रव्य-गुण-पर्याय की खबर नहीं है और माने कि हम मुनि हुए- तो वह भ्रम है। कान वाले पुरूषों! जिसको सात तत्त्व प्रथक है- ऐसी प्रतीति नहीं है, वह जीव बंदन योग्य नहीं है। जीव-अजीव द्रव्य की, आस्रव, बंधरूप मलिन पर्याय की और संवर, निर्जरा, मोक्ष की निर्मल पर्याय की खबर नहीं है, वह अज्ञानी विकल्प को मिथ्यात्व कहता है, किन्तु विकल्प तो राग है, वह मिथ्यात्व नहीं है; राग से धर्म मानना मिथ्यात्व है।

समकिती को अशुद्ध परिणाम क्या? ऐसा अज्ञानी कहता है। परन्तु समकिती को कमजोरीवश अशुद्ध परिणाम आते हैं। तीनलोक के नाथ की वाणी तूने ध्यान में नहीं ली

तो तेरे कान गये अर्थात आगामी भव में कर्णेन्द्रिय का संयोग नहीं मिलेगा- ऐसा समझना चाहिये। जिसे सात तत्वों का भान नहीं और साधु के स्वरूप से विपरीत मान्यता वाला है- उसको सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता। अन्यमत में समकित नहीं होता। अनन्त आत्मायें, अनन्त पुद्‌गल, एक समय में अनन्त गुणों की अनन्त पर्यायों की बात सुनी नहीं उसे समकित कैसा? तथा समकित बिना चारित्र नहीं होता, अनुष्ठान नहीं होता। जिसको नवतत्त्वों का पता नहीं, श्रद्धा के विषय का पता नहीं- वे जीव धर्म रहित है। अतः वंदन योग्य नहीं है। और भी दर्शन पाहुड़ की 8वीं गाथा में कहा है:-

.....जे दंसणेसु भट्ठा णाणे भट्ठा चरित भट्ठाय ।
एदे भट्ट वि भट्ठा सेंसं पिजणं विणासंति ।।8।।

अर्थ:- "जो दर्शन से भ्रष्ट हैं, ज्ञान से भ्रष्ट हैं, चारित्र से भ्रष्ट हैं, वे जीव भ्रष्ट से भ्रष्ट हैं, और भी जीव जो उनका उपदेश मानते हैं उन जीवों का नाश करते हैं- बुरा करते हैं।"

जो सबको समान माने अथवा समन्वय करे वह श्रद्धा से भ्रष्ट है। सनातन दिगम्बर जैनधर्म का अन्य किसी के साथ समन्वय नहीं हो सकता। दिगम्बर जैन धर्म के सिवाय किसी का एक पैसेभर भी सत्य नहीं हैं- यह सम्यक् एकान्त है। जिनको सच्चेदेव-शास्त्र-गुरू का पता नहीं, केवली-मुनियों का पता नहीं है श्रद्धान में भ्रष्ट है, ज्ञान में भ्रष्ट है, और चारित्र में भ्रष्ट है, वे जीव भ्रष्ट में भी भ्रष्ट हैं।

श्रीमद् राजचन्द्रजी ने इस 'मोक्षमार्गप्रकाशक' ग्रन्थ को सत्श्रुत में गिना है, तो भी उनके अनुयायी कहलाने वाले भी इसमे जो स्वयं को रूचता है उसे पढ़ते हैं और इन (पांचवें-छठवें) अधिकारों को नहीं पढ़ते तो वे श्रीमद् को भी नहीं मानते।

तथा जो भगवान कुन्दकुन्दाचार्य देव परमेष्ठी पद में आते हैं वे 'दर्शन पाहुड़' की 12वीं गाथा में कहते हैं-

जे दंसणेसु भट्ठा पाए पाडंति दंसणधराणं।
ते होंति लल्लमूआ बोही पुण दुल्लहा तेसिं।। 12 ।। (दर्शनपाहुड़)

जो आप तो सम्यक्त्वसे भ्रष्ट हैं और सम्यक्त्वधारियोंको अपने पैरोपड़वाना चाहते हैं वे लूले-गूँगे होते हैं अर्थात् स्थावर होते हैं तथा उनके बोधकी प्राप्ति महा दुर्लभ होती है....।

जो जीव सम्यक्त्व से भ्रष्ट है, तो भी हम पंचमहाव्रत धारी हैं, साधु हैं- ऐसा कहकर (सम्यक्त्व धारियों को अपने) पैरों पड़वाना चाहता है, उसे पैर नहीं मिलेंगे, भाषा नहीं मिलेगी अर्थात् वह एकेन्द्रिय-स्थावर हो जायेगा तथा उसको बोधि की प्राप्ति महादुर्लभ है।

कुन्दकुन्दाचार्य ने ऐसा कहा तो उन्हें समभाव नहीं होगा? अज्ञानी को समभाव का पता नहीं है। सत्य और असत्य को जैसा है वैसा जाने, सुदेव को सुदेव मानकर स्थापे और कुदेव को कुदेव माने व उत्थापे- वह समभाव है।

यह 'मोक्षमार्गप्रकाशक' ग्रन्थ सादी भाषा में है। इसमें हजारों शास्त्रों का सार भर दिया है। ऐसा पढ़ने को मिलने पर भी उसे पढ़कर विचारता नहीं, वह अभागा है। इसी ग्रन्थ के पहले अधिकार में 20 वें पृष्ठ पर कहा है कि- जैसे किसी महान दरिद्री को अवलोकनमात्र चिन्तामणि की प्राप्ति होवे और वह अवलोकन न करे, तथा जैसे किसी कोढ़ी को अमृतपान कराने पर भी वह अमृतपान न करे, वैसे ही संसार पीड़ित जीव को सुगम मोक्षमार्ग के उपदेश का निमित्त बनने पर भी वह अभ्यास न करे, तो उसके अभाग्य की महिमा कौन कर सकता है? तथा और भी कहा है कि- जैसे मोती तो स्वयं-सिद्ध है, उसमें से कोई थोड़े मोतियों की, कोई बहुत मोतियों की, कोई किस प्रकार और कोई किस प्रकार गूँथकर गहने बनाता हैं; वैसे ही पद तो स्वयं-सिद्ध है, उसमें से कोई थोड़े पदों को, कोई बहुत पदों को, कोई किस प्रकार और कोई किस प्रकार गूंथकर- लिखकर ग्रन्थ बनाता है; उसी प्रकार मैं भी अपनी बुद्धि अनुसार सत्यार्थ पदों को गूंथकर ग्रन्थ बनाता हूँ, उसमें मैं अपनी बुद्धिपूर्वक कल्पित-झूठे अर्थ के सूचक पद नहीं गूंथता। इसलिये यह ग्रन्थ प्रमाणभूत जानना। मोक्षमार्गप्रकाशक के बाँचने का निषेध करने वाला दुर्भाग्यशाली है।

और भी 13वीं गाथा में कहा है:-

.....जे वि पडंति च तेसिं जाणंता लज्जागारवभयेण।
तेसिं पि णत्थि बोही पावं अणुमोयमाणाणं।। 13 ।। (दर्शनपाहुड)

जो जानते हुए भी लज्जा, गारव और भयसे उनके पैरों पड़ते हैं उनके भी बोधि अर्थात् सम्यक्त्व नहीं हैं। कैसे हैं वे जीव? पापकी अनुमोदना करते हैं। पापियोंका सन्मानादि करनेसे भी उस पापकी अनुमोदनाका फल लगता है....।

मुनि के उद्देशिक आहार नहीं होता- इत्यादि जानते हुए भी, यदि वंदन नहीं करेंगे

तो बड़प्पन खत्म हो जायेगा- इसप्रकार दुनिया के भय से जो उनके पैर पड़ते हैं उन्हें समकित नहीं हैं। कैसे हैं वे जीव? मिथ्यात्व और विपरीत मान्यता का अनुमोदन करने वाले हैं। जो मिथ्यादृष्टि है, उसको श्रद्धा का भान नहीं है, तो भी पापी को मुनि मानकर सन्मानादि करने से महापाप की अनुमोदना का फल लगता है।

जिसको कुदेव-कुगुरू-कुधर्म की श्रद्धा है उसको सम्यग्दर्शन नहीं है, वह गृहीत मिथ्यादृष्टि है। तथा कुन्दकुन्दाचार्य ने सूत्र पाहुड़ में कहा है कि- जिस लिंग में थोड़ा या बहुत परिग्रह अंगीकार है वह लिंग जिनवचन में निन्दा योग्य है। वीतरागमार्ग के साधु का नाम धराकर वस्त्र अथवा परिग्रह रखे वह निन्दा योग्य है। मुनि के वस्त्र-पात्र नहीं होते- ऐसे को ही मुनि कहा है।

तथा भावपाहुड़ की 71वीं गाथा में कहा है कि-

.....धम्मम्मि णिप्पवासो दोसावासो य उच्छुफुल्लसमो ।
णिप्फलणिग्गुणयारो णडसवणो णग्गरूवेण।। 71 ।। (भावपाहुड़)

अर्थः- जो धर्ममें निरूद्यमी है, दोषोंका घर है, इक्षुफूल समान निष्फल है, गुणके आचरण से रहित है; वह नग्नरूपसे नट-श्रमण है, भांडवत् वेशधारी हैं अब, नग्न होनेपर भांडका दृष्टान्त सम्भव है; परिग्रह रखे तो यह दृष्टान्त भी नहीं बनता.....।

आत्मा वीतरागी स्वरूप आनन्द कन्द है, जो उसमें निरूधमी है वह दोषों का घर है, इक्षु फूल समान निष्फल है। मुनि के अट्ठाईस मूलगूण होते हैं, निर्दोष आहार होता है ऐसे गुण से रहित है और सच्ची श्रद्धा से रहित है। तथा उद्देशिक- अपने लिये बनाया हुआ आहार लेता है- वह भांडवत् वेषधारी है, तो भी जो उसे मुनि माने वह गृहीत मिथ्यादृष्टि है। जो मुनि नग्न होवे, वस्त्र-पात्र नहीं रखे, मोर पिच्छी और कमण्डलु रखे; परन्तु अट्ठाईस मूलगूणों का पालन न करे तो उसके भांड का दृष्टान्त संभव है। परन्तु वस्त्र सहित मुनिपना माने-मनावे, उसको तो भांड की उपमा भी लागू नहीं पड़ती। विपरीत दृष्टि वाला, वस्त्रसहित मुनिपना मानने वाला परम्परा से निगोद में जायेगा। जैन दर्शन के मुनि की खबर नहीं और मैं श्रमण हूँ, संयत हूँ- ऐसा बोले व माने, परन्तु उसे श्रद्धा का भान नहीं है। जिसको विपरीत श्रद्धा है और विपरीत प्ररूपणा है उसको संक्षेप रूचि सम्यक्त्व नहीं कहते। जिसको कुदेव-कुगुरू का आदर नहीं है और अविपरीत ज्ञान थोड़ा

होवे, परन्तु विपरीत ज्ञान बिल्कुल नहीं होवे- वह संक्षेप रूचि है। जो कोई जैन नाम धराकर विपरीत मान्यता रखे और कहे कि- हमें संक्षेप रूचि सम्यक्त्व है, तो वह विपरीत दृष्टि वाला है। जहाँ विपरीत श्रद्धा न हो वहाँ संक्षेप रूचि सम्यक्त्व होता है। तिर्यन्च को तत्वों के नाम नहीं आते, तो भी विपरीत ग्रहण नहीं है; अन्तर में यथार्थ दृष्टि खिल गई है वह संक्षेप रूचिवान है; परन्तु जिसे विपरीतता हो उसे संक्षेप रूचि हो-ऐसा नहीं बनता।

ऋषभदेव भगवान के समय मे अमुक मुनि वृक्ष की छाल के कपड़े रखने लगे और कंदमूल खाने लगे, तब देवों ने आकर रोका और कहा कि यदि तुम छाल रखकर मुनिपना रखोगे तो दंड देंगे, यदि पालन नहीं कर सकते तो गृहस्थपना पालो; परन्तु अभी तो कोई खबर लेने वाला नहीं है।

यह वीतराग का मार्ग है। बड़ी प्रतिज्ञा न ले उसका दण्ड नहीं है, परन्तु बड़ी प्रतिज्ञा लेकर भंग करे तो दण्ड है। वस्त्र सहित मुनिपना मानने का फल निगोद है। व्यवहार में शुभभाव है इससे स्वर्ग में जाकर अनुक्रम से निगोद जायेगा। सनातन सत्यमार्ग नग्न मुनि का चलता है। वस्त्र सहित मुनिपना मानना और मनवाना मिथ्यादृष्टिपना है।

तथा मोक्षापाहुड़ में कहा है:-

.....जे पावमोहियमई लिंगं घेत्तू ण जिणवरिंदाणं।

पावं कुणंति पावा ते चत्ता मोक्खमग्गम्मि।। 78 ।। (मोक्षपाहुड़)

अर्थः- पापसे मोहित हुई है बुद्धि जिनकी; ऐसे जो जीव जिनवरों का लिंग धारण करके पाप करते हैं, वे पापमूर्ति मोक्षमार्गमें भ्रष्ट जानना...।

मिथ्यादृष्टि से (पाप से) मोहित हुआ है, वह वीतराग का वेष धारण करके पाप करता है। नग्न मुनि होकर उद्देशिक आहार ले अथवा वस्त्र सहित मुनिपना माने- वह भ्रष्ट है।

देखो! यह कुगुरू की बात चलती है।

प्रश्नः- प्रायश्चित ले लेवे तो?

समाधानः- दृष्टि बदले बिना प्रायश्चित कैसा? जिसको आत्मा का भान नहीं और वस्त्र सहित मुनिपना माने, मनावे- वह मिथ्यादृष्टि है।

तथा मोक्षपाहुड़ गाथा 79 वीं में कहा है-

......जे पंचचेलसत्ता गंथग्गाही य जायणासीला।

आधाकम्मम्मि रया ते चत्ता मोक्खमग्गम्मि ।। 79।। (मोक्षपाहुड़)

अर्थः- जो पंचप्रकार वस्त्र में आसक्त हैं, परिग्रहको ग्रहण करनेवाले हैं, याचनासहित हैं, अधःकर्म दोषोंमें रत हैं; उन्हें मोक्षमार्गमें भ्रष्ट जानना।

और भी गाथासूत्र वहाँ उस श्रद्धानको दृढ़ करनेके लिये कहे हैं वे वहाँसे जानना। तथा कुन्दकुन्दाचार्यकृत "लिंगपाहुड़" है, उसमें मुनिलिंग धारण करके जो हिंसा, आरम्भ, यंत्र-मंत्रादि करते हैं उनका बहुत निषेध किया है....।

यह गाथा श्वेताम्बरों के लिये डाली है। श्वेताम्बरों के ठाणांग में पाठ है कि मुनि को पाँच प्रकार के वस्त्र चलते हैं। इसलिये कहा है कि जो पाँच प्रकार के वस्त्रों में आसक्त है वह पात्र परिग्रह को ग्रहण करता है। तथा आहार की याचना करता है। तथा अधःकर्म दोषों में लीन है- उन्हें भ्रष्ट जानना।

श्वेताम्बर साधु यशोविजय ने लिखा है कि द्रव्यानुयोग के ज्ञान वाले को अधःकर्म का दोष नहीं हैं, तो वह भूल है। श्वेताम्बर शास्त्र में पाठ है कि तथारूप साधु अर्थात् अपने सम्प्रदाय के साधु को आहार दे तो एकान्त निर्जरा है; परन्तु यह बात मिथ्या है। मुनि को आहार देने का भाव शुभभाव है। तथा दूसरा पाठ ऐसा है कि तथारूप मुनि को सदोष आहार दे तो अल्प पाप है और निर्जरा बहुत है- ऐसा कहकर साधु को सदोष आहार चलता है- ऐसा श्वेताम्बर कहते हैं, परन्तु वस्तु स्वरूप ऐसा नहीं है। मुनि अपने लिये बनाया हुआ आहार ले तो पाप ही है, वह मोक्षमार्ग से भ्रष्ट है। मुनि होकर वस्त्र लेवे या दूषित आहार लेवे तो भ्रष्ट ही है। तथा वे असंयमी को दान देने में पाप कहते हैं, क्योंकि असंयमी पाप करने वाला है- ऐसा कहकर पुण्य को पाप मनाते हैं। उनमे से तेरापंथी स्थानकवासी पंथ निकला है (जो अनुकंपा आदि को पाप कहता है)। तो वह बात भी खोटी है;क्योंकि अनुकंपा आदि का भाव पुण्य है, पाप नहीं।

यथाजात भावलिंगी मुनि को समकिती आहार-पानी दे तो पुण्य बंधता है। वह क्रिया संवर-निर्जरा की नहीं है तो भी 'भगवती सूत्र' आहारदान में निर्जरा मनाता है। वह भूल है।

तथा श्री कुन्दकुन्दाचार्य कृत 'लिंगपाहुड़' है, उसमें जो मुनि लिंग धारण करके हिंसा, आरम्भ, यंत्र, मंत्रादि करते हैं उनका निषेध किया है।

.....तथा गुणभद्राचार्य कृत 'आत्मनुशासन' में ऐसा कहा है:-

इतस्ततश्च त्रस्यन्तो विभाववर्य्यां यथा मृगाः।
वनाद्वसन्त्युग्रामं कलौ कष्टं तपस्विनः।। 197 ।।

अर्थः- कलिकालमें तपस्वी मृगकी भाँति इधर-उधरसे भयभीत होकर वनसे नगरके समीप वास करते हैं, यह महाखेदकारी कार्य है। यहाँ नगरके समीपही रहनेका निषेध किया, तो नगरमें रहना तो निषिद्ध हुआ ही....।

जैसे रात्रि में मृग जहाँ-तहाँ से भयवान बनकर वन में से नगर के समीप आकर बसते हैं; वैसे ही इस कलिकाल में तपस्वी भी मृग की तरह जहाँ-तहाँ भयवान बनकर वन में से नगर के समीप आकर बसते हैं यह महाखेदकारक कार्य है। भावलिंगी मुनि जंगल में बसते हैं नगर में नहीं रहते। मात्र एकबार नगर में आते है।

यहाँ स्पष्ट सत्य बात की है। सच्चे मुनियों के तीन चोकड़ी कषाय का नाश हुआ है और संज्वलन कषाय में भी मात्र देशघाती का उदय है। रोम-रोम मे अस्पर्शी आत्मा का अनुभव हुआ है। वे सर्दी के कारण आर्त्तध्यान नहीं करते। उन्हें देह-मन-वाणी के परमाणुओं से भिन्न आत्मा का भान वर्तता है वह मुनिमार्ग है। यहाँ नगर के समीप रहने का भी निषेध किया है तब नगर में रहना तो स्वयं निषेध हुआ। तथा कहा है-

......वरं गार्हस्थ्यमेवाद्य तपसो भाविजन्मनः।
सुस्त्रीकटाक्षलुण्टाकलुप्तवैराग्यसम्पदः।। 200 ।।

अर्थः- होनेवाला है अनन्त संसार जिससे ऐसे तपसे गृहस्थपना ही भला है। कैसा है वह तप? प्रभात होते ही स्त्रियोंके कटाक्षरूपी लुटेरों द्वारा जिसकी वैराग्य-सम्पदा लुट गई है- ऐसा है...।

जिससे अनन्त संसार होने योग्य है ऐसे तप से तो गृहस्थपना भला है। कैसा है तप? प्रभात होते ही स्त्रियो के कटाक्षरूपी लुटेरों द्वारा जिसकी वैराग्य सम्पदा लुट गई है। मुनि होकर भ्रष्ट होवे वह अनन्त संसारी होने योग्य है।

प्रश्नः- ऐसी बात सुनकर साधु संस्था रूक जायेगी?

उत्तरः- भाई! वे साधु ही नहीं है। ऐसे भ्रष्ट साधु की अपेक्षा तो सम्यग्दृष्टि अथवा श्रावक रहना ठीक है। प्रातः काल होते ही युवा स्त्रियाँ आवे तब उनके परिचय, हाव-भाव आदि से जिसकी वैराग्य सम्पदा लुट गई है। नग्न मुनि होकर नगर में आवे वह वैराग्य

सम्पदा लुटाता है,उसकी अपेक्षा तो गृहस्थ ठीक है। बिगड़े हुए दूध की अपेक्षा छाछ ठीक है। बिगड़े हुए जीव साधु नाम धरावे उसकी अपेक्षा श्रावक ठीक है। नामधारी साधु पैसों से धर्म मनाते है; परन्तु पैसों से तो पुण्य भी नहीं है। राग मन्द करे तो पुण्य होता है धर्म नहीं। अज्ञानी जीव शुभभाव में धर्म मनाते हैं। निमित्त और राग रहित आत्मा का भान करे तो धर्म होता है। मन्दिर आदि उनके स्वयं के कारण होते हैं, शुभभाव उसके स्वकाल में होता है; परन्तु उससे धर्म नहीं होता है।

रत्नकरण्ड श्रावकाचार में श्री समन्तभद्राचार्य कहते है कि समकिती को स्त्री, पुत्रादिक होने पर भी वह मोक्षमार्ग में है, सच्चे भाव वाला मोक्षमार्ग में है, परन्तु जिसने वस्तु को विपरीत माना है ऐसा मिथ्यादृष्टि मुनि मोक्षमार्ग नहीं है, उसकी अपेक्षा सम्यग्दृष्टि गृहस्थ श्रेष्ट है।

भावार्थ यह है कि जिसको मिथ्यात्व नहीं है ऐसा अविरत सम्यग्दृष्टि मोक्षमार्गी है। यथार्थ दृष्टि वाला होवे तो उसे एक-दो भव में मोक्ष होगा, उत्कृष्ट सात-आठ भव होकर नियम से मोक्ष में जायेगा। परन्तु मुनिव्रत धारण करके मिथ्यादृष्टि साधु हुआ है, तो भी मरकर भवनत्रिक में उत्पन्न होकर अनन्त संसार में भ्रमेगा। मुनि नाम धराकर नीची क्रिया करे वह मिथ्यादृष्टि है। उसकी अपेक्षा तो समकिती अथवा गृहस्थ रहना ठीक है।

तथा श्री योगीन्द्रदेव कृत परमात्मप्रकाश में कहा है :-

.....चिल्लाचिल्लीपुत्थियहिं, तूसइ मूढु णिभंतु।
एयहिं लज्जई णाणियउ, बंधहं हेउ मुणतुं ।। 215 ।।

चेला-चेली और पुस्तकों द्वारा मूढ़ संतुष्ट होता है; भ्रान्तिरहित ऐसा ज्ञानी उन्हें बन्धका कारण जानता हुआ उनसे लज्जायमान होता है.....।

हमारे इतने चेला-चेली हुए-ऐसा कहता है; परन्तु वे तो परद्रव्य हैं। परद्रव्य से अपनी शोभा मानता है। तथा पुस्तकों द्वारा सन्तुष्ट होता है। हमारे पास दो लाख की पुस्तकें हैं इससे संतोष मानता है। ज्ञानी जानता है कि चेला-चेलियों के कारण हमारा बड़प्पन नहीं है। अरे! शुभराग भी तेरा नहीं...। तेरी शोभता तो चैतन्य स्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान-रमणता करने से है। पर परिग्रह के कारण बड़प्पन देने से सच्चें मुनि लज्जायमान होते हैं।

मुनि नग्न दिगम्बर भावलिंग सहित होते हैं, थोड़ा भी परिग्रह रखे वैसे मुनि को

मिथ्यादृष्टि कहते हैं; उसकी बात चल रही है।

'परमात्मप्रकाश' गाथा 217 में आचार्य योगीन्द्रदेव कहते हैं :-

.......केणवि अप्पउ बंचियउ सिरलुंचिवि छारेण।
सयलवि संग ण परिहरिय जिणवरलिंग धरेण।। 217 ।।

किसी जीव द्वारा अपना आत्मा ठगा गया, वह जीव कौन? कि जिस जीव ने जिनवर का लिंग धारण किया और राख से शिर का लोंच किया; परन्तु समस्त परिग्रह नहीं छोड़ा....।

जरा भी परिग्रह रखकर जो मुनि नाम धरावे वह मिथ्यादृष्टि है। जिनवर लिंग धारण करके परिग्रह रखे तो उसने अपने आत्मा को ठगा है। बड़ी प्रतिज्ञा न लेने का दण्ड नहीं है, परन्तु बड़ी प्रतिज्ञा लेकर भंग करना, वह महान पाप है। अविरत सम्यग्दृष्टि लाखों वर्ष की आयु तक एक भी व्रत नहीं लेते, स्वरूप में लीनता नहीं, किन्तु उससे दण्ड नहीं। परन्तु जिसने मन, वचन, काय और कृत, कारित, अनुमोदन- ऐसी नव कोटि से हिंसा व परिग्रह का त्याग किया है, वैसी प्रतिज्ञा ली है, फिर भी परिग्रह रखकर मुनि नाम धरावे- वह परम्परा से निगोद में जाता है। उसकी दृष्टि मिथ्या है, उसका फल निगोद है। मुनि नहीं होने पर भी जो उन्हें मुनि माने, उसके लिये उद्देशिक आहार बनावे और आहारदान दे- वह मिथ्यादृष्टि है। एक पानी की बूंद में असंख्यात जीव हैं, उस पानी के जीवों को मारना नहीं, मरवाना नहीं व मारने का अनुमोदन करना नहीं, सब्जी में वनस्पति के जीव नष्ट होते हैं, फिर भी मुनि अपने लिये बनाया आहार ले तो मुनि और उन मुनि को आहारदान देने वाला- दोनो मिथ्यादृष्टि हैं। आज मुनि आने वाले हैं- ऐसा धारकर आहार बनाना उद्देशिक आहार है। बाहर गाँव से दूसरे गाँव आकर मुनि को आहार दान दे- वह उद्देशिक आहार है। आहार शुद्ध, मन शुद्ध, वचन शुद्ध- ऐसा बोले, परन्तु एक भी शुद्ध नहीं है। मुनि के लिये आहार बनाना, वह श्रावक का कर्तव्य नहीं है। मुनि के लिये आहार बनाया होने पर भी मुनि ले और श्रावक दे तो दोनो को महान पाप है। जलकाय को हनना, हनाना व अनुमोदन पाप है। मुनि को ऐसी हिंसा नहीं होती। अभी तो विपरीत दृष्टि पूर्वक मुनिपना ले लेते हैं। आत्मा के अनुभव बिना बाह्य क्रिया में धर्म मानते हैं। मुनि के लिये अंगुर, केला तथा सिंगाड़े की रोटी बनाना उद्देशिक आहार है।

.......जे जिणलिंगु धरेवि मुणि, इट्ठपरिग्गह लिंति।

छद्दि करेविणु ते जि जिय, सा पुणु छद्दि गिलंति।। 218 ।।

हे जीव! जो मुनिपद धारण करके इष्ट परिग्रह धारण करते हैं वे उल्टी करके उसी उल्टी का फिर से भक्षण करते हैं। वे भगवान के मार्ग में निन्दा योग्य हैं....।

........तथा जहाँ मुनिको धात्री-दूत आदि छयालीस दोष आहारादिमें कहे हैं; वहाँ गृहस्थोंके बालकोंको प्रसन्न करना, समाचार कहना, मंत्र-औषधि-ज्योतिषादि कार्य बतलाना तथा किया-कराया, अनुमोदित भोजन लेना- इत्यादि क्रियाओंका निषेध किया है; परन्तु अब कालदोषसे इन्हीं दोषोंको लगाकर आहारादि ग्रहण करते हैं।

तथा पार्श्वस्थ, कुशीलादि भ्रष्टाचारी मुनियों का निषेध किया है, उन्हींके लक्षणोंको धारण करते हैं। इतना विशेष है कि- वे द्रव्यसे तो नग्न रहते हैं, यह नाना परिग्रह रखते हैं। तथा वहाँ मुनियोंके भ्रामरी आदि आहार लेनेकी विधि कही है; परन्तु यह आसक्त होकर, दातारके प्राण पीड़ित करके आहारादिका ग्रहण करते हैं। तथा जो गृहस्थधर्ममें भी उचित नहीं हैं वे अन्याय, लोकनिंद्य, पापरूप कार्य करते प्रत्यक्ष देखे जाते हैं।

तथा जिनबिम्ब, शास्त्रादिक सर्वोत्कृष्ट पूज्य उनकी तो अविनय करते हैं और आप उनसे भी महंतता रखकर ऊपर बैठना आदि प्रवृत्तिको धारण करते हैं- इत्यादि अनेक विपरीतताएँ प्रत्यक्ष भासित होती हैं और अपनेको मुनि मानते हैं, मूलगुण आदिके धारी कहलाते हैं। इस प्रकार अपनी महिमा कराते हैं और गृहस्थ भोले उनके द्वारा प्रशंसादिकसे ठगाते हुए धर्मका विचार नहीं करते, उनकी भक्ति में तत्पर होते हैं; परन्तु बड़े पापको बड़ा धर्म मानना इस मिथ्यात्वका फल कैसे अनन्त संसार नहीं होगा? शास्त्रोंमें एक जिनवचनको अन्यथा माननेसे महापापी होना कहा है; यहाँ तो जिनवचनकी कुछ बात ही नहीं रखी, तो इसके समान और पाप कौन है...?

इस प्रकार शास्त्रों मे भी कुगुरू और उनके आचरण और उनकी सेवा का निषेध किया है वह जानना।

सम्यग्दर्शन सहज है, और मुनि के विकल्प सहज होते है। आत्मा के भान पूर्वक सब रीति होनी चाहिये। इस प्रकार आत्मा का भान नहीं है- ऐसे मिथ्यादृष्टि जीव मुनि का नाम धराकर परिग्रह धारण करते है वह मिथ्यादृष्टि है। और जहाँ मुनि को धात्रीदूत आदि छियालीस दोष आहार के बारे में कहे है वहाँ गृहस्थों के बालकों को प्रसन्न करने के लिये समाचार कहना, मंत्र औषधि ज्योतिष आदि कार्य बताना और किया-कराया-अनुमोदित आहार लेने आदि क्रिया का निषेध क्रिया है। पर कालदोष से इस दोष को लगाकर आहारादि ग्रहण करते हैं- यह बात दो सौ वर्ष पहले पण्डित जी ने लिखी है।

जिसको सम्यग्दर्शन कैसा तथा किस तरफ झुकने से होता है- इसका पता नहीं है। निमित्त, राग और पर्याय भेद से भिन्न स्वभाव की श्रद्धा का पता नहीं है उसको धर्म कैसे होगा? क्रमबद्धपर्याय का ज्ञान करने वाला निमित्त से उदासीन हो जाता है। राग को बदलना नहीं, बल्कि मैं ज्ञान स्वरूप हूँ- ऐसी श्रद्धा करना वह पुरूषार्थ है। बाद में वीतराग दशा आती है। सम्यग्दर्शन के पहले निर्णय करना चाहिये कि मैं चिदानन्द आत्मा हूँ, ज्ञाता-दृष्टा हूँ- ऐसा निर्णय करने के पश्चात् निर्विकल्प अनुभव करना, वह अनन्त पुरूषार्थ है। निमित्त और विकल्प की दृष्टि छोड़ना क्योंकि पर्याय में से पर्याय नहीं आती, स्वभाव में से सम्यग्दर्शन आता है। अतः विपरीत श्रद्धा छोड़कर स्वभाव की श्रद्धा करके निर्विकल्प अनुभव करना ही पुरूषार्थ है। सम्यग्दर्शन- इस एक ही प्रकार से है- ऐसी श्रद्धा करना दुर्लभ है। पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा समयसार की ग्यारहवीं गाथा के भावार्थ में लिखते हैं कि :-

"तथा जिनवाणी में व्यवहारनय का उपदेश शुद्धनय का हस्तावलम्ब (सहायक) जानकर बहुत किया है; परन्तु उसका फल संसार है। शुद्धनय का पक्ष तो कभी आया नहीं और उसका उपदेश भी विरल है- कहीं-कहीं है। इस कारण उपकारी श्रीगुरू ने शुद्धनय का फल मोक्ष जानकर उसका उपदेश प्रधानता से दिया है।"

अभी पक्ष की बात चलती है। निमित्त और राग का पक्ष छोड़ दे ! राग में से अथवा पर्याय में से पर्याय नहीं आती, स्वभाव में से पर्याय आती है- ऐसा पक्ष कभी नहीं आया। दया-दानादि विकार है, इससे लाभ नहीं है। पर्याय में से धर्म की पर्याय का लाभ नहीं होता। एक समय की पर्याय का अभाव हो जाता है, धर्म का लाभ स्वभाव में से होता है- ऐसा पक्ष आज तक नहीं आया। वीर्य का झुकाव स्वतरफ पलट जाना चाहिये, अनन्त

निमित्त भले ही हो; परन्तु वे मुझे रोकते नहीं और मैं उनका फेरफार करने वाला नहीं हूँ। पर्याय क्रमसर होती है। पर्याय की रूचि छोड़कर "मैं ज्ञाता हूँ"- ऐसा पक्ष करने के बाद पुरूषार्थ द्वारा सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। व्यवहाररत्नत्रय का फल संसार है। अतः सत्य के पक्ष की मजबूताई करो, असत्य पक्ष छोड़ो।

यहाँ कालदोष से उन्हीं दोषों को लगातार आहारादि ग्रहण करते हैं इसमें 'कालदोष' कहा- इसका अर्थ पंचम काल के कारण नहीं, परन्तु अपने अपराध के कारण दोष बनाता है और उद्देशिक आहार-पानी लेता है। वह मार्ग से और आगम से विपरीत है, फिर भी जो उसको प्रमाण माने उसकी दृष्टि विपरीत है।

तथा पार्श्वस्थ, कुशील आदि जिन भ्रष्टाचारी मुनियों का निषेध किया है, उन्हीं के लक्षणों को धारण करते है। इतना विशेष है कि वे द्रव्य से तो नग्न रहते हैं, यह नाना परिग्रह रखते हैं। घास रखते हैं, घड़ी रखते हैं, लालटेन आदि रखते हैं। तथा वहाँ मुनि के भ्रामरी आदि आहार लेने की विधि कही है। जैसे भ्रमर फूल के पराग में से रस चूस लेता है, पर फूल को नष्ट नहीं करता। उसी प्रकार निर्दोष आहार लेना चाहिये। आहार देने वाले को दुःख न हो अथवा विघ्न न हो- उस रीति से आहार लेना चाहिये। भ्रमर जंगल में जाकर अनेक पुष्पादिक के ऊपर बैठकर उस कोमल पुष्प के रस को चूसकर इखट्टा करता है, परन्तु उस पुष्प को किंचित् मात्र भी हरकत या दुःख नहीं पहुंचने देता (जबकि भ्रमर की सामर्थ्य पत्तियों को काट देने की है)। उसी प्रकार साधु गृहस्थ के घर आहार ले, परन्तु अपने निमित्त से गृहस्थ के पूरे परिवार को किंचित् भी दुःख नहीं पहुँचने दे- ऐसी उसकी दयामय कोमलवृत्ति को भ्रामरीवृत्ति कहते हैं। मिथ्यादृष्टि मुनि भोजन में आसक्त बनता है और दातार के प्राण पीड़ित करके आहारादि ग्रहण करता हैं। मुनि के लिये केला, मौसम्बी आदि लावे तो दोष आता है। मुनिमार्ग कैसा है? उसका ज्ञान भलीभांति होना चाहिये। तथा वे जो गृहस्थपने में भी उचित नहीं है ऐसे अन्याय और लोकनिंद्य कार्य करते भी देखे जाते हैं।

जिनबिम्ब और शास्त्रादि सर्वोत्कृष्ट पूज्य है, फिर भी वीतराग मुद्रा का अनादर करे अथवा पीठ बताते हैं अथवा शास्त्र का अनादर करते हैं। स्वयं उनसे महंतता रखकर उच्चासन पर बैठते हैं। इस प्रकार अनेक विपरीतता प्रत्यक्ष भासती है। अपने को मुनि मानते हैं और अट्ठाईस मूलगुण धारक कहलाते हैं। इस प्रकार अपनी महिमा कराते हैं।

भोले गृहस्थ उनकी प्रशंसा से ठगा जाते हैं। तुम मुनि की संभाल रखते हो, तुम दातार हो- इस प्रकार प्रशंसा से ठगा जाते हैं, परन्तु धर्म का विचार भी नहीं करते और उनकी भक्ति में तत्पर होते है। *इस प्रकार बड़े पाप को बड़ा धर्म मानते हैं।* इस मिथ्यात्व का फल अनन्त संसार क्यों न हो? शास्त्र में एक जैन वचन को अन्यथा मानने से महापापी होना कहा है, तो यहाँ तो जैनवचन की कोई बात ही नहीं रखी, अपनी स्वच्छन्दता में उसकी दरकार ही नहीं की, तो उसके समान अन्य पाप क्या है? कौनसा है? अर्थात् कोई नहीं।

गणधर देव भी नमस्कार मंत्र बोलते समय साधु को नमस्कार करते हैं,''णमो लोए सव्व साहुणं'' हे भावलिंगी मुनि! तेरे चरण कमल में मेरा नमस्कार। गणधर बहुत वर्षों से हुए हो और साधु नया हुआ हो तो भी गणधर नमस्कार मंत्र बोलते समय (साधु को) नमस्कार करते हैं। छठवें-सातवें (गुणस्थान की) भूमिका में बारंबार झूलते हैं- ऐसा मुनि का स्वरूप है, परन्तु अज्ञानी जीव कुयुक्तियों द्वारा कुगुरूओं का स्थापन करता है। उसका निराकरण अब करते हैं:-

शिथिलाचार की पोषक युक्तियां और उनका निराकरण :-

......अब यहाँ, कुयुक्ति द्वारा जो उन कुगुरूओं की स्थापना करते हैं उनका निराकरण करते हैं।

वहाँ वह कहता है- गुरू बिना तो निगुरा कहलायेंगे और वैसे गुरू इस समय दिखते नहीं; इसलिये इन्हींको गुरू माननना ?

उत्तर:- निगुरा तो उसका नाम है जो गुरू को मानता ही नहीं। तथा जो गुरूको तो माने, परन्तु इस क्षेत्रमें गुरूका लक्षण न देखकर किसीको गुरू न माने तो इस श्रद्धानसे तो निगुरा होता नहीं है। जिस प्रकार नास्तिक तो उसका नाम है तो परमेश्वर को मानता ही नहीं, और जो परमेश्वरको तो माने परन्तु इस क्षेत्रमें परमेश्वरका लक्षण न देखकर किसीको परमेश्वर न माने तो नास्तिक तो होता नहीं है; उसी प्रकार यह जानना।

प्रश्न:- गुरू बिना तो निगुरा कहलायेंगे, हमारे गुरू तो होना चाहिये, परन्तु छठवीं-सातवीं भूमिका वाले गुरू दिखते नहीं; इसलिये इन्हीं को गुरू मानना चाहिये?

उत्तर:- निगुरा तो उसका नाम है कि जो गुरू को मानता ही नहीं। अब जो गुरू

को तो मानता है कि आत्मभान सहित जिनका राग घट गया हो वे गुरू हैं; परन्तु इस क्षेत्र में गुरू का लक्षण न देखने से किसी को गुरू नहीं माने तो वह श्रद्धान से निगुरा होता नहीं। जैसे नास्तिक तो उसका नाम है कि जो परमेश्वर को मानता ही नहीं। अब जो परमेश्वर को तो मानता है, परन्तु इस क्षेत्र में परमेश्वर का लक्षण कहीं नहीं दिखने से किसी को परमेश्वर नहीं माने; इस क्षेत्र में केवली नहीं है इससे किसी को केवली नहीं माना जा सकता, परन्तु इससे कोई वह नास्तिक नहीं हो जाता। इसी प्रकार अन्तर के भान सहित रमणता वाले गुरू न देखे तो गुरू नहीं माने, इससे कोई नास्तिक नहीं होता। "भावदीपिका" में पण्डित दीपचन्दजी लिखते है कि- कोई हमारी (बात) नहीं मानता, आगम प्रमाण किसी की श्रद्धा नहीं है, इससे इस पुस्तक में लिख जाता हूँ। संस्कृत-प्राकृत भाषा छोड़कर आप देशभाषा में शास्त्ररचना क्यों करते हो? इस प्रश्न के समाधानरूप भावदीपिका (जयपुर संस्करण) पृष्ट 242 में दीपचन्द जी लिखते हैं:-

महंत ग्रन्थों की अन्य जीवों द्वारा की देशभाषा, उसका प्रयोजन क्या? संस्कृत-प्राकृत रूप भाषा तीन लोक में प्रसिद्ध, उसे छोड़कर आप भ्रमरूप देश-भाषा में शास्त्र रचना क्यों करते हो?

उसका समाधानः- *कालदोष से सम्यग्ज्ञानी, वीतराग प्रवृत्ति के धारक यथार्थ वक्ताओं का तो अभाव हुआ और अवसर्पिणी काल के निमित्त से जिनमत में कुलिंग के धारक, प्रचंड हैं क्रोध, मान, माया, लोभादिक कषाय जिनके, और पंच इन्द्रियों के विषयों में हैं आसक्तभाव जिनके, साक्षात गृहीत मिथ्यात्व के पोषते हुए जिनमत में वक्ता हुए, अधिष्ठता हुए, जिनसूत्र के अर्थ अन्यथा करने लगे उसे भोले जीव उनकी बताई प्रवृत्ति में प्रवर्त्तते हैं। नहीं है सत्य सूत्र का ज्ञान जिनको और नहीं है संस्कृत का ज्ञान उनको इस कारण महंत शास्त्र का ज्ञान उनके अगोचर हुआ। इससे मूढ़ता को प्राप्त हुए, हीन शक्ति हुए, सत्य वक्ता सच्चे जिनोक्तसूत्र का अर्थ ग्रहण कराने वाला कोई रहा नहीं- इस कारण सत्य जिनमत का तो अभाव हुआ। तब (वे) धर्म से परान्मुख हुए। तब कोई- कोई गृहस्थ सुबुद्धि संस्कृत-प्राकृत भाषा के वेत्ता हुए, उनसे जिन सूत्र को अवगाहा तब ऐसा प्रतिभास हुआ कि सूत्र के अनुसार एक भी श्रद्धान-ज्ञान-आचरण की प्रवृत्ति नहीं करते हैं। और बहुत काल गया मिथ्याश्रद्धान-ज्ञान-आचरण की प्रवृत्ति मे, उससे अतिगाढ़ता को प्राप्त हुई इससे मुख से कही हुई मानते नहीं, तब जीवों का अकल्याण होता जानकर*

करूणा बुद्धि से देशभाषा में शास्त्र रचना की तब किसी सुबुद्वि के सच्चा बोध हुआ।

....फिर वह कहता है- जैन शास्त्रोंमें वर्तमान केवलीका तो अभाव कहा है मुनिका तो अभाव नहीं कहा है?

उत्तरः- ऐसा तो कहा नहीं है कि इन देशोंमें सद्भाव रहेगा; परन्तु भरतक्षेत्रमें कहते हैं, सो भरतक्षेत्र तो बहुत बड़ा है, कहीं सद्भाव होगा; इसलिये अभाव नहीं कहा है। यदि तुम रहते हो उसी क्षेत्रमें सद्भाव मानोगे, तो जहाँ ऐसे भी गुरू नहीं मिलेंगे वहाँ जाओगे तब किसको गुरू मानोगे? जिस प्रकार- हंसोंका सद्भाव वर्तमान में कहा है, परन्तु हंस दिखायी नहीं देते तो और पक्षियोंको तो हंस माना नहीं जाता ; उसी प्रकार वर्तमान में मुनियों का सद्भाव कहा है, परन्तु मुनि दिखायी नहीं देते तो औरोंको तो मुनि माना नहीं जा सकता....।

प्रश्नः- जैन शास्त्रों में इस काल में केवली का अभाव कहा है, परन्तु कोई मुनियों का अभाव नहीं कहा?

उत्तरः- ऐसा तो कहा नहीं कि इस देश मे सद्भाव रहेगा, परन्तु भरतक्षेत्र में रहेगा ऐसा कहा है। अब भरतक्षेत्र तो बहुत बड़ा है उसमें कही सद्भाव होगा, इसलिये अभाव नहीं कहा। यदि जहाँ तुम रहते हो उसी क्षेत्र मे सद्भाव मानोगे तो जहाँ ऐसे भी मुनि नहीं देखोगे वहाँ जाओगे तो किसे गुरू मानोगे? सच्चे लक्षण वाले मुनि नहीं है तो किसे मानोगे? जैसे इस काल में हंसों का सद्भाव कहा है, परन्तु हंस दिखते नहीं तो इससे कोई अन्य पक्षियों में- कौओं आदि मे तो हंसपना माना नहीं जाता, उसी प्रकार इसकाल में मुनिजनों का तो सद्भाव कहा है, अब भावलिंगी मुनि दिखते नहीं तो इससे अन्य को मुनि नहीं माना जाता। जिनमें सम्यक्श्रद्धा-ज्ञान और आचरण दिखते नहीं उन्हें किस प्रकार मुनि माने? लक्षण बिना मुनि कैसे माने?

......फिर वह कहता है- एक अक्षरके दाताको गुरू मानते हैं; तो जो शास्त्र सिखलायें व सुनायें उन्हें गुरू कैसे न माने?

उत्तरः- गुरू नाम बड़ेका है। सो जिस प्रकारकी महंतता जिसके सम्भव हो, उसे उस प्रकार गुरूसंज्ञा सम्भव है। जैसे-कुल अपेक्षा माता-पिता को गुरूसंज्ञा है; उसी प्रकार विद्या पढ़ानेवालेको विद्या अपेक्षा गुरूसंज्ञा है। यहाँ

तो धर्मका अधिकार है, इसलिये जिसके धर्म अपेक्षा महंतता सम्भवित हो उसे गुरू जानना। परंतु धर्म नाम चारित्रका है, "चारित्तं खलु धम्मो" ऐसा शास्त्रमें कहा है; इसलिये चारित्रके धारकको ही गुरूसंज्ञा है। तथा जिस प्रकार भूतादिका नाम भी देव है, तथापि यहाँ देवके श्रद्धानमें अरहन्तदेवका ही ग्रहण है; उसी प्रकार औरोंका भी नाम गुरू है, तथापि यहाँ श्रद्धानमें निर्ग्रन्थका ही ग्रहण है। जैनधर्ममें अर्हन्तदेव, निर्ग्रन्थगुरू ऐसा प्रसिद्ध वचन है...?

प्रश्न :-एक अक्षर के दाता को गुरू मानने में आता है तो जो शास्त्र सिखलावे व सुनावे उन्हें गुरू कैसे नहीं मानें ?

उत्तर:- सम्यग्दर्शन पूर्वक चारित्रवंत को गुरू कहते हैं। मुनि के चारित्र की महंतता है। जिसमें जिस प्रकार की महंतता हो उसमें उस प्रकार की गुरू संज्ञा संभव है। जैसे कुल अपेक्षा से माता-पिता को गुरू संज्ञा है, परन्तु वहाँ चारित्र की अपेक्षा नहीं है। विद्यालय मे अध्यापक लौकिक विद्या पढ़ाता है उसे विद्या अपेक्षा गुरू संज्ञा है। परन्तु यहाँ तो धर्म का अधिकार है; इसलिये जिसमें धर्म अपेक्षा महंतता होवे वे ही गुरू जानना। अब धर्म नाम चारित्र का है। चारित्र ही धर्म है। शुद्ध उपयोग ही चारित्र और धर्म है। नग्नपना अथवा अट्ठाईस मूलगुणों का पालन चारित्र नहीं है, महाव्रत आस्रव है। 'प्रवचनसार' की सातवीं गाथा मे चारित्र को धर्म कहा है। चारित्र धारण करने वाले को मुनि कहते हैं अथवा गुरू संज्ञा कहते हैं। जैसे भूतादि का नाम भी देव है तो भी यहाँ देव के श्रद्धान में अरहन्त देव का ही ग्रहण है; वैसे ही अन्य का नाम भी गुरू है तो भी यहाँ गुरू के श्रद्वान में निर्ग्रन्थ गुरू का ही ग्रहण है। जो आत्मा के भान सहित छटवीं-सातवीं भूमिका में झुलते हैं वे निर्ग्रन्थ गुरू हैं। जैनधर्म में तो अरहन्त देव, निर्ग्रन्थ गुरू- ऐसा प्रसिद्ध वचन है। वस्त्र पात्र सहित निर्ग्रन्थपना संभव नहीं है। चारित्र धर्म मे परिग्रह नहीं चलता। जिन्हें गणधर नमस्कार करे ऐसे चारित्रवंत साधु अलौकिक हैं। ऐसी मुनिदशा बाह्य-अभ्यंतर बराबर होनी चाहिये।

कोई कहे कि अन्तर में तो भावलिंग प्रगट हो गया है, परन्तु बाह्य लिंग चाहे जैसा हो; तो यह बात खोटी है। मुनि के नग्न दिगम्बर दशा और अठ्ठाईस मूलगुणों का पालन है वह सहज होता है- वे उसके कर्त्ता नहीं, अन्तर में शुद्ध उपयोग के कर्त्ता हैं।

.......यहाँ प्रश्न है कि निर्ग्रन्थके सिवा अन्यको गुरू नहीं मानते ; सो क्या कारण है?

उत्तरः- निर्ग्रन्थके सिवा अन्य जीव सर्वप्रकारसे महंतता धारण नहीं करते । जैसे-लोभी शास्त्र व्याख्यान करे वहाँ वह इसे शास्त्र सुनानेसे महंत हुआ और यह उसे धन-वस्त्रादि देनेसे महंत हुआ। यद्यपि बाह्यमें शास्त्र सुनानेवाला महंत रहता है, तथापि अन्तरंगमें लोभी होता है; इसलिये सर्वथा महंतता नहीं हुई......।

प्रश्नः- निर्ग्रन्थ बिना अन्य को गुरू नहीं मानना, उसका क्या कारण है?

उत्तरः- जो मुनि भावलिंगी हैं और वस्त्र नहीं रखते, उनके सिवाय अन्य जीव सर्वप्रकार महंतता नहीं धारते। जैसे कोई लोभी शास्त्र व्याख्यान करे, वहाँ इसे समझाऊँगा तो पैसों का चंदा होगा, मान मिलेगा- ऐसा बारंबार लोभी हुआ। वहाँ वह इसे शास्त्र सुनाने से महंत हुआ और यह उसे धन-धान्यदि देने से महंत हुआ। यद्यपि बाहर से शास्त्र सुनाने वाला महंत रहता है तथापि अन्तरंग में पैसा लेना हैं, चंदा कराना हैं, वह दातार को उच्च मानता है तथा दातार लोभी को नीचा ही मानता है। इस कारण उसे सर्वप्रकार महंतता नहीं हुई। आत्मा का बहुमान नहीं आया, परन्तु पाठशाला आदि करने के लिये श्रेष्ठी इसके अनुकूल रहे (ऐसा भाव आया है) वे अपने मान के कामी हैं, उपदेशक नहीं। करोड़पति को मक्खन लगावे, उसके अनुकूल बोले और सेठियों से कहे कि जो मन्दिर बनाकर और पंचकल्याणक महोत्सव करे वह आठ भव में मोक्ष जाता है- ऐसी खोटी प्ररूपणा करे, वह महंतता नहीं है। मन्दिर पर पदार्थ है। आत्मा उसे बना नहीं सकती, राग आवे वह पुण्य है; उससे मोक्ष नहीं होता। राग से एक भव भी कम नहीं होता। धन दान में देने से धर्म नहीं, राग मन्द करे तो पुण्य होता है। पुण्य का निषेध करके स्वभाव का भान करे तो धर्म होता है।

कोई कहता है कि पालीताणा (शुत्रंजय) की निन्यानवें यात्रा करे तो मोक्ष जाये; परन्तु लाख यात्रा करे तो धर्म हो-ऐसा नहीं है। उसमें भी राग मंद करे तो पुण्य है, धर्म नहीं। तथा परम्परा धर्म नहीं है। पुण्य से रहित आत्मा की दृष्टि किये बिना धर्म हो ऐसा नहीं हैं। अज्ञानी पर से धर्म मानता है, परन्तु यह बात सत्य नहीं है। तथा कितने ही शास्त्र पढ़कर पैसा मांगते हैं और परिवार को पैसा भेजते हैं। ब्रह्मचारी होकर पैसा मांगना योग्य नहीं है।

........यहाँ कोई कहे- निर्ग्रन्थ भी तो आहार लेते हैं?

उत्तरः- लोभी होकर, दातारकी सुश्रुषा करके, दीनतासे आहार नहीं लेते; इसलिये महंतता नहीं घटती। जो लोभी हो वही हीनता प्राप्त करता है। इसी प्रकार अन्य जीव जानना। इसलिये निर्ग्रन्थ ही सर्वप्रकार महंततायुक्त हैं; निर्ग्रन्थ सिवा अन्य जीव सर्वप्रकार गुणवान नहीं है; इसलिये गुणोंकी अपेक्षा महंतता और दोषोंकी अपेक्षा हीनता भासित होती है, तब निःशंक स्तुति नहीं की जा सकती।

तथा निर्ग्रन्थ सिवा अन्य जीव जैसा धर्म साधन करते हैं, वैसा व उससे अधिक धर्म साधन गृहस्थ भी कर सकते हैं; वहाँ गुरूसंज्ञा किसको होगी? इसलिये जो बाह्याभ्यन्तर परिग्रह रहित निर्ग्रन्थ मुनि हैं उन्हींको गुरू जानना.....।

प्रश्न :-निर्ग्रन्थ मुनि भी तो आहार लेते है?

उत्तर :- भावलिंगी मुनि प्रशंसा करके आहार नहीं लेते; दीनता पूर्वक आहार नहीं लेते- इस कारण उसकी मंहतता नहीं घटती। जो लोभी होकर मांगते हैं वे ही दीनता पाते हैं। इसी प्रकार अन्य जीव जानना। इसलिये भावलिंगी तथा बाह्य में निर्ग्रन्थ गुरू सर्वप्रकार से महंतता युक्त हैं; परन्तु निर्ग्रन्थ बिना अन्य जीव किसी भी प्रकार से गुणवान नहीं है।

गुणों की अपेक्षा से मंहतता और दोषों की अपेक्षा से दीनता है। कोई एक वचन बोले तो वहाँ दान में कई हजार रूपये इखट्टे हो जावे, उसमे महंतता नहीं है। पर के पास से पैसा निकलवाना इसके हाथ की बात नहीं है, राग के कारण पैसे नहीं निकलते। सम्यग्दर्शन पूर्वक वीतराग चारित्र की महंतता है। इतनी पाठशाला बनाई, इतने शिष्य बनाये, उसमे महंतता नहीं। पैसा आदि परद्रव्य है, आत्मा उसे रख नहीं सकता, खर्च नहीं कर सकता। अज्ञानी भी पर की अवस्था नहीं कर सकता। जड़ की क्रिया का स्वामी आत्मा नहीं है। पुण्य की अपेक्षा से महंतता नहीं है। गुण की अपेक्षा से महंतता है। कोई शिष्य आज्ञा न माने, शरीर काला हो, उससे हीनता नहीं है। हीनता तो दोष के कारण है। इस कारण दोष वाले की निशंक स्तुति भी नहीं की जा सकती।

तथा निर्ग्रन्थ के सिवाय अन्य जीव जैसा धर्म साधने करते हैं वैसा अथवा उससे अधिक धर्म साधन गृहस्थ भी कर सकते हैं तो वहाँ गुरू संज्ञा किसको हो? जिनके अन्दर

में तीन चौकड़ी कषाय का नाश हुआ है और जो निर्दोष आहार लेते हैं। जिन्होंने नवकोटि से पाप टाला है वे निर्ग्रन्थ मुनि हैं वे ही गुरू हैं। अट्ठाईस मूलगुणों का पालन बराबर होना चाहिये।

.......यहाँ कोई कहे- ऐसे गुरू तो वर्तमानमें यहाँ नहीं है, इसलिये जिस प्रकार अरहन्तकी स्थापना प्रतिमा है; उसी प्रकार गुरूओंकी स्थापना यह वेषधारी है ?

उत्तरः- जिस प्रकार राजाकी स्थापना चित्रादि द्वारा करे तो वह राजाका प्रतिपक्षी नहीं है, और कोई सामान्य मनुष्य अपनेको राजा मनाये तो राजाका प्रतिपक्षी होता है; उसी प्रकार अरहन्तादिककी पाषाणदिमें स्थापना बनाये तो उनका प्रतिपक्षी नहीं है, और कोई सामान्य मनुष्य अपनेको मुनि मनाये तो वह मुनियोंका प्रतिपक्षी हुआ। इस प्रकार भी स्थापना होती हो तो अपनेको अरहन्त भी मनाओ! और यदि उनकी स्थापना है तो बाह्यमें तो वैसा ही होना चाहिये; परन्तु वे निर्ग्रन्थ, यह बहुत परिग्रह धारी- यह कैसे बनता है......?

प्रश्नः- इस काल मे ऐसे गुरू तो यहाँ नहीं हैं, अतः जैसे अरहन्त की स्थापना प्रतिमा है; वैसे ही गुरू की स्थापना ये वेषधारी हैं? अर्थात् हजारों बार छठवाँ-सातवाँ गुणस्थान आवे और बाह्यलिंग यथार्थ हो, वैसे मुनि तो अभी देखने में नहीं आते, अतः वेषधारियों को गुरू माने तो क्या बाधा है?

उत्तरः- जैसे चित्रादि में राजा की स्थापना करे तो वह राजा का प्रतिपक्षी नहीं है; परन्तु कोई सामान्य मनुष्य अपने को राजा मनावे तो वह राजा का प्रतिपक्षी-बैरी हुआ; उसी प्रकार धातु में अथवा पाषाणादि में अरहन्त की स्थापना बनावे तो वहाँ उनका कोई प्रतिपक्षी नहीं है; परन्तु कोई सामान्य मनुष्य अपने को मुनि मनावे तो वह मुनियों का प्रतिपक्षी हुआ। निर्ग्रन्थ चारित्रवंत मुनि के लक्षण न होने पर भी जो मुनि नाम धरावे वह मुनि का बैरी हुआ। बाह्य-अभ्यंतर लक्षण नहीं होने पर भी जो मुनि नाम धरावे वह बैरी है। तथा इस प्रमाण ही स्थापना होती हो तो अपने को अरहन्त भी मनाओ। और यदि उनकी स्थापना है तो बाह्य से तो उस प्रकार ही होना चाहिये; परन्तु वे निर्ग्रन्थ और यह बहुत परिग्रह का धारक है वहाँ ऐसा किस प्रकार बने? प्रतिमा भी बाहर से समान होनी

चाहिये। मुनि तो निर्ग्रन्थ हैं जबकि वेषधारी तो घास का प्रयोग करते हैं, वस्त्र रखते हैं, बहुत परिग्रह के धारक हैं वहाँ ऐसा किस प्रकार बने ? आगम अनुसार अट्ठाईस मूलगुणों का पालन होना चाहिये। जिन वेषधारियों में अट्ठाईस मूलगूणों के पालन का ठिकाना नहीं है- वे मुनि नहीं हैं।

.........तथा कोई कहे- अब श्रावक भी तो जैसे सम्भव हैं वैसे नहीं हैं, इसलिए जैसे श्रावक वैसे मुनि?

उत्तरः- श्रावकसंज्ञा तो शास्त्रमें सर्व गृहस्थ जैनियोंकी है। श्रेणिक भी असंयमी था, उसे उत्तरपुराणमें श्रावकोत्तम कहा है। बारह सभाओंमें श्रावक कहे हैं वहाँ सर्व व्रतधारी नहीं थे। यदि सर्व व्रतधारी होते तो असंयत मनुष्योंकी अलग संख्या कही जाती, सो नहीं कही है; इसलिये गृहस्थ जैन श्रावक नाम प्राप्त करता है। और मुनिसंज्ञा तो निर्ग्रन्थ सिवा कहीं नहीं है।

तथा श्रावक के तो आठ मूलगुण कहे हैं। इसलिये मद्य, मांस, मधु, पाँच उदम्बरादि फलोंका भक्षण श्रावकोंके है नहीं; इसलिये किसी प्रकारसे श्रावकपना तो सम्भवित भी है; परन्तु मुनिके अट्ठाईस मूलगुण हैं सो वेषियोंके दिखायी ही नहीं देते, इसलिए मुनिपना किसी भी प्रकार सम्भव नहीं है। तथा गृहस्थ अवस्थामें तो पहले जम्बूकुमारादिकने बहुत हिंसादि कार्य किये सुने जाते हैं; मुनि होकर तो किसीने हिंसादिक कार्य किये नहीं हैं; परिग्रह रखा नहीं है; इसलिये ऐसी युक्ति कार्यकारी नहीं है।

देखो, आदिनाथजीके साथ चार हजार राजा दीक्षा लेकर पुनः भ्रष्ट हुए, तब देव उनसे कहने लगे- 'जिनलिंगी होकर अन्यथा प्रवर्तोगे तो हम दंड देंगे। जिनलिंग छोड़कर जो तुम्हारी इच्छा हो सो तुम जानो।' इसलिये जिनलिंगी कहलाकर अन्यथा प्रवर्ते, वे तो दंडयोग्य हैं; वंदनादि-योग्य कैसे होंगे ?

अब अधिक कहें! जिनमतमें कुवेष धारण करते हैं वे महापाप करते हैं; अन्य जीव जो उनकी सुश्रुषा आदि करते हैं वे भी पापी होते हैं । पद्मपुराणमें यह कथा है कि- श्रेष्ठी धर्मात्माने चारण मुनियोंको भ्रमसे भ्रष्ट जानकर आहार नहीं दिया; तब जो प्रत्यैक्ष भ्रष्ट हैं उन्हें दानादिक देना कैसे सम्भव है?

प्रश्नः- वर्तमान काल में श्रावक भी तो जैसे संभव है वैसे नहीं हैं, इसलिये जैसे

श्रावक वैसे मुनि "जैसा जोगी वैसी माला मनको की" ऐसा मान ले तो?

उत्तर:- शास्त्र में श्रावक संज्ञा तो सर्व गृहस्थ जैनों को है। राजा श्रेणिक असंयमी था फिर भी उसे उत्तरपुराण में उत्तम श्रावक कहा है। समवसरण की बारह सभा में श्रावक कहे वहाँ वे सब व्रतधारी नहीं थे। यदि वे व्रतधारी होते तो असंयमी मनुष्यों की संख्या अलग से कहते; परन्तु ऐसा कहा नहीं है। इसलिये गृहस्थ जैन तो श्रावक नाम पाता है; परन्तु मुनि संज्ञा तो अन्तर-बाह्य निर्ग्रन्थ दशा बिना कहीं नहीं कही है।

सम्यग्दृष्टि को व्रत नहीं है फिर भी वह श्रावक नाम पाता है। हाँ, इतना अवश्य है कि मध, मास, मधु और पंच उदम्बर फलों का भक्षण श्रावक को नहीं होता- इस कारण श्रावक के तो आठ मूलगुण कहे हैं। असंयमी होवे, तो भी उसमें श्रावकपना तो किसी प्रकार संभव है; परन्तु मुनि के अट्ठाईस मूलगुणों के बिना मुनिपना सम्भव नहीं होता। मुनि के वस्त्र रहितपना और खड़े-खड़े आहार होता है, एक मोरपिच्छी और कमण्डलु होता है, मन-वचन-काय और कृत कारित अनुमोदना ऐसे नवकोटि से हिंसादि का त्याग है। वर्तमान वेषधारियों में ये गुण देखने में नहीं आते, अतः उनमें मुनिपना संभव नहीं है।

तथा गृहस्थ अवस्था में तो पहले जम्बूकुमार आदि द्वारा बहुत हिंसादि कार्य किये सुने जाते हैं। समकिती के स्त्री सेवन अथवा अरबों रूपयां का व्यापार होने पर भी उससे उसका श्रावकपना नष्ट नहीं होता; परन्तु मुनि होकर हिंसादि कार्य नहीं किये, परिग्रह नहीं रखा। अतः मुनि होकर ऐसे कार्य करना संभव नहीं है। जो वस्त्र-पात्र रखे वह मुनि नहीं, बल्कि मुनि का विरोधी है। इसलिये ऐसी युक्ति कार्यकारी नहीं है। मुनि को (परिग्रह-हिंसादि का) नवकोटि से त्याग है, अतः मुनि की जाति ही अलग है।

देखो, श्री आदिनाथजी के साथ चार हजार राजाओं ने दीक्षा ली और बाद में भ्रष्ट हुए, तब देव उन्हें कहने लगे कि-नग्नदशा धारण करके कच्चा पानी, कंदमूल लोगे और अन्यथा प्रवर्तोगे तो हम दण्ड देंगे, जिनलिंग छोड़कर तुम्हारी इच्छा हो वैसा करो। अतः जो वीतरागी साधु कहलाकर अन्यथा प्रवर्ते वह तो दण्ड योग्य है, तब वह बंदनादि योग्य किस प्रकार हो? बहुत क्या कहे? जो मुनि होकर कुवेष धारण करते हैं वे महापाप उपजाते हैं, फिर भी (जो जीव) उन्हें साधु मानकर उनकी सेवा करते हैं वे पापी हैं। पद्मपुराण में एक कथा है कि कोई चारणमुनि कार्तिक कृष्ण एकम के दिन आये, इससे किसी श्रेष्ठि धर्मात्मा को शंका हुई कि इतनी पास में मुनि नहीं देखे तब ये एकाएक

चतुर्मास पूर्ण होते ही एक दिन में कहाँ से आये? ऐसी शंका होने से उन्हें आहार नहीं दिया। भ्रम से भ्रष्ट जानकर भी आहार नहीं दिया। तब जो प्रत्यक्ष भ्रष्ट, जिनके अट्ठाईस मूलगुण पालन का ठिकाना नहीं उनकी नवधा भक्ति करना और आहार दानादिक देना कैसे संभव है....?

.....यहाँ कोई कहे- हमारे अन्तरंगमें श्रद्धान तो सत्य है, परन्तु बाह्य लज्जादिसे शिष्टाचार करते हैं; सो फल तो अन्तरंगका होगा?

उत्तरः- षट्पाहुड़ में लज्जादिसे वन्दनादिका निषेध बतलाया था, वह पहले ही कहा था। कोई जबरदस्ती मस्तक झुकाकर हाथ जुड़वाये, तब तो यह सम्भव है कि हमारा अन्तरंग नहीं था; परन्तु आप ही मानादिकसे नमस्कारादि करे, वहाँ अन्तरंग कैसे न कहें ? जैसे- कोई अन्तरंगमें तो माँसको बुरा जाने; परन्तु राजादिकको भला मनवानेको माँस भक्षण करे तो उसे व्रती कैसे मानें? उसी प्रकार अन्तरंगमें तो कुगुरू सेवनको बुरा जाने; परन्तु उनको व लोगोंको भला मनवानेके लिये सेवन करे तो श्रद्धानी कैसे कहें? इसलिये बाह्यत्याग करने पर ही अन्तरंगत्याग सम्भव है। इसलिये जो श्रद्धानी जीव हैं, उन्हें किसी प्रकार से भी कुगुरूओंकी सुश्रुषा आदि करना योग्य नहीं है।

इस प्रकार कुगुरूसेवनका निषेध किया.........।

प्रश्नः- हमारे अन्तरंग में श्रद्धान तो सत्य है, परन्तु बाह्य लज्जादि से मात्र शिष्टाचार करते है, फल तो अन्तरंग का होगा। समाज, नात और परिवार से भिन्न पड़कर कहाँ जाना? अकेले हो उन्हें क्या करना? लोक का भय और लोक शिष्टाचार के कारण वंदन करना पड़ता है न?

उत्तर :- कुन्दकुन्दाचार्य देव ने अष्टपाहुड़ में दुनिया की प्रतिष्ठा और समाज के भय से वंदन का निषेध किया है। जिनके अट्ठाईस मूलगुण पालन का ठिकाना नहीं उनको वंदना संभव नहीं है। तथा कोई जबरदस्ती से मस्तक नवाकर हाथ जुड़ाता हो तब तो यह संभव है कि हमारा अन्तरंग नहीं था; परन्तु जहाँ स्वयं ही मानादिक से नमस्कार करे वहाँ अन्तरंग श्रद्धा कैसे न कही जाय? जो वस्त्रधारी मुनि नाम धरावे वह प्रत्यक्ष भ्रष्ट है। वस्त्रधारी निर्ग्रन्थ नाम धरावे वह भ्रष्ट है, उसका तो सवाल ही नहीं; परन्तु नग्न होवे,

फिर भी विधि प्रमाण आचरण न हो- उसे वंदन करना योग्य नहीं। (इसलिये) जहाँ मानादि से नमस्कारादि करे वहाँ अन्तरंग श्रद्धा कैसे नहीं कही जाये?

निमित्त और व्यवहार से धर्म होता है, जो ऐसी प्ररूपणा करे वह कुलिंगी है। मुनि के मन, वचन, काया को उपकरण कहा है। भगवान का विनय करे उसमें मन उपकरण है, और भगवान की स्तुति करे उसमें वचन को उपकरण कहा है- यह बात प्रवचनसार में की है। प्रवचनसार में चरणानुयोग चूलिका की गाथा- 225 की टीका में कहा है कि; इसमें जो अनिषिद्ध आदि अपवाद है वह सभी वास्तव में ऐसा ही है कि जो श्रामण्य पर्याय के सहकारी कारण के रूप में उपकार करने वाला होने से उपकरणभूत है, दूसरा नहीं। उसके विशेष (भेद) इस प्रकार है:-

(1) सर्व आहार्य रहित सहजरूप से अपेक्षित ऐसे (सर्व आहार्य रहित यथाजातरूपपने के कारण जो बहिरंग लिंग भूत है ऐसे काय पुद्‌गल;

(2) जिसका श्रवण किया जाता है ऐसे तत्काल बोधक गुरू द्वारा कहे जाने पर आत्मतत्त्व बोधक (आत्मतत्त्व को समझाने वाले- प्रकाशित करने वाले) सिद्ध उपदेशरूप वचन पुद्‌गल; (सफल, रामबाण, अमोध = अचुक; गुरू का उपदेश सिद्ध सफल रामबाण है) तथा

(3) जिनका अध्ययन किया जाता है ऐसे, नित्य बोधक, अनादि-निधन शुद्ध आत्मतत्त्व को प्रकाशित करने में समर्थ श्रुतज्ञान के साधनभूत शब्दात्मक सूत्र पुद्‌गल और

(4) शुद्ध आत्मतत्त्व को व्यक्त करने वाली जो दर्शनादिक पर्यायें, उनरूप से परिणमित पुरूष के प्रति विनीतता का अभिप्राय प्रवर्तित करने वाले चित्र पुद्‌गल। (अपवाद मार्ग में जिस उपकरणभूत उपाधि का निषेध नहीं है उसके उपरोक्त चार भेद हैं।)

यहाँ तात्पर्य यह है कि काया की भांति वचन और मन भी वस्तु धर्म नहीं है।

मन-वचन-काया अपवादिक उपकरण है, परन्तु किसके लिये ? जिसको आत्मा का भान है और जो व्यवहार सही पालता है उसके लिये मन-वचन-काय अपवादिक उपकरण है। परन्तु जिस मुनि की दृष्टि विपरीत है और व्यवहार में प्ररूपणा खोटी है उसके मन-वचन-काया में उपकरण निमित्तपने का आरोप नहीं आता। आत्मा मन-वचन-काया से भिन्न है- ऐसे आत्म भान वाले मुनि को शुभराग का विकल्प आता है, उसके चित्त (मन) निमित्त है। जिसको अन्तर का भान है उसको मन उपकरण कहने में आता है;

परन्तु जिसकी प्ररूपणा खोटी है उसको मन-वचन उपकरण निमित्त नहीं कहलाते।

जैसे कोई अन्तरंग में तो मांस को बुरा जानता है, परन्तु राजा को भला मनवाने के लिये मांसादि का भक्षण करे तो वह व्रती नहीं कहलाता, वह त्यागी नहीं है; उसी प्रकार कोई अपने अन्तरंग में तो कुगुरू सेवन को बुरा जानता है; परन्तु उसे तथा लोगों को भला मनवाने के लिये उसका सेवन करे तो उसे सच्चा श्रद्धानी किस प्रकार माने?

वीतरागमार्ग-अनादि का सनातन मार्ग सच्चा है। वस्त्र सहित मुनिपना मनावे वह मिथ्यादृष्टि है।

प्रश्नः- नंगे पैर चले, गर्म पानी पीवे, ब्रह्मचर्य पाले-इतना तो ठीक है न?

उत्तरः- बिगड़ा हुआ दूध फीकी छाछ से भी गया बीता है। बिगड़ा हुआ दूध छाछ की भांति खाने के काम नहीं आता। इसी प्रकार कुलिंगी साधु श्रावक से भी निम्न है, श्रावक तो धर्म के रास्ते पर (मोक्षमार्गी) है। विरूद्ध स्वरूप वाले साधु को मानने से नुकसान होता है, इसलिये उसे मानने वाले को सच्चा श्रद्धानी नहीं कहते।

गृहस्थ निर्ग्रन्थपने की भावना भा सकते हैं; परन्तु वस्त्र सहित निर्ग्रन्थपना नहीं हो सकता। इस कारण जो श्रद्धान सहित जीव हैं उन्हें तो किसी प्रकार से भी कुगुरूओं की सेवा-सुश्रुषा आदि करना योग्य नहीं है। इस प्रकार कुगुरू सेवन का निषेध किया।

.........यहाँ कोई कहे- किसी तत्त्वश्रद्धानीको कुगुरूसेवनसे मिथ्यात्व कैसे हुआ ?

उत्तरः- जिस प्रकार शीलवती स्त्री परपुरूषके साथ भर्तारकी भाँति रमणक्रिया सर्वथा नहीं करती; उसी प्रकार तत्त्वश्रद्धानी पुरूष कुगुरूके साथ सुगुरूकी भाँति नमस्कारादि क्रिया सर्वथा नहीं करता। क्योंकि यह तो जीवादि तत्त्वों श्रद्धानी हुआ है- वहाँ रागादिकका निषेध करनेवाला श्रद्धान करता है, वीतरागभावको श्रेष्ठ मानता है- इसलिये जिसके वीतरागता पायी जाये, उन्हीं गुरूको उत्तम जानकर नमस्कारादि करता है; जिनके रागादिक पाये जायें, उन्हें निषिद्ध जानकर कदापि नमस्कारादि नहीं करता....।

प्रश्नः- किसी तत्व श्रद्धानी को इस कुगुरू सेवन से मिथ्यात्व किस प्रकार होगा?

उत्तरः- जैसे शीलवती स्त्री अपने पति के सिवाय परपुरूष के साथ रमण क्रिया सर्वथा नहीं करती, उसी प्रकार समकिती पुरूष अपने सुगुरू के समान कुगुरू को

नमस्कारादि क्रिया सर्वथा नहीं करता। धर्मात्मा कुगुरू को नमस्कार नहीं करता, कुगुरू को नमस्कार करने से सम्यग्दर्शन में अतिचार लगता है। धर्मात्मा को सात तत्त्वों की निर्मल श्रद्धा हुई है। वह जीव को ज्ञायकरूप जानता है, अजीव को अजीव जानता है, अशुद्धता को आस्रव जानता है, आंशिक शुद्धता को संवर-निर्जरा जानता है और पूर्ण शुद्धता को मोक्ष जानता है। इस प्रकार सात तत्त्वों को यथार्थ जानता है। अनंत जीव तथा अनंत परमाणु भिन्न-भिन्न है- ऐसा स्वीकार करता है। पाप को पाप मानता है। मिथ्यादृष्टि अकेले आत्मा की बात करे उससे वह समकिती नहीं हो सकता। ज्ञानी अकेला जीव नहीं; परन्तु सात तत्त्वों को प्रथक्-प्रथक् मानता है। जीव से अजीव नहीं, आस्रव से संवर नहीं- ऐसे पृथक् मानता है। तथा वहाँ रागभाव का निषेध करने वाला श्रद्धान करता है। समकिती को पुण्य-पाप भाव होते हैं, यदि पुण्य-पाप भाव न होवे तो केवली हो जाये; परन्तु अपूर्ण दशा में पुण्य-पाप भाव होते हैं उन्हें हेय मानता है और स्वभाव के अवलम्बन से वीतरागभाव को श्रेष्ठ मानता है; इसलिए जिनको वीतरागी श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र हुए हैं उन गुरू को वंदन करता है और वैसे गुरू की सेवा करता है। जिनमें मिथ्यात्वादिक भाव पड़े हैं उन्हें गुरू अथवा साधु मानकर नमस्कारादि कभी नहीं करता।

.......कोई कहे- जिस प्रकार राजादिकको करता है; उसी प्रकार इनको भी करता है?

उत्तरः- राजादिक धर्मपद्धतिमें नहीं हैं, गुरूका सेवन तो धर्मपद्धतिमें है। राजादिकका सेवन तो लोभादिकसे होता है, वहाँ चारित्रमोहका ही उदय सम्भव है; परन्तु गुरूके स्थान पर कुगुरूका सेवन किया, वहाँ तत्त्वश्रद्धानके कारण तो गुरू थे, उनसे यह प्रतिकूल हुआ। सो लज्जादिकसे जिसने कारण में विपरीतता उत्पन्न की उसके कार्यभूत तत्त्वश्रद्धानमें दृढ़ता कैसे सम्भव है? इसलिये वहाँ दर्शनमोहका उदय सम्भव है।

इस प्रकार कुगुरूओंका निरूपण किया.....।

प्रश्नः- बड़ा राजा मिथ्यादृष्टि होवे और दीवान या गृहस्थ समकिती होवे तो वह राजा को नमस्कार करता है, उसी प्रकार हम भी करते हैं?

उत्तरः- ऐसी दलील करके अज्ञानी को अपने सम्प्रदाय की विपरीत मान्यता रखकर(साधुपना) रखना है। माता-पिता, राजादि कोई धर्म पद्धति में नहीं हैं, जबकि

गुरू का सेवन तो धर्म परम्परा में है। राजा मांसाहारी होवे और प्रजाजन (उसे) आवकार (सन्मान) दे, उससे क्या हुआ, वह तो राग का दोष है, श्रद्धा का दोष नहीं। राजा को वंदन करने का भाव अशुभभाव है, वह चारित्र का दोष है, मिथ्यात्व का दोष नहीं; परन्तु कुगुरू को वंदन करने में मिथ्यात्व का दोष है।

कुदेव-कुगुरू और कुधर्म के सेवन को गृहीत मिथ्यात्व कहते हैं, उसको अगृहीत मिथ्यात्व तो होता ही है। यहाँ तो गुरू की बात चल रही है। अन्तर के भान सहित चारित्र दशा वाले को मुनि कहते हैं। तथा बाह्य-अभ्यंतर निर्ग्रन्थपना होवे- यही एक मुनि मार्ग है।

यदि ऐसे मुनि नहीं हैं और जो चारित्र में दोष लगाते हैं उनको नमस्कार करने में क्या दोष है ?

ऐसा यहाँ प्रश्न पूछा है। वीतराग मार्ग में वस्त्र-पात्र भी पैसे की भांति परिग्रह है- ऐसे परिग्रह से रहित मुनि को मुनि कहने में आता है। मुनि जन्मते शिशुवत नग्न होना चाहिये। जो आनन्द के अमृत का अनुभव- सिद्ध जैसे अतीन्द्रिय आनन्द का आंशिक अनुभव करते हों और बाह्य द्रव्यलिंग यथार्थ हो- वे सच्चे मुनि हैं; उनके सिवाय अन्य को नमस्कार करने में क्या बाधा है- ऐसा प्रश्न शिष्य ने किया हैं।

समाधानः- गुरू का सेवन तो धर्म पद्धति में है। वीतराग मार्ग में वस्त्र सहित मुनिपना नहीं होता। मुनि यथाजात होना चाहिये। जिन्हें मिथ्यात्व सहित तीन कषायों-अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान और प्रत्याख्यान का नाश होता है। अर्थात् अकषायी आनन्ददशा आती है। (वे मुनि हैं)। ''हे मुनि ! तेरे चरण कमल में मेरा नमस्कार,'' गणधर भी नमस्कार मंत्र बोलते समय ऐसा बोलते हैं वे मुनि शौच के लिये कमण्डलु में पानी रखते हैं और मोर पिच्छी रखते हैं-यह एक ही मार्ग हैं। (अभी) महाविदेहक्षेत्र में यह एक ही मूलमार्ग चल रहा हैं।

आत्मज्ञानी गृहस्थ को आत्मा का भान है। शरीर, मन, वाणी जड़ है, आत्मा उनसे भिन्न है- इस प्रकार वह आत्मा का अनुभव करता है। वह आत्मज्ञानी गृहस्थ नौकरी के लिये मिथ्यादृष्टि राजा के पास जावे और नमस्कार करे- वह चारित्र का दोष है, मिथ्यात्व का दोष नहीं; परन्तु जिनके व्यवहार का भी ठिकाना नहीं है, जो छियालीस दोष रहित आहार नहीं लेते, सदोष आहार लेते हैं उनको गुरू मानकर नमस्कार करने में श्रद्धा का दोष है।

कुन्दकुन्दाचार्य देव आठ दिन तक महाविदेहक्षेत्र में धर्मदेशना सुनकर आये, पश्चात् उन्होंने समयसारादि ग्रन्थों की रचना की है। उनसे विरूद्ध गुरू को मानना- वह श्रद्धा का दोष हैं। भगवान महावीर के छह सौ वर्ष बाद दुष्काल के समय श्वेताम्बर निकले और पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व स्थानकवासी निकले तथा दो सौ वर्ष पूर्व तेरापंथी स्थानकवासी निकले। इसलिये वीतराग मार्ग से विरूद्ध मुनि को मुनि मानना और नमस्कार करना- वह श्रद्धा का दोष है। मुनि सिंह समान है, केवलज्ञान लेने की तैयारी वाले हैं- ऐसे साधु होते हैं। उनके सिवाय अन्य को मुनि मानना श्रद्धा का दोष है। मुनि का विपरीत स्वरूप मानने वाले को तत्वश्रद्धान नहीं हो सकता।

लज्जा के कारण कुछ लोगों ने सत्य से विपरीत मार्ग चलाया है। विरूद्ध प्ररूपणा करने वाले को संत मानना, पांचवें परमेष्ठी पद में अर्थात् साधुपद में मिलाना- वह तत्व से विरूद्ध है। उन्हें मानने वाला गुरू का बैरी हुआ। जिसने कारण में विपरीतता उत्पन्न की उसके कार्य में भी विपरीतता वर्तती है, अर्थात् उसको तत्व श्रद्धान नहीं होता। इसलिये उसके मिथ्यात्व रहता है। वस्त्र सहित मुनिपना मानना-मनवाना और उसके शास्त्रों को मानना वह मिथ्यात्व का पोषण है। दो हजार वर्ष पहले श्वेताम्बर निकले, वे पैंतालीस शास्त्रों के रचने वाले हैं। वे शास्त्र त्रिलोकनाथ की वाणी के अनुसार नहीं हैं। त्रिलोकनाथ की वाणी अन्य थी। आचारांग आदि अंगों का विच्छेद हुआ था। फिर आचार्य कुन्दकुन्द ने अनुभव सहित समयसार, अष्टपाहुड़ आदि बनाये वे सत्शास्त्र है।

इस प्रकार कुगुरूओं का निरूपण हुआ।

कुधर्म का निरूपण और उसके श्रद्धानादि का निषेधः-

....अब कुधर्म का निरूपण करते है :-

जहाँ हिंसादि पाप उत्पन्न हों व विषय-कषायोंकी वृद्धि हो वहाँ धर्म माने; सो कुधर्म जानना। यज्ञादिक क्रियाओंमें महाहिंसादिक उत्पन्न करे, बड़े जीवोंका घात करे और इन्द्रियोंके विषय-पोषण करे, उन जीवोंमें दुष्टबुद्धि करके रौद्रध्यानी हो, तीव्र लोभसे औरोंका बुरा करके अपना कोई प्रयोजन चाहे; और ऐसे कार्य करके वहाँ धर्म माने; सो कुधर्म है।

तथा तीर्थोंमें व अन्यत्र स्नानादि कार्य करे, वहाँ बड़े-छोटे बहुतसे जीवोंकी हिंसा होती है, शरीरको चैन मिलता है; इसलिये विषय-पोषण

होता है और कामादिक बढ़ते हैं; कुतूहलादिसे वहाँ कषायभाव बढ़ाता है और धर्म मानता है; सो यह कुधर्म है।

तथा संक्रान्ति, ग्रहण, व्यतिपातादिकमें दान देता है व बुरे ग्रहादिके अर्थ दान देता है; पात्र जानकर लोभी पुरूषोंको दान देता है; दान देनेमें सुवर्ण, हस्ती, घोड़ा, तिल आदि वस्तुओंको देता है। परन्तु संक्रान्ति आदि पर्व धर्मरूप नहीं है, ज्योतिषीके संचारादिक द्वारा संक्रान्ति आदि होते हैं। तथा दुष्ट ग्रहादिके अर्थ दिया-वहाँ भय, लोभादिककी अधिकता हुई, इसलिये वहाँ दान देनेमें धर्म नहीं है। तथा लोभी पुरूष देने योग्य पात्र नहीं है, क्योंकि लोभी नाना असत्य युक्तियाँ करके ठगते हैं, किंचित् भला नहीं करते। भला तो तब होता है जब इसके दानकी सहायता से वह ध र्म साधन करें; परन्तु वह तो उल्टा पापरूप प्रवर्तता है। पापके सहायकका भला कैसे होगा?

यही "'रयणसार" शास्त्रमें कहा है:-

सप्पुरिसाणं दाणं कप्पतरूणं फलाणं सोहं वा।
लोहीणं दाणं दइ विमाणसोहा सवस्स जाणेह ।। 26 ।।

अर्थः- सत्पुरूषोंको दान देना कल्पवृक्षोंके फलोंकी शोभा समान है। शोभा भी है और सुखदायक भी है। तथा लोभी पुरूषों को दान देना होता है सो शव अर्थात् मुर्देकी ठठरीकी शोभा समान जानना। शोभा तो होती है परन्तु मालिकको परम दुःखदायक होती है; इसलिये लोभी पुरूषोंको दान देने में धर्म नहीं है।

तथा द्रव्य तो ऐसा देना चाहिये जिससे उसके धर्म बढ़े; परन्तु स्वर्ण, हस्ती आदि देनेसे तो हिंसादिक उत्पन्न होते हैं और मान-लोभादिक बढ़ते हैं उससे महापाप होता है। ऐसी वस्तुओंको देनेवालेके पुण्य कैसे होगा?

तथा विषयासक्त जीव रतिदानादिकमें पुण्य ठहराते हैं; परन्तु जहाँ प्रत्यक्ष कुशीलादि पाप हों वहाँ पुण्य कैसे होगा? तथा युक्ति मिलानेको कहते हैं कि वह स्त्री सन्तोष प्राप्त करती है। सो स्त्री तो विषय-सेवन करनेसे सुख पाती ही है, शीलका उपदेश किसलिये दिया? रतिकालके

अतिरिक्त भी उसके मनोरथ न प्रवर्ते तो दुःख पाती है; सो ऐसी असत्य युक्ति बनाकर विषय-पोषण करनेका उपदेश देते हैं।

इसी प्रकार दया-दान व पात्र-दानके सिवा अन्य दान देकर धर्म मानना सर्व कुधर्म है।

तथा व्रतादिक करके वहाँ हिंसादिक व विषयादिक बढ़ाते हैं; परन्तु व्रतादिक तो उन्हें घटानेके अर्थ किये जाते हैं। तथा जहाँ अन्नका तो त्याग करे और कंदमूलादिका भक्षण करे वहाँ हिंसा विशेष हुई, स्वादादिक विशेष हुए।

तथा दिनमें तो भोजन करता नहीं है और रात्रिमें भोजन करता है; वहाँ प्रत्यक्ष ही दिन-भोजनसे रात्रि-भोजनमें विशेष हिंसा भासित होती है, प्रमाद विशेष होता है।

तथा व्रतादिक करके नाना श्रृंगार बनाता है, कुतूहल करता है, जुआ आदिरूप प्रवर्तता है-इत्यादि पापक्रिया करता है; तथा व्रतादिकका फल लौकिक इष्टकी प्राप्ति, अनिष्टके नाशको चाहता है; वहाँ कषायोंकी तीव्रता विशेष हुई।

इस प्रकार व्रतादिकसे धर्म मानता है सो कुधर्म है।

तथा कोई भक्ति आदि कार्योंमें हिंसादिक पाप बढ़ाते हैं; गीत-नृत्यगानादिक व इष्ट भोजनादिक व अन्य सामग्रियों द्वारा विषयोंका पोषण करते हैं; कुतूहल प्रमादादिरूप प्रवर्तते हैं- वहाँ पाप तो बहुत उत्पन्न करते हैं और धर्मका किंचित् साधन नहीं है। वहाँ धर्म मानते हैं सो सब कुधर्म है।

तथा कितने ही शरीरको तो क्लेश उत्पन्न करते हैं, और वहाँ हिंसादिक उत्पन्न करते हैं व कषायादिरूप प्रवर्तते हैं। जैसे पंचाग्नि तपते हैं, सो अग्निसे बड़े-छोटे जीव जलते हैं, हिंसादिक बढ़ते हैं, इसमें धर्म क्या हुआ? तथा औंधे मुँह झूलते हैं, ऊर्ध्वबाहु रखते हैं।- इत्यादि साधन करते हैं, वहाँ क्लेश ही होता है। यह कुछ धर्मके अंग नहीं है।

तथा पवन-साधन करते हैं वहाँ नेती, धोती इत्यादि कार्योंमें जलादिकसे हिंसादिक उत्पन्न होते हैं; कोई चमत्कार उत्पन्न हो तो उससे मानादिक

बढ़ते हैं; वहाँ किंचित् धर्मसाधन नहीं है।- इत्यादिक क्लेश तो करते हैं, विषय-कषाय घटानेका कोई साधन नहीं करते। अन्तरंगमें क्रोध, मान, माया, लोभका अभिप्राय है; वृथा क्लेश करके धर्म मानते हैं सो कुधर्म है।

तथा कितने ही इस लोकमें दुःख सहन न होनेसे व परलोकमें इष्टकी इच्छा व अपनी पूजा बढ़ाने के अर्थ व किसी क्रोधादिकसे आपघात करते हैं। जैसे-पतिवियोगसे अग्निमें जलकर सती कहलाती है, व हिमालयमें गलते हैं, काशीमें करौंत लेते हैं, जीवित मरण लेते हैं- इत्यादि कार्योंसे धर्म मानते हैं; परन्तु आपघातका तो महान पाप है। यदि शरीरादिकसे अनुराग घटा था तो तपश्चरणादि करना था, मर जानेमें कौन धर्म का अंग हुआ? इसलिये आपघात करना कुधर्म है।

इसी प्रकार अन्य भी बहुतसे कुधर्मके अंग हैं। कहाँ तक कहें, जहाँ विषय-कषाय बढ़ते हों और धर्म मानें सो सब कुधर्म जानना।

देखो, कालका दोष, जैनधर्ममें भी कुधर्मकी प्रवृत्ति हो गयी है। जैनमतमें जो धर्म-पर्व कहे हैं वहाँ तो विषय-कषाय छोड़कर संयमरूप प्रवर्तना योग्य है। उसे तो ग्रहण नहीं करते और व्रतादिकका नाम धारण करके वहाँ नाना श्रृंगार बनाते हैं, इष्ट भोजनादि करते हैं, कुतूहलादि करते हैं व कषाय बढ़ानेके कार्य करते हैं, जुआ इत्यादि महान पापरूप प्रवर्तते हैं।

तथा पूजनादि कार्योंमें उपदेश तो यह था कि- "सावद्यलेशो बहुपुण्यराशौ दोषायनालं" बहुत पुण्यसमूहमें पापका अंश दोषके अर्थ नहीं है। इस छल द्वारा पूजा-प्रभावनादि कार्योंमें- रात्रिमें दीपकसे, व अनन्तकायादिकके संग्रह द्वारा व अयत्नाचार प्रवृत्तिसे हिंसादिरूप पाप तो बहुत उत्पन्न करते हैं और स्तुति, भक्ति आदि शुभपरिणामोंमें नहीं प्रवर्तते व थोड़े प्रवर्तते हैं; सो वहाँ नुकसान बहुत, नफा थोड़ा या कुछ नहीं। ऐसे कार्य करनेमें तो बुरा ही दिखना होता है।

तथा जिनमन्दिर तो धर्मका ठिकाना है। वहाँ नाना कुकथा करना, सोना इत्यादि प्रमादरूप प्रवर्तते हैं; तथा वहाँ बाग-बाड़ी इत्यादि बनाकर

विषय-कषायका पोषण करते हैं। तथा लोभी पुरूषको गुरू मानकर दानादिक देते हैं व उनकी असत्य स्तुति करके महंतपना मानते हैं।- इत्यादि प्रकार से विषय-कषायोंको तो बढ़ाते हैं और धर्म मानते हैं; परन्तु जिनधर्म तो वीतरागभावरूप है, उसमें ऐसी विपरीत प्रवृत्ति कालदोषसे ही देखी जाती है।

इस प्रकार कुधर्मसेवनका निषेध किया....।

त्रिलोकनाथ भगवान को आहारादि मानना- वह कुदेव का स्वरूप है। वस्त्र-पात्र सहित मुनिपना मानना- वह कुगुरू का स्वरूप है। राग रहित अहिंसा से विरूद्ध (धर्म) मानना-वह कुधर्म का स्वरूप है।

आत्मा के परिणाम में जो हिंसा के परिणाम होवे वे कषाय हैं। भगवान की भक्ति के, दया के परिणाम तथा एकेन्द्रिय आदि को मारने के हिंसा के भाव होवें- वह कषाय हैं। एक शुभ कषाय है और एक अशुभ कषाय है। तीव्र कषाय के परिणामों में पुण्य अथवा धर्म मानना कुधर्म है।

आत्मा परद्रव्य की क्रिया नहीं कर सकता। यह आत्मा अन्य जीव की दया पाल सकता है- ऐसा मानना मिथ्यात्व है। आत्मा पर की क्रिया कर सकता है- ऐसा मानने वाला, ईश्वर को जगत का कर्ता मानने वाले की भांति मिथ्यादृष्टि है। यहाँ पर क्रिया की बात नहीं हैं, परिणाम की बात है।

जहाँ विषय-कषायों की वृद्धि हो वहाँ धर्म मानना कुधर्म है। यज्ञादि क्रियाओं में महाहिंसा उपजावे, बड़े जीवों का घात करे, वहाँ इन्द्रियों के विषयों का पोषण करे, उन जीवों के प्रति दुष्ट बुद्धि करके रौद्रध्यानी हो, तीव्र लोभ से अन्य का बुरा करके अपना कोई प्रयोजन साधना चाहे और ऐसे कार्य करके वहाँ धर्म माने, वह सर्व कुधर्म है। जिसे चिदानन्द आत्मा की खबर नहीं, पुण्य-पाप विकार है, शरीरादि अजीव है- ऐसी भिन्नता की खबर नहीं और विषय-कषाय आदि में धर्म मानता है वह कुधर्म है। तथा तीर्थस्थान व अन्य जगह स्नानादि कार्य करे, मेरे परिणाम तीव्र है या मंद हैं- यह पता नहीं; और उन परिणामों रहित मेरा स्वभाव चिदानन्द है- ऐसी खबर नहीं और स्नानादिक करके छोटे-मोटे बहुत जीवों की हिंसा होती हैं, अपने शरीर को सुख मिलता है, विषय पोषण होता है, इसलिये कामादिक बढ़ते हैं; कुतूहलादि द्वारा वहाँ कषाय भाव बढ़ाता है और धर्म मानता हैं; सो भी कुधर्म हैं।

तथा संक्रान्ति में दान देकर धर्म मानता है, और व्यतिपातादि में दान देता है, ग्रहण समय दान देकर धर्म मानता है; वह अधर्म है। हमारे शनि की दशा बैठी है- ऐसा माने तो मिथ्यात्व है। पात्र जानकर लोभी पुरूषों को भी दान देता है। दान में सोना, हाथी, घोड़ा और तिल आदि वस्तुयें देता हैं। परन्तु संक्रान्ति आदि पर्व कोई धर्मरूप नहीं है, मात्र ज्योंतिषी के संचारादि गमनागमन द्वारा संक्रान्ति आदि होते हैं। तथा दुष्ट ग्रहादि के लिये दिया- वहाँ भय, लोभादिक की अधिकता हुई, इसलिये वहाँ दान देने में धर्म नहीं है। आत्मा का भान करना- वह निश्चय धर्म है- ऐसी दृष्टि हो तो शुभभाव व्यवहार धर्म है।

तथा लोभी पुरूष दान देने योग्य पात्र नहीं है। कारण कि लोभी अनेक प्रकार की असत्य युक्तियों से ठगते हैं, परन्तु कुछ भला नहीं करते। भला तो तब ही होता है जब वह पात्र दान की सहायता से धर्म साधैं।

जो अतीन्द्रिय आनन्द स्वरूप, मन-वाणी-देह से पार अपने स्वरूप को साधै, वह साधु है। मैं चिदानन्द हूँ, देह-मन-वाणी पुद्गल है, दया-दानादिक मंद विकार हैं, हिंसादि तीव्र विकार हैं- इनसे रहित आत्मा के भान वाले को धर्म होता है, जिसे ऐसी खबर नहीं है; परन्तु उल्टे पापरूप प्रवर्तता है अब पाप के सहायक का भला किस प्रकार होवे?

श्री रयणसार शास्त्र में भी कहा है किः-

मुनि उत्कृष्ट पात्र हैं, समकिती जघन्यपात्र है- वैसे सत्पुरूषों को दान देना कल्पवृक्षों के फलों की शोभा समान है और सुखदायक है। तथा लोभी पुरूषों को दान देना शव अर्थात् मुर्दे की ठठरी की शोभा समान जानना। शोभा तो होती है, परन्तु मालिक को परम दुःखदायक होती है; इसलिये लोभी पुरूषों को दान देने मे धर्म नहीं है।

तथा द्रव्य तो ऐसा देना चाहिये जिससे उसके धर्म बढ़े, परन्तु स्वर्ण, हाथी आदि देने से तो हिंसादि उत्पन्न होते हैं और मान-लोभादिक बढ़ते हैं, उससे महापाप होता है। अतः ऐसी वस्तुयें देने वाले को पुण्य कहाँ से हो? आत्मा के भान रहित लोभी को (दान) देने से पाप हैं; सच्चे पात्र को दान दे तो भी पुण्य हैं, धर्म नहीं।

तथा अज्ञानी जीव विषय कषाय पोषने को रति दानादि में भी पुण्य ठहराते हैं; परन्तु प्रत्यक्ष कुशीलादि पाप जहाँ हो, वहाँ पुण्य किस प्रकार होगा? कोई कन्यादान देने में पुण्य मानता है। युक्ति मिलाने को वह कहता है कि वह स्त्री सुख पाती है, सो स्त्री तो विषय-सेवन करने से सुख पाती है, शील का उपेदश किसलिये दिया? रति समय

बिना भी उसके मनोरथ अनुसार न प्रवर्ते तो वह दुःख पाती हैं। सो ऐसी असत् युक्तियाँ बनाकर विषय-पोषण करने का उपेदेश देते हैं।

इस प्रकार दया-दान व पात्र-दान के सिवा अन्य पदार्थों का दान देकर धर्म मानना- वह सब कुधर्म हैं। तथा कोई व्रती नाम धराकर हिंसादिक और विषयादिक बढ़ाते हैं, परन्तु व्रतादि तो हिंसा और विषय आदि घटाने के लिये हैं। आत्मा के भान वाले को व्रत होते हैं। जो आनन्द में लीन होता हो और जिसके वह अतीन्द्रिय आनन्द बढ़ता हो उसके व्रत होते हैं-ऐसा नहीं जानता, उल्टे हिंसा में प्रवर्तता हैं।

जहाँ अन्न का तो त्याग हो, परन्तु शकरकन्द खाये, कंदमूल खाये तो वहाँ हिंसा विशेष हैं। तथा आलू आदि खाने में स्वाद की विशेषता हुई- वह उपवास नहीं कहलाता। तथा कोई जीव दिन में तो नहीं खाता और रात्रि में भोजन करता है। अब दिन के भोजन की अपेक्षा रात्रि के भोजन में विशेष हिंसा प्रत्यक्ष दिखती है व प्रमाद होता है।

तथा कोई व्रत लेता है और नये कपड़े पहिनता है, कुतूहल करता है। आहार छूटना तो जड़ की क्रिया है। मेरे से आहार छूटता है- ऐसा मानने वाले अजीव की क्रिया जीव से हुई मानते हैं; उनके व्रत नहीं होते। उपवास करके चौपड़ आदि खेलते हैं; अनेक पापरूप प्रवर्तते हैं। उपवास करके लौकिक फल चाहता है, प्रतिकुलता को दूर करना चाहता है। वहाँ तो मात्र कषाय की ही तीव्रता हुई। व्रत नहीं होने पर भी व्रत मानता हैं- वह अधर्म है।

तथा कोई भक्ति आदि कार्यों में हिंसादि पाप बढ़ाते हैं। गीत-नृत्यादिक, इष्ट भोजनादिक व अन्य सामग्री द्वारा विषयों का पोषण करते हैं। कुतुहल-प्रमादादि रूप प्रवर्त्तते हैं; वहाँ पाप तो बहुत उत्पन्न करते हैं और धर्म का किचिंत् साधन नहीं हैं। तो भी वहाँ धर्म माने वह सब कुधर्म है। शुभभाव करे तो पुण्य हं, परन्तु बाह्य क्रिया से पुण्य मानता है। अपने परिणाम कैसे हैं- यह पता नहीं है। राग की मंदता को नहीं पहिचानता, तीव्र कषाय को पुण्य मानता है, पुण्य को धर्म मानता है- ये सब मान्यतायें अधर्म है।

तथा कोई शरीर को तो क्लेश उत्पन्न करते हैं, और वहाँ हिंसादि उत्पन्न करते हैं, कषायादिरूप प्रवर्त्तते हैं। जैसे कोई पंचाग्नि तपते हैं, सो वहाँ अग्नि से छोटे-बड़े जीव जलते हैं उससे हिंसादि बढ़ते हैं, इसमें धर्म क्या हुआ? कोई औंधे मुंह झूलते हैं, बारह वर्ष तक खड़े रहते हैं- खड़े-खड़े ही सोते हैं; परन्तु आत्मा किसे कहते हैं, पुण्य किसे कहते हैं? इत्यादि

तत्त्व के भान बिना ऐसी क्रिया से क्लेश होता है। इसलिए ये कोई धर्म के अंग नहीं हैं। नवतत्त्व के भानपूर्वक राग नहीं घटाकर मात्र बाह्य क्रिया मे धर्म मानना कुधर्म हैं।

तथा कोई पवन साधना करते हैं, वहाँ नेती, धोती आदि कार्यों में जलादिक से हिंसादि उत्पन्न होते हैं; कोई चमत्कार वहाँ उत्पन्न हो, परन्तु धर्म साधन नहीं है- इस प्रकार अनेक प्रकार के क्लेशों को करते हैं। वे अन्दर में स्वभाव की दृष्टि और लीनता पूर्वक राग नहीं घटाते। चिदानन्द आत्मा का भान और लीनता नहीं करते- इसकारण व्यर्थ क्लेश किया करके वहाँ धर्म मानते हैं, परन्तु वह कुधर्म है। वहाँ जीव एक समय मात्र कषाय रहित नहीं होता। मैं शरीर-मन-वाणी को चला सकता हूँ, मैं बोल सकता हूँ, जो ऐसा मानकर अजीव को जीव मानता हैं उसके कषाय नहीं घटती। कषायभाव में कोमलता नहीं होती। कषाय की तीव्रता को पुण्य मानता हैं। दया, दानादि मंदराग है पुण्य है, उस पुण्य को धर्म मानता है। इस प्रकार अनन्तानुबंधी कषाय करता है। मैं यह छोड़ू- ऐसा अभिप्राय मिथ्यादृष्टि का है। यह आत्मा आनन्दकंद है- ऐसी श्रद्धा करने पर मिथ्याभ्रान्ति का नाश होता हैं और स्वरूप में ठहरने-स्थिरता करने पर राग की उत्पत्ति नहीं होती। राग को छोड़ू- यह भी पर्यायबुद्धि है, तो फिर रूपी पदार्थ को छोड़ू- यह तो मिथ्या अभिप्राय है ही। परपदार्थ को छोड़ने की मान्यता वाले को पर के प्रति द्वेष वर्तता है।

हमको इतना करना पड़ता हैं, पर्व के दिनों में उपवास नहीं करेगें तो श्रावक नहीं कहलायेंगे- इस प्रकार यह मान का सेवन करता है। जीव-अजीव- ये दो द्रव्य हैं और पुण्य-पाप, आस्रव, बंध मलिन अवस्थायें हैं तथा संवर, निर्जरा, मोक्ष निर्मल अवस्थायें हैं। द्रव्य कौन है? मलिन और निर्मल पर्यायें क्या हैं? जिसे इसका पता नहीं, उस जीव को धर्म नहीं होता।

तथा कोई इस लोक में दुःख सहन न होने से, पर लोक में इष्ट की इच्छा से बाह्य क्रिया करता है। यहाँ द्रव्य चारित्र पालन करूँगा तो परलोक में पैसा मिलेगा, देव होऊँगा और महाविदेह में जाऊँगा तथा वहाँ भगवान के पास समकित प्राप्त करूँगा- ऐसा अज्ञानी जीव कहता है। वे बड़ी प्रतिज्ञा लेकर भंग करते हैं। स्वभाव क्या है? उसकी खबर नहीं और जगत में पूजा, मान बढ़ाने हेतु प्रर्वतता है। पंचपरमेष्ठी में शामिल हों- ऐसे सच्चे मुनि होते हैं, वह परमेश्वर पद है। लोगों ने (सत्य बात को)सुना नहीं है। छठवीं-सातवीं भूमिकावाले और बाह्य में यथार्थ आचरण वाले मुनि होते हैं- उसको लोगों को खबर नहीं

है। अभी तो सत्य श्रद्धा का भी ठिकाना नहीं है। जिसको समकित नहीं है उसको गहरे-गहरें (अभिप्राय में) पर की इच्छा हैं।

आत्मानुशासन में लिखा हैं कि आत्मा पूर्णानन्द है, उसकी अविकारी सच्ची दृष्टि बिना व्रत-तप करता है वह बाह्य दाह से करता है, उसे बाह्य की आशा पड़ी है। जहाँ द्रव्य अथवा द्रव्य के गुण अथवा गुणों की महत्ता का जिस जीव को तथारूप भान नहीं हैं वह जीव किसी भी इच्छा की दाह में ही बाह्य तप, संयमादि में लगता है-जुटता है। विचार करने पर यह बात सहज ही प्रतीति में आने योग्य है। ये अज्ञान तप, संयमादि जीव को देवादि पर्याय देकर प्रायः निष्फल जाते हैं।

तथा प्रवचनसार गाथा 236 में कहा है-इस लोक में वास्तव में स्यातकार जिसका चिन्ह है ऐसे आगम पूर्वक तत्त्वार्थ श्रद्धान वाली दृष्टि से जो शून्य है, उन सबको संयम ही प्रथम तो सिद्ध नहीं होता, क्योंकि स्व-पर के विभाग के अभाव के कारण काया और कषायों के साथ एकता का अध्यवसाय करते ऐसे उन जीवों (स्वयं को) विषयों की अभिलाषा का निरोध नहीं हुआ होने के कारण षट जीवनिकाय के घाती होकर सर्वतः (सब ओर से) प्रवृत्ति करते होने से उनके सर्वतः निवृत्ति का अभाव है। अर्थात् एक तरफ से (भी) जरा भी निवृत्ति नहीं है।

भगवान आत्मा शरीर की क्रिया से भिन्न है, पुण्य से भिन्न है; जिसे वैसी भिन्नता का भान नहीं वह विषय-कषायों में ही है, उसे आत्मा का भान नहीं है। वह छह कायों के जीवों का घात कर रहा है। बाहर से भले ही कदाचित् पाँच इन्द्रियों के विषयों का संयोग न दिखता हो, छह जीवनिकाय की द्रव्य हिंसा न दिखती हो और उस प्रकार के संयोग से निवृत्ति दिखती हो; तो भी काया और कषाय के साथ एकता मानने वाले उन जीवों के वास्तव में पाँच इन्द्रियों के विषयों की अभिलाषा का निरोध नहीं हैं-हिंसा का जरा भी अभाव नहीं है और इस प्रकार उन्हें परभाव से बिल्कुल निवृत्ति नहीं है।

इस प्रकार अज्ञानी को परभाव से बिल्कुल निवृत्ति नहीं है। यद्यपि बाह्य त्यागी जीव बाहर से एकेन्द्रिय आदि की हिंसा नहीं करता, तथापि कर्म और शरीर से आत्मा भिन्न है-ऐसा भान नहीं होने से वह छह काय की हिंसा से बिल्कुल निवृत्त नहीं है।(वस्तुतः कोई जीव)पर जीव की हिंसा या अहिंसा नहीं कर सकता । राग करके वह अपने आत्मा का घात करता है-यह असंयतता है। उसके पाँच इन्द्रियों के विषयों के परिणाम नहीं छूटे हैं

और छह काय की हिंसा भी नहीं छूटी है। इसलिये वह अव्रत का करने वाला है। मैं पर की दया पाल सकता हूँ- ऐसे मिथ्याभाव करने वाले को छहकाय की हिंसा नहीं छूटी है।

तथा कोई क्रोधादिक से अपघात करते हैं। कोई पति वियोग से अग्नि में जलकर सती कहलाती है। पति के पीछे मरना धर्म मानना मिथ्यात्व है। कोई हिमालय में जाकर गल जाने को धर्म मानते हैं। पाण्डव हिमालय में गले नहीं थे, बल्कि पांचों पाण्डवों को आत्मा का भान था, वे शत्रुंजय जाकर ध्यान में रहे थे, उनमें से तीन पाण्डव मोक्ष गये हैं और दो देव हुएँ हैं। आत्मा के भान बिना एक भी भव कम नहीं होता। कोई जीव काशी में करौत लेते हैं, तथा कोई जीते जी मरण (समाधि) लेते हैं। थोड़ा जीवन बाकी रहा हो वहाँ जीवित को गाड़ देना कुधर्म हैं। अपघात तो महान पाप है। यदि शरीरादि से अनुराग घटा था तो तपश्चरणादि करना था; परन्तु मरण पाने से क्या धर्म हुआ?

पानी में पड़कर मरना अधर्म है और तीव्र मिथ्यात्व है। स्वामी रामतीर्थ ने जल समाधि ली थी, वह सब तीव्र मिथ्यात्व का भाव था। पानी में पड़ने से क्या लाभ था? उसे अच्छा मानकर अनन्तभव बढ़ाता है। अपघात करना कुधर्म है।

इस प्रकार अन्य भी कुधर्म के बहुत अंग हैं। कहाँ तक कहें? *जहाँ विषय-कषाय में अर्थात् परिणाम में तीव्रता बढ़ने पर भी धर्म मानने में आवे वह सब कुधर्म है।*

देखो! कालदोष से जैन धर्म में भी कुधर्म की प्रवृत्ति हो रही है। जैन धर्म में जो धर्म पर्व कहे हैं अज्ञानी उनमे भी विषय पोषते हैं, किन्तु संयम को नहीं आदरते। आत्मा के भान सहित स्थिरता नहीं करते और व्रतादिक नाम धराकर वहाँ अनेक प्रकार के श्रृंगार बनाते हैं। उपवास के पारणे में मेसूरपाक खावे उसे पुण्य भी नहीं हैं। तथा व्रत के दिन कुतुहल करते हैं, जुआ आदि कार्य करते हैं और विषय-कषाय बढ़ाकर महापापरूप प्रवर्तते हैं।

सनातन मार्ग में जिन प्रतिमा और उनके दर्शन-पूजन, अनादि से हैं, मुनि भी भगवान के दर्शन करते हैं और श्रावक पूजा करते हैं। वहाँ हिंसा अल्प थी परन्तु पुण्य लाभ बहुत था- इस कारण पूजनादि कार्यों का उपदेश है। परन्तु उसके बदले रात्रि में दीपक करके भगवान का नाम देना विरूद्ध बात हैं। अशुभ से बचने के लिये भगवान की भक्ति और दया, दानादि का भाव आता है। किसी को भगवान की पूजा आदि का भाव आवे वहाँ वह तीव्र कषाय घटाने के लिये था, परन्तु उस छल से पूजा-प्रभावनादि कार्यों

में रात्रि में दीपक करके हिंसारूप प्रवर्तें अथवा अयत्नाचाररूप प्रवृत्ति से हिंसादिरूप पाप तो बहुत उत्पन्न करते हैं, परन्तु स्तुति, भक्ति आदि शुभ परिणामों में नहीं प्रवर्तें अथवा थोड़ा प्रवर्तें तो वहाँ नुकसान तो बहुत और फायदा थोड़ा हुआ अथवा कुछ नहीं हुआ, सो ऐसे कार्य करने में तो बुरा ही दिखना होता हैं। भगवान की असंख्यात शाश्वत् प्रतिमायें हैं, इन्द्र उनकी पूजा-भक्ति करते हैं- वह शुभभाव हैं; परन्तु जो जीव परिणामों की मंदता नहीं करते और मात्र बाह्य क्रिया में जुड़ते हैं उन्हें तो पुण्य भी नहीं होता।

सर्वज्ञदेव किसे कहना? तथा उनका सर्वज्ञपना, उनके ज्ञान, दर्शन, चारित्र कैसे होते हैं? उनका परमौदारिक शरीर कैसा होता है? क्षुधा-तृषादि रहित होता है- इत्यादि की पहिचान नहीं की और विरूद्ध स्वरूप मानकर कुदेवादिक को मानता हैं। निर्ग्रन्थ मुनि होते हैं, उनसे विरूद्ध माने वह कुगुरू की मान्यता हैं। यहाँ तो कुधर्म किसे कहते हैं?- यह बात चल रही है।

भगवान की पूजा आदि में जरा पाप होता है, परन्तु हेतु दूसरा हैं। गाय को हरी घास डालते हैं वहाँ हरितकाय डालने पर भी गाय को घास देने का भाव शुभ हैं, मंदराग है, पुण्य है; क्योंकि वहाँ हेतु यह है कि पंचेन्द्रिय जीव को दुःख न हो और सुख होवे। इसी प्रकार सर्वज्ञ भगवान की गेर हाजरी में मूर्तिपूजा आदि करने का भाव शुभभाव है यह हेतु समझना चाहिये।

जिनमन्दिर शुभाभाव का स्थान है। प्रतिमा की भक्ति-पूजा पुण्य का स्थान है, फिर भी जिनमन्दिर में जाकर कुकथा करना अथवा शयन करना पाप का परिणाम है। अशुभभाव करके उसे पुण्य माने तो मिथ्यादृष्टि है। और दया-दानादि के भाव पुण्य है उन्हें धर्म माने तो मिथ्यादृष्टि है। तथा पुण्य को पाप मनावे वह भी मिथ्यादृष्टि है।

एक लड़का गाड़ी के नीचे कुचला जा रहा होवे और दूसरा मनुष्य हाथ खेंचकर उसे बचावे तो पाप होता है- ऐसा अज्ञानी कहता है, तो यह बात खोटी है, वह पुण्य भाव है। गौशाला आदि में घास डालने वाले की प्रशंसा करे तो पाप लगता है- यह खोटी बात है। पानी के जीव मरते हैं इसलिये प्यासे को पानी देना पाप है, तो ये खोटी बात है। अनादि के मुनि कहते हैं कि- श्रावक मन्दिर बनाता है, वह पुण्य है। इसका स्पष्टीकरण करते हैं कि वह पुण्य है, पाप नहीं तथा धर्म भी नहीं। पुण्य-पाप रहित आत्मा की समझ करना- वह धर्म है। आत्मा में पुण्य-पाप भाव होता है, उससे रहित अकषाय स्वरूप आत्मा की

समझ करना धर्म है। पुण्य अलग है, अजीव अलग है, नवतत्व अलग-अलग है- ऐसी समझ करना चाहिये। क्षुधा-तृषा वाले को रोटी और पानी देने में भी हिंसा होती है; परन्तु अनुकम्पा का भाव है। उसी प्रकार भगवान की पूजा आदि में पानी के जीवों की हिंसा होती है, परन्तु भाव शुभ का- भक्ति का है।

धर्म, पुण्य और पाप- तीनों जीव के परिणाम है। हिंसा, झूठ, चोरी के भाव पाप हैं, दया-दानादि के भाव पुण्य हैं और पुण्य-पाप रहित आत्मा की श्रद्धा- वह धर्म है । पाप को पुण्य माने, पुण्य को पाप माने, पुण्य को धर्म माने, वह विपरीत श्रद्धा है।

अज्ञानी जीव मन्दिर में बाग-बगीचा आदि बनाकर अपने विषय-कषाय को पोषता है। तथा लोभी पुरूषों को गुरू मानकर दानादि देता है, उनकी असत्य स्तुति करता है-तुम धर्म के दातार हो, केवली भगवान के समान हो, ऐसी स्तुति करता है और स्वयं को महंत मानना इत्यादि प्रकार से अपने अशुभ भाव बढ़ाता है। अशुभभाव को धर्म मानता है। उसमें क्लेश होता है इसकी उसे खबर नहीं हैं।

धर्मात्मा को शुभराग होता है, परन्तु व्रतादि का शुभराग धर्म नहीं है। जैन धर्म वीतराग भावरूप है। सम्यग्दर्शन वीतरागभाव है, सम्यग्ज्ञान वीतरागभाव है, सम्यक्चारित्र वीतरागभाव है- इस प्रकार तीनों की एकता मोक्षमार्ग है। यह आत्मा ज्ञायक है। शरीर अजीव है, पुण्य-पाप विकल्प है; उससें रहित मेरा स्वरूप ज्ञायक है। उसके भान बिना धर्म नहीं है। जो पुण्य से धर्म माने, यात्रा, भक्ति में धर्म माने वह मिथ्यादृष्टि है। दया, दानादि में धर्म माने, सच्चे गुरू को आहार देकर उससे धर्म माने वह मिथ्यात्व है। आहार दान का भाव पुण्य है। शरीर अथवा पर की क्रिया मैं कर सकता हूँ- ऐसा मानना मिथ्यात्व है। अन्य को आहार दान का भाव राग है, धर्म नहीं। मुनि को खीर देने मे धर्म होता होवे तो अनन्तभवों में कई बार दी नहीं होगी ? सच्चे मुनि को-- सुपात्र को दान देवे, मिथ्यादृष्टि देवे या समकिती देवे वह पुण्य है,उससे प्रायः जुगलिया (भोगभूमि) में जाता है और संसार में ही घूमता है।

मुनिव्रत धार अनन्तबार ग्रेवक उपजायो।
पे निज आत्मज्ञान बिना सुख लेशं न पायो।।

यह जीव अनन्तबार साधु हुआ, क्रियाकाण्ड पालन कर नौवें ग्रेवेयक तक गया, परन्तु आत्मा का भान नहीं किया। दिगम्बर सम्प्रदाय में जन्मकर मेरू पर्वत के बराबर ढेर

लग जाये इतने कमण्डलु-पीछी धारण किये, पाँच महाव्रत पालन किये, स्वर्ग गया; परन्तु वापस नरक में पड़ा; क्योंकि मन्द कषाय से धर्म मानता है वह विपरीत श्रद्धा है। तीर्थंकर को मुनिदशा में आहार देने का भाव करे वह भी पुण्य है। पुण्य सोने की बेड़ी है। पुण्य होता अवश्य है,समकिती को आहार पानी देने का, मन्दिर बनाने का, पूजा आदि का भाव होता है; परन्तु उससे धर्म नहीं है। पुण्य को धर्म मानना, पुण्य को पाप मानना-ऐसी प्रवृत्ति मात्र काल दोष से ही देखने में आती है।

इस प्रकार कुधर्म सेवन का निषेध किया।

......अब, इसमें मिथ्यात्वभाव किस प्रकार हुआ सो कहते हैं:-

तत्त्वश्रद्धान करनेमें प्रयोजनभूत तो एक यह है कि- रागादिक छोड़ना। इसी भावका नाम धर्म है। यदि रागादिक भावोंको बढ़ाकर धर्म माने, वहाँ तत्त्वश्रद्धान कैसे रहा? तथा जिन-आज्ञासें प्रतिकूल हुआ। रागादिभाव तो पाप हैं, उन्हें धर्म माना सो यह झूठा श्रद्धान हुआ; इसलिये कुधर्मके सेवनमें मिथ्यात्वभाव है।

इसप्रकार कुदेव-कुगुरू-कुशास्त्र सेवनमें मिथ्यात्वभाव की पुष्टि होती जानकर इसका निरूपण किया....।

तत्वश्रद्धान अर्थात् सात तत्व अथवा नवतत्व की श्रद्धा की बात चलती है। आत्मा ज्ञायक है, शरीर अजीव है, पुण्य-पाप भाव आस्रव है, आत्मा उसमें अटके वह बंध है, स्वभाव के अवलम्बन से वीतरागी शान्ति, आनन्द, प्रगट होता है वह संवर-निर्जरा है, धर्म है। समकिती को तीव्र और मंद कषाय होती है; परन्तु रागादि को छोड़ने का अभिप्राय है। शुभभाव हो या अशुभभाव हो, दया-दानादि के भाव हो वे भी छोड़ने योग्य हैं- ऐसा मानना चाहिये, यदि ऐसा नही माने तो तत्वश्रद्धा रहित है। साधक दशा में पुण्य का भाव आता है। दया, दान, पूजादि के पुण्य भाव आने पर भी श्रद्धा में उसे छोड़ने योग्य है- ऐसा न माने तो मिथ्यादृष्टि है। निमित्त की रूचि छोडनी चाहिये। सच्चे देव-शास्त्र-गुरू का राग, पंच महाव्रत का राग छोड़ने योग्य है। व्यवहार करूंगा तो लाभ होगा-ऐसा मानने वाले को तत्व श्रद्धा नहीं हैं। नवतत्व की श्रद्धा में आवश्यकता यह है कि शुभ-अशुभ, व्रत-अव्रत के भाव छोड़ना- यह आवश्यक है। प्रथम श्रद्धा करनी चाहियें (कि) काम-क्रोध, व्रत-अव्रत आदि छोड़ने योग्य है, चिदानन्द आत्मा आदर करने योग्य है-इसका नाम

धर्म है। दया, दान, व्रत, पूजा के परिणाम धर्म नहीं है। यहाँ पण्डितजी ने ही शब्द का प्रयोग किया है, वह बताता है कि एक ही धर्म है अन्य धर्म नहीं। राग की रूचि छूटकर सम्यग्दर्शन होना धर्म है। पुण्य-पाप के परिणाम छूटकर अकषाय परिणाम होवे वह धर्म है।

सामायिकव्रत सम्यग्दर्शन के बाद ही होता हैं। अज्ञानी के सामायिक नहीं होती। समकित के बिना 'मिच्छामी दुक्कड़म्' कैसा? आत्मा कौन है? जड़ की पर्याय जड़ से होती है, पुण्य-पाप विकार है- इसकी खबर बिना क्या काम का? पुण्य-पाप छोड़ने योग्य हैं- ऐसी श्रद्धा करे तो सम्यक्त्वरूप धर्म है और जितने पुण्य-पाप छूटे उतना चारित्र धर्म है।

जो तीव्र कषाय को पुण्य मानता है और पुण्य परिणाम को सामायिक, प्रोषध, संवर और निर्जरा मानता है वह तत्व श्रद्धा से विपरीत है। पुण्य-पाप रहित आत्मा की श्रद्धा बिना सामायिक नहीं होती। इसलिये शास्त्र-स्वध्याय करना चाहिये। नवतत्वों की समझ करना चाहिये। अज्ञान पूर्वक सामायिक में मिथ्यात्व दृढ़ होता है, जो जिन आज्ञा से प्रतिकूल हुआ। रागादि भाव तो होते हैं उन्हें धर्म माना-यही मिथ्याश्रद्धान हुआ। इसलिये कुधर्म सेवन में मिथ्यात्व भाव है। अनन्त केवली- मुनि जो कहते आये हैं यही हम कहते हैं।

इस प्रकार कुदेव-कुशास्त्र-कुगुरू में मिथ्यात्वभाव की पुष्टि होती जानकर यहाँ उनका विशेष वर्णन किया है।

श्री अष्टपाहुड (मोक्षपाहुड़) गाथा 92 में कहा है कि-

......कुच्छिय देवं धम्मं कुच्छियलिंग च बंदए जो दु।
लज्जाभयगारव दो मिच्छादिट्ठी हवें सो हू।।

अर्थः- यदि लज्जासे, भयसे, व बड़ाईसे भी कुत्सित् देवको, कुत्सित् धर्मको व कुत्सित् लिंगको वन्दता है तो मिथ्यादृष्टि होता है।

इसलिये जो मिथ्यात्वका त्याग करना चाहे; वह पहले कुदेव, कुगुरू, कुधर्मका त्यागी हो। सम्यक्त्वके पच्चीस मलोंके त्यागमें भी अमूढ़दृष्टिमें व षडायतनमें इन्हींका त्याग कराया है; इसलिये इनका अवश्य त्याग करना।

तथा कुदेवादिकके सेवनसे जो मिथ्यात्वभाव होता है सो वह हिंसादिक

पापोंसे बड़ा पाप है। इसके फलसे निगोद, नरकादि पर्यायें पायी जाती हैं। वहाँ अनन्तकालपर्यन्त महा संकट पाया जाता है, सम्यग्ज्ञानकी प्राप्ति महा दुर्लभ हो जाती है...।

जो कोई लज्जा, भय और गौरव से भी कुदेव-कुगुरू-कुधर्म को वंदन करता है वह मिथ्यादृष्टि है। जिनका बाह्य-अभ्यंतर निर्ग्रन्थ लिंग हो वे मुनि हैं। (उनको) राग का आश्रय छूटकर स्वभाव का आश्रय वर्तता है, राग होने पर भी उसका आदर नहीं है। जो ऐसे गुरू को माने नहीं और कुलिंगियों को माने वह मिथ्यादृष्टि है। जिसको मिथ्यात्व का त्याग करना होवे उन्हें प्रथम कुदेव-कुगुरू-कुधर्म का तो पहले से ही त्यागी होना, उसके बिना धर्म नहीं परिणमता।

सम्यक्त्व के पच्चीस मल दोषों के त्याग में भी सम्यग्दृष्टि को अमूढ़दृष्टि कहा है। समकिती को मूढ़ता नहीं होती। कुदेव-कुगुरू-कुधर्म और उनके मानने वाले-ऐसे षट अनायतनों को छोड़े बिना गृहीत मिथ्यात्व नहीं छूटता। इसलिये इनका अवश्य त्याग करना।

तथा हिंसा, झूठ, चोरी आदि का पाप चारित्र का दोष है जबकि कुदेवादिक की (मान्यतारूप) विपरीत श्रद्धा का दोष है। इसलिये वह महान पाप है, क्योंकि उसके फल में निगोद-नरकादि पर्यायो की प्राप्ति होती हैं। साधु नहीं होने पर भी साधु मानना, मनाना- वह मिथ्यात्व है। मिथ्यात्व का फल निगोद है। बीच में एक दो भव स्वर्ग में जायें परन्तु (फिर) मिथ्यादृष्टि निगोद में जाता है और समकिती एक-दो भव करके मोक्ष में जाता है। कंदमूल के एक छोटे से टुकड़े में अनन्त जीव हैं, उन्हें सातवें नरक की अपेक्षा भी अनन्त गुना दुःख हैं। उनके ज्ञान, दर्शन, वीर्य, आनन्द की पर्याय अत्यधिक हीन हो जाती है वह दुःख है। वे वहाँ अनन्त काल तक महासंकट पाते हैं, उनको सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति भी महादुर्लभ हैं।

.......यही " षट्पाहुड़" में कहा है

कुच्छियधम्मम्मि रओ कुच्छियपासंडिभत्तिसंजुत्तो।

कुच्छियतवं कुणंतो कुच्छियगईभायणो होइ।। 140 ।। (भावपाहुड़)

अर्थः- जो कुत्सित धर्ममें रत है, कुत्सित पाखण्डियोंकी भक्तिसे संयुक्त है, कुत्सित तपको करता है; वह जीव कुत्सित अर्थात् खोटी गतिको भोगनेवाला होता है।

सो हे भव्यों! किंचित्‌मात्र लोभसे व भयसे कुदेवादिकका सेवन करके जिससे अनन्तकाल पर्यन्त महादुःख सहना होता है ऐसा मिथ्यात्वभाव करना योग्य नहीं है.....।

आत्मा चिदानन्द है, पुण्य-पाप विकार है, देह की क्रिया अजीव की है, फिर भी जो जड़ की क्रिया में धर्म मानता है तथा कुलिगिंयों की भक्ति से संयुक्त है और वीतराग की आज्ञा के विरूद्ध खोटे तप करता है वह जीव परम्परा से निगोद में जायेंगा (क्योंकि वह अपने अभिप्राय में) अनन्त केवलियो का अनादर करता है।

अतः हे भव्य ! किंचित् मात्र लोभ से अथवा भय से भी इन कुदेवादिक का सेवन मत कर। दुनिया क्या कहती हैं उसका भय मत रख। सच्चे देव को छोड़कर खोटे देव को मत मान; सच्चे धर्म को छोड़कर खोटे धर्म को मत मान; क्योंकि खोटे को मानने से दुःख की प्राप्ति होगी और अनंत काल तक महादुःख सहन करना पड़ेगा। इसलिये ऐसा मिथ्यात्वभाव करना योग्य नहीं हैं।

......जिनधर्ममें यह तो आम्नाय है कि पहले बड़ा पाप छुड़ाकार फिर छोटा पाप छुड़ाया है; इसलिये इस मिथ्यात्वको सप्तव्यसनादिकसे भी बड़ा पाप जानकर पहले छुड़ाया है । इसलिये जो पापके फलसे डरते हैं, अपने आत्माको दुःखसमुद्रमें नहीं डुबाना चाहते, वे जीव इस मिथ्यात्वको अवश्य छोड़ो; निन्दा-प्रशंसादिकके विचारसे शिथिल होना योग्य नहीं है :-

निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु
लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम् ।
अद्यैव वास्तु मरणं तु युगान्तरे वा
न्यायात्पथः प्रवचिलन्ति पदं न धीराः ।। 84 ।। (नीतिशतक)

कोई निन्दा करता है तो निन्दा करो, स्तुति करता है तो स्तुति करो, लक्ष्मी आओ व जहाँ -तहाँ जाओ, तथा अभी मरण होओ व युगान्तरमें होओ; परन्तु नीतिमें निपुण पुरूष न्यायमार्गसे एक डग भी चलित नहीं होते।

ऐसा न्याय विचारकर निन्दा-प्रशंसादिकके भयसे, लोभादिकसे, अन्यायरूप मिथ्यात्व प्रवृत्ति करना युक्त नहीं है......।

देवाधिदेव की रीति ऐसी है कि पहले मिथ्यात्व छोड़ना, परन्तु मिथ्यात्व छोड़े बिना राग घटाने का उपदेश नहीं होता। मिथ्यात्व का बड़ा पाप छुड़ाने के पश्चात् ही छोटा पाप छुड़ाया जाता है। परस्त्रीगमन करना, मांस भक्षण करना, शिकार करना, वैश्यागमन करना इत्यादि पापों की अपेक्षा कुदेव-कुगुरू-कुधर्म को मानने में बहुत पाप है।

जिसने किसी दिन इस भव में या पूर्व में सच्ची बात न सुनी होवे फिर भी समकित पाकर केवल पावे, उसे अगोख केवली कहते हैं-यह बात खोटी है। एक बार धर्मात्मा, मुनि अथवा केवली के पास से सुना नहीं हो उसको समकित नहीं होता। इस भव में न सुना हो किन्तु पूर्व में सुना हो तो (भी) समकित पाकर केवलज्ञान पा सकता है। इसलिये प्रथम मिथ्यात्व का पाप छोडना चाहिये। शिकार करने के, मॉंस भक्षण के और परस्त्री गमन आदि के पाप की अपेक्षा भी कुदेव-कुगुरू-कुशास्त्र की श्रद्धा बड़ा पाप हैं। जिनकी श्रद्धा-आचरण शास्त्र अनुसार नहीं हैं उनको माननें से मिथ्यात्व पुष्ट होता है।

इसलिये जो पाप के फल से डरते होवे तथा अपने आत्मा को संसार समुद्र में डुबाना न चाहते होवे वे जीव इस मिथ्यात्वभाव को अवश्य छोड़ो ! निन्दा-प्रशंसादि के विचार से भी शिथिल होना योग्य नही हैं। इतना काल समाज में बिताया अब क्या करना ?-ऐसा डर रखकर शिथिल मत होओ! विपरीत प्ररूपणा मत करो! लोगो के डर से विपरीत होना योग्य नही हैं।

मिथ्यादृष्टि को निमित्त के साथ मैत्री वर्तती है-इस कारण उसका आत्म विवेक शिथिल हो गया है अर्थात् आत्मविवेक नाश हुआ ऐसा है। निमित्त से लाभ बुद्धि वाले को विपरीत श्रद्धा-ज्ञान है, इसलियें निन्दा के भय से विपरीत होना योग्य नही हैं। नीति शास्त्र में भी कहा है कि-कोई निन्दा करता है तो निन्दा करो, स्तुति करता हैं तो स्तुति करो, लक्ष्मी आओ व जहाँ-तहाँ जाओ, तथा अभी मरण होओ या युगान्तर में होओ; परन्तु नीति में निपुण पुरूष न्यायमार्ग से एक डग भी चलित नही होते। यह नीति का श्लोक है तो फिर धर्म नीति की क्या बात ? दुनिया में प्रतिष्ठा जाये, चाहे जो हो,उसे छोडने से ही छुटकारा है। न्याय विचारकर निन्दा-प्रशंसा के भय से व लोभादिक से यानी कि सम्प्रदाय में रहूँगा तो प्रतिष्ठा रहेगी, शिष्य होगें-ऐसे लोभ से भी अन्यायरूप मिथ्या प्रवृत्ति करना योग्य नहीं है।

........अहो! देव-गुरू-धर्म तो सर्वोत्कृष्ट पदार्थ हैं, इनके आधारसे धर्म है। इनमें शिथिलता रखनेसे अन्य धर्म किस प्रकार होगा? इसलिये बहुत कहनेसे क्या? सर्वथा प्रकारसे कुदेव-कुगुरू-कुधर्मका त्यागी होना योग्य है।

कुदेवादिकका त्याग न करनेसे मिथ्यात्वभाव बहुत पुष्ट होता है और वर्तमानमें यहाँ इनकी प्रवृत्ति विशेष पायी जाती है; इसलिये इनका निषेधरूप निरूपण किया है। उसे जानकर मिथ्यात्वभाव छोड़कर अपना कल्याण करो......।

अहो! देव-गुरू धर्म तो सर्वोत्कृष्ट पदार्थ हैं। उनके आधार से तो धर्म है। उनमें शिथिलता रखने से धर्म किस प्रकार होगा? अधिक क्या कहें? सर्वथा प्रकार से कुदेव-कुगुरू-कुधर्म का त्यागी होना योग्य है। इसलिये मिथ्यात्वभाव छोडकर अपना कल्याण करो।

इसप्रकार पूज्य आचार्यकल्प पण्डितप्रवर टोडरमलजी द्वारा रचित
मोक्षमार्गप्रकाशक के छठवें
''कुदेव, कुगुरू, और कुधर्म का प्रतिषेध''
अधिकार पर दिनांक ६-१२-५४ से १६-१२-५४ तक हुए
आध्यात्मिक सत्पुरूष पूज्य श्री कानजीस्वामी के मार्मिक प्रवचनों का
हिन्दी अनुवाद पूर्ण हुआ।

श्री. दि. जैन सीमन्धर जिनालय

वीतराग-विज्ञान स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट

वीतराग-विज्ञान भवन पुरानी मंडी अजमेर . ३०५००१